॥ ओ३म् ॥

बृहत्तर भारत

(सचित्र)

चन्द्रगुप्त वेदालंकार

प्रकाशक—
मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी
अगस्त १९३९

अजिल्द ४)　　　　सजिल्द ४॥।)

प्रकाशक—
सत्यव्रत मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल विश्वविद्यालय
गुरुकुल काँगड़ी

प्रथम संस्करण
भाद्रपद, १९९६

मुद्रक—
चौधरी हुलासराय
गुरुकुल मुद्रणालय
गुरुकुल काँगड़ी

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

[मनु-२-१०]

हो स्वीकार नितान्त तुच्छ भी ...

मनुजजाति के उस इतिहास
की अति उज्वल सुभग उषा में
स्वर्णरश्मियों के उल्लास,
नन्दन में विकसित हरिचन्दन
की कलिका के सुखद सुवास,
विश्वतापहारी घनमाला के
तरलित शीतल उच्छ्वास-
के समान जगती के कोने
कोने में करके संचार
आत्मत्याग की जिन प्रतिभाओं
ने सह सह कर कष्ट अपार,
देश देश में सत्य, अहिंसा,
सेवाव्रत का किया प्रसार
उन्हीं अमर सन्देशवाहकों-
के चरणों में—

यह उपहार ॥

चित्र सूची

मानचित्र सूची

परिचय

जयपुरराज्य के शेखावाटी प्रान्त में खेतड़ी राज्य है। वहां के राजा श्री अजीतसिंह जी बहादुर बड़े तपस्वी व विद्याप्रेमी हुए हैं। गणित शास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वे दक्ष और गुण-ग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहिले और पीछे स्वामी विवेकानन्द उनके यहां महीनों रहे। स्वामी जी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंह जी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंह जी ही में दिखाई दी।

राजा श्री अजीतसिंह जी की रानी आउआ (मारवाड़) चांपावत जी के गर्भ से तीन संतति हुई—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूर्यकुँवरि थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्री नाहरसिंह जी के ज्येष्ठ चिरञ्जीव और युवराज राजकुमार श्री उम्मेदसिंह जी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चांदकुँवरि का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराज कुमार श्री मानसिंह जी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंह जी थे, जो राजा श्री अजीतसिंह जी और रानी चांपावत जी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।*

इन तीनों के शुभचिन्तकों के लिए तीनों की स्मृति सञ्चित कर्मों के परिणाम से दुःखमय हुई। जयसिंह जी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। और सारी प्रजा, सब शुभचिन्तक, सम्बन्धी,

मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आंच से जल ही रहा रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्री सूर्यकुँवरि बाई जी को एकमात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरान्त हुआ। श्री चांदकुँवरि बाई जी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एक-मात्र चिरञ्जीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंह जी से मातामह राजा श्री अजीतसिंह जी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारी जी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्री उम्मेदसिंह जी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किन्तु उनके वियोग के पीछे उनके इच्छानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरञ्जीव वंशांकुर श्री सुदर्शनदेव जी विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्य्यकुमारी जी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिन्दी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिन्दी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुन्दर होते थे कि देखने वाले चमत्कृत रह जाते। स्वर्गवास के कुछ समय पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानन्द के सब ग्रन्थों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद मैं छपवाऊंगी। बाल्यकाल से ही स्वामी जी के लेखों और अध्यात्म—विशेषतः अद्वैत वेदान्त की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्य-क्रम बांधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस सम्बन्ध में हिन्दी में उत्तमोत्तम ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए एक एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्था-पत्र बनते बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

परिचय

महाराजकुमार उम्मेदसिंह जी ने श्रीमती की अन्तिम कामना के अनुसार:—

१—२०,०००) बीस हज़ार रुपये देकर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के द्वारा 'सूर्यकुमारी ग्रन्थमाला' के प्रकाशन की व्यवस्था की।

२—३०,०००) तीस हज़ार रुपये के सूद से गुरुकुल विश्व-विद्यालय कांगड़ी में सूर्यकुमारी आर्यभाषा गद्दी (चेअर) की स्थापना की।

३—५,०००) पांच हज़ार रुपये से उपरोक्त गुरुकुल में चेअर के साथ ही 'सूर्यकुमारी-निधि' की स्थापना कर 'सूर्यकुमारी-ग्रन्थावलि' के प्रकाशन की व्यवस्था की।

४—५,०००) पांच हज़ार रुपये दर्बार हाईस्कूल शाहपुरा में 'सूर्यकुमारी-विज्ञान-भवन' के लिये प्रदान किये।

इस 'सूर्यकुमारी-ग्रन्थावलि' में आर्यभाषा के उत्तमोत्तम ग्रन्थ छापे जायेंगे। और इसकी बिक्री की आय इसी निधि में जमा होती रहेगी, इस प्रकार श्रीमती सूर्यकुमारी जी तथा श्रीमहाराज कुमार उम्मेदसिंह जी के पुण्य तथा यश की निरन्तर वृद्धि होगी और हिन्दी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान लाभ होगा।

प्रस्तावना

लेखक—श्री बहादुर चन्द्र जी छाबड़ा एम. ए., डी. लिट् (हालैण्ड)

'बृहत्तर भारत' का इतिहास प्राचीनभारत के चौमुखे बृहत्त्व का द्योतक है। आकारमात्र के बृहत्व का नहीं, अपितु उस समृद्ध अवस्था का जिस में पुरुष की विकासात्मक प्रवृत्तियां स्वच्छन्द और अव्याहत क्रीडा करती है, जहां प्रेम और धैर्य उत्साह और साहस, उदारता और सौमनस्य, सामर्थ्य और पराक्रम प्रभृति गुण साधारणजनता के स्वाभाविक भूषण होते हैं। इन्हीं के कारण धर्म का प्रचार, विद्या की उन्नति, राज्य का विस्तार, समाज की प्रतिष्ठा, व्यापार का उत्कर्ष, नीति की व्यवस्था, संस्कृति का प्रसार इत्यादि अनेक उदात्त कार्य संपादित होते हैं।

हर्ष का विषय है कि हम भारतीयों में अपने पूर्वजों के चरित्रों को जानने की इच्छा प्रतिदिन बढ़ रही है। उनके वास्तविक इतिहास को खोज निकालने के लिये हज़ारों विद्याप्रेमी तत्पर हैं और इस सत्कार्य में अप्रमेय सिद्धि प्राप्त हो रही है जिस के फल स्वरूप कई एक परम्परा-प्रचलित कथाएं निर्मूल और भ्रमात्मक सिद्ध हो रही हैं और तद्विपरीत कई ऐसी तात्त्विक घटनाओं का परिचय मिल रहा है जिनका कुछ काल पहिले हम में से किसी को भी कुछ पता नहीं था। इस बात का स्पष्टीकरण प्रस्तुत 'बृहत्तर भारत' के एक पारायण से स्वतः हो जायगा।

इस में सन्देह नहीं कि वर्त्तमान में भारत के पुरातन इतिहास का वैज्ञानिक रीति से जो अनुशीलन हो रहा है उसका सूत्रपात प्रायः विदेशी—विशेषतः युरोपियन—विद्वानों द्वारा ही हुआ है,

किञ्च, इस में जो सफलता हुई है उस का श्रेय भी बहुलांशेन उन्हीं को है। आज भी देशान्तरों की अनेक संस्थाओं और यूनिवर्सिटियों में प्राचीन भारत की संस्कृति के सुविस्तृत इतिहास का अनुसन्धान जिस तन्मयता से हो रहा है वह सुतरां श्लाघनीय है।

खेद है कि भारतीय जनता उन विद्वानों के किये परिश्रम का पूर्णरूप से न तो आदर कर सकती है न उपयोग, क्यों कि उनके निबन्ध और ग्रन्थ उन की अपनी अपनी भाषाओं में लिखे जाते हैं। जैसे डच, जर्मन, फ्रैंच आदि, जिन्हें भारत में कोई विरला ही जानता है। इंग्लिश भी हमारे लिये विदेशी भाषा है सही, तो भी इस की गणना यहां नहीं की गई, क्यों कि राजभाषा होने के कारण इसका भारत के शिक्षित समाज में पर्याप्त प्रचार है। इस में जो पुस्तकें लिखी जाती हैं, उन के समझने समझाने अथवा हिन्दी में अनुवाद करने में इतनी कठिनता नहीं होती।

आज तक 'बृहत्तर भारत' संबन्धी जितने भी निबन्ध अथवा ग्रन्थ लिखे गये हैं वे प्रायः डच और फ्रैंच भाषाओं में हैं। यहां यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'बृहत्तर भारत' से हमारा अभिप्राय भारतेतर उन देशों और द्वीपों से है जहां भारतीय, अथवा यूं कहो कि आर्य सभ्यता और संस्कृति का प्रचार प्राचीन काल में शताब्दियों तक होता रहा है और जहां इस व्यतिकर के चिह्न और प्रमाण आज भी प्रचुर संख्या में विद्यमान हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन ऐसे देशों और द्वीपों का वर्णन किया गया है वे हैं-लङ्का, खोतन, चीन, कोरिया, जापान, तिब्बत, अरब, कम्बुज, चम्पा, स्याम और पूर्वीय द्वीप-समूह। इस द्वीप समूह में भी मुख्यतः मलाया प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा, बालि, बोर्नियो आदि का सन्निवेश किया गया है।

कम्बुज, चम्पा, स्याम और पूर्वीय द्वीप समूह के प्राचीन इतिहास की ओर भारतीय विद्वानों का ध्यान पिछले दस सालों से विशेषतः आकृष्ट हुआ है। फलतः तत्संबन्धी कई एक पुस्तक और लेख इंग्लिश भाषा में प्रकाशित हुए हैं जिन का प्रधान आधार डच और फ्रैंच ग्रन्थ ही हैं।

हिन्दी में अभी तक उक्त विषय पर कुछ इने गिने लेख ही लिखे गये हैं, कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं लिखा गया। हिन्दी का साहित्य आज दिन दुगुनी और रात चौगुनी उन्नति कर रहा है। उस में कोई शृङ्खलाबद्ध इतिहास न होना एक भारी त्रुटि थी। सन्तोष का विषय है कि प्रकृत '**बृहत्तर भारत**' नामक ग्रन्थ द्वारा आज उस त्रुटि की पूर्ति हुई। पण्डित चन्द्रगुप्त वेदालङ्कार की यह कृति सर्वथा अभिनन्दनीय और प्रशंसनीय है। इतने बृहत विषय का यूं एक ग्रन्थ में संक्षिप्त और सारवत् प्रतिपादन करना निःसन्देह असाधारण योग्यता का परिचायक है।

ग्रन्थ के जिन जिन अंशों को मैंने पढ़ा है उन में एक बात मैंने यह पाई है कि लेखक ने विवादात्मक प्रश्नों पर अपनी ओर से से अधिक ऊहापोह नहीं किया, होना भी ऐसा ही चाहिए था। प्रकृत ग्रन्थ में वर्णित विषयों का आधार अन्यान्य भाषाओं के ग्रन्थ हैं और लेखक का मुख्य उद्देश्य है हिन्दी पाठकों को उन इतिवृत्तों का परिचय कराना जिनका ज्ञान तत्तद् विद्वानों की आज तक की खोज के फल स्वरूप प्राप्त हुआ है। उक्त उद्देश्य का निर्वाह उत्तमता से हुआ है।

आगामी अनुसन्धान से कई विषयों में हेरफेर होना अनिवार्य है, परन्तु इतिहास की जो प्रधान रूपरेखा यहां खींची गई है वह ज्यूं की त्यूं बनी रहेगी। इस दृष्टि से भविष्य में भी यह ग्रन्थ वैसा ही उपयोगी बना रहेगा जैसा वर्त्तमान में है। विविध चित्र, नक्शे और सारिणियां जोड़ कर लेखक ने ग्रन्थ की उपयोगिता और भी बढ़ा दी है। विदेशी संज्ञाओं के तलफ़्फ़ुज़ (उच्चारण) नागरी में ही दिये गये हैं, यदि रोमन लिपि में भी दे दिये जाते अथवा उनकी एक पृथक् सूची दे दी जाती तो पाठकों के लिये अन्यान्य ग्रन्थों और नक्शों में उनकी जानकारी सुगम हो जाती।

ग्रन्थ में वर्णित किसी एक घटना को लेकर उस पर टीका टिप्पणी करना तो यहां निष्प्रयोजन और पिष्टपेषणवत् होगा, हां इतना संकेत कर देना असंगत न होगा कि देशान्तरों और द्वीपान्तरों में आर्य सभ्यता और संस्कृति का जो प्रचार हुआ है, उस में बहुत सा हाथ

बौद्धों का है। जिस बुद्ध भगवान् के नाते भारत देशान्तरों और द्वीपान्तरों में ख्यात हुआ उसी के मत की यहां इतनी अवहेलना हुई कि भारत में उसका नामलेवा कोई नहीं रहा। यह घटना उतनी ही विलक्षण है जितनी कलंकास्पद। वह पुरातन विशालकाय अश्वत्थ आज भी खड़ा है। उसका मूल स्कन्ध जीर्ण शीर्ण और खोखला पड़ा है। उस की सुदूर विस्तृत शाखाएं हैं और जटाएं जड़ें पकड़ कर स्वतन्त्र वृक्ष बन गई हैं। वे हरी भरी हैं और नाना लता गुल्मों से आच्छन्न हैं।

आधुनिक ऐतिहासिक अध्ययन का सुपारिपाक यह हुआ है कि बौद्धों की महिमा का भारत में पुनरुत्थान हो रहा है और बौद्ध सिद्धान्तों के प्रति नवीन श्रद्धा पैदा हो रही है। प्रस्तुत पुस्तक भी इस बात का समर्थन करेगी कि भारत भगवान् बुद्ध का कितना आभारी है

ऊटाकमण्ड (नीलगिरि)
ता० २५ । ८ । १९३७

बहादुरचन्द्र

प्राक्कथन

इतिहास का अध्ययन करते हुए जब कभी मैं यह पढ़ता था कि मिश्र के भी कोई दिन थे, ग्रीस की भी कभी प्रतिष्ठा थी, रोम का सितारा भी कभी चढ़ा था, अरब की मरुभूमि ने भी विश्व में कभी, हलचल मचाई थी, तो मैं सोचता था कि विश्व के विशाल पिरामिड अत्युन्नत सिंहमूर्त्तियां तथा संचित ममियां निःसन्देह आज भी यह प्रदर्शित कर रही हैं कि मिश्र का भी स्वर्णीय युग था। मिश्र के विविध राजवंशों ने चार सहस्र वर्षों तक शासन किया, यह भी मुझे ज्ञात हुआ। टॉल्मी के नेतृत्त्व में सिकन्दरिया के विद्याकेन्द्र में विश्व के महान् सत्य ढूंढे गये, और उनका संग्रह किया गया। संसार की सभ्यता को मिश्र ने भी कुछ दिया है, यह मैंने अनुभव किया।

एक दिन संसार की आंखें ग्रीस पर लगीं थी। बड़े बड़े पर्शियन सम्राट्—साईरस, जरक्सीज़ और डेरियस अपने लाखों-अनुयायियों के साथ एथेन्स पर चढ़े चले आते थे। प्रतीत होता है कि ग्रीस में कोई छिपा रत्न था, जिसे पाने के लिये ये यत्न हो रहे थे, किन्तु जो मिल नहीं रहा था। ग्रीस का भी विस्तार हुआ। एशिया, योरुप और अफ्रीका—तीनों महाद्वीपों में ग्रीस ने अपना राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रसार किया। ग्रीस के गर्भ से वह सिकन्दर भी जन्मा-जो सीज़र और नैपोलियन के लिये आदर्श बना रहा। बड़े बड़े साम्राज्यों के मुकुट उसके पैरों में लोटते रहे। सैल्युकस और मीनान्डर भारत में भी पैर जमाने का प्रयत्न करते रहे। पर ग्रीस की ओर इन सब से अधिक ध्यान खींचने वाली वस्तु कोई और ही थी। वह थी सॉक्रेटीज़, प्लेटो और एँरिस्टोटल की त्रिमूर्त्ति जिस की उपासना किये बिना

संसार के सत्यशोधक लोग सन्तोप नहीं प्राप्त करते । सम्पूर्ण पाश्चात्य-जगत्, विगत बीस शताब्दियों से जिन विज्ञानों को ढूंढने का प्रयत्न कर रहा है उन के बीज इस त्रिमूर्त्ति के विचारों में कहीं न कहीं मिल ही जाते हैं। जब सारा योरोप अन्धकार और अज्ञान की गाढ़निद्रा में निमग्न था तब यदि कहीं ज्ञान की ज्योति जगमगा रही थी, तो वह ग्रीस ही था। कहीं सुकरात वार्तालाप द्वारा लोगों के मिथ्याविश्वासों को हटा रहा था। कहीं प्लेटो अपने काल्पनिक जगत् में ऊंची उड़ानें ले रहा था और कहीं अरस्तू विविध सत्यों का अन्वेपण करने में तल्लीन था। ग्रीस के अमर विचारकों को संसार भुलाये भी नहीं भूल सकता, यह मैंने स्पष्टतया अनुभव किया।

रोम के इतिहास में मैंने पढ़ा कि सीज़र आया, उसने देखा और उसने जीता। सीजर ने सचमुच जीता था। इंग्लैण्ड से पार्थिआ तक जीत कर, तथा कार्थेज को मलियामेट कर भूमध्य-सागर को 'रोमन झील' बनाने वाले रोमन साम्राज्य का भी मैंने अध्ययन किया। डेढ़ सहस्रवर्ष तक सारे ईसाई-संसार में रोमनचर्च और लैटिन भापा का एकछत्र आधिपत्य रहा। पोप के 'बुल' ईश्वरीय विधान समझे जाते रहे। रोम के पोप अपने हाथों से बड़े बड़े सम्राटों को अभिषिक्त करते रहे। कला, साहित्य न्याय, व्यवस्था और शासन योरुप ने रोम से ही सीखे। रोम के दिन व्यतीत हो चुकने पर भी इस का धर्म, इसकी भाषा और इसके नियम संसार के विभिन्न देशों को प्रभावित करते हुए दिखाई दे रहे हैं। ईसा के सूली पर लटकने के पश्चात् सिरों को मशाल बना कर, अंगुलियों को दीपशिखा बना कर, तथा देहों को लकड़ी की तरह यों भट्ठियों में फंकवाकर, अपने गुरु के 'स्वर्गीय राज्य और विश्वभ्रातृत्त्व' के सन्देश को यदि संसार की दुर्गम घाटियों में, निर्जन वनों में असभ्य जातियों में, कुष्टादि व्याधिपीड़ित जनसमूहों में, समाज के सर्वथा परित्यक्त व्यक्तियों में निःस्वार्थ और अनवरत सेवा के द्वारा, जखमों और फोड़ों की पीप को चूस कर, सम्पूर्ण आयु अपने सम्बन्धियों का मुंह तक देखे बिना व्यतीत कर, यदि किसी ने पहुंचाने का प्रयत्न

किया है, तो उसका सेहरा रोमन चर्च के, उस से प्रभावित जैसुअट लोगों के और उनका अनुसरण करने वाले अन्य प्राचीन ईसाई-प्रचारकों के मस्तक पर ही बँधेगा। रोम आज भी जीवित है, इस की संस्कृति में आज भी प्राण है, यह मैंने खूब अच्छी तरह अनुभव किया।

दासों को मुक्ति दिलाने वाले, एकेश्वर की पूजा सिखाने वाले, साम्यवाद का क्रियात्मक पाठ पढ़ाने वाले, फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति से शताब्दियों पूर्व समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृभाव का मधुर सन्देश सुनाने वाले मुहम्मद का जीवनचरित भी मैंने सुना। सिंध से स्पेन तक इस्लाम का विशाल साम्राज्य भी मैंने मानचित्रों में देखा। गणित, ज्योतिष, ग्रीक साहित्य, हिकमत तथा विज्ञान का पाठ पश्चिमीय योरुप को सर्वप्रथम अरबों ने पढ़ाया, यह भी मुझे ज्ञात हुआ। कैरो, कार्डोवा और अल अज़हर के विश्वविद्यालय आज भी अरब संस्कृति का स्मरण कराते हैं, यह भी मैंने जाना। योरुप और भारत के बीच सहस्रों वर्षों तक अरब संयोजक शृङ्खला बना रहा, इतिहास के अध्ययन ने मुझे यह भी बताया।

इनके अतिरिक्त विश्व इतिहास का अध्ययन करते हुए जब मैं संसार के राष्ट्रों पर विचार करता था तो चीन में कन्फ्यूशस और लुत्ज़े, पर्शिया में जरथुस्त्र और पैलस्टाईन में मूसा तथा ईसा का मुझे ध्यान आता था। फ्रांस का नाम लेते ही रूसो और वाल्टेयर की प्रतिमा मेरी आंखों के सामने नाचने लगती थी। जर्मनी के नाम से लूथर और मार्क्स स्मरण हो आते थे। रूस की याद आते ही टाल-स्टाय और लेनिन का नाम कानों में गजने लगता था, और जब कभी मैं अंग्रेजों के विषय में सोचता था तो शेक्सपीयर और बेकन, तथा अमेरिका पर ध्यान जाते ही इमर्सन और लिंकन मेरे मन में हठात् स्थान बना लेते थे। जब कभी मैं संसार का मानचित्र उठाता था तो मुझे दिखाई देता था कि अंग्रेजों, फ्रांसीसियों और रूसियों के आज बड़े बड़े साम्राज्य हैं। अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, एशिया का पर्याप्त भाग तथा उत्तरीय और दक्षिणीय अमेरिका योरुपियन लोगों के

आधीन हो चुके हैं। मैं यह भी सुनता था कि अंग्रेजों जितना बिशाल साम्राज्य इस भूतल पर किसी मानवीय नेत्र ने कभी नहीं देखा। इन के राज्य में शताब्दियों से सूर्यास्त नहीं हुआ। जब कभी मैं पाश्चात्य देशों के विपय में अध्ययन करता था, तो यह ध्वनि मुझे स्पष्टतया सुनाई देती थी कि गोरी जातियां काली जातियों पर शासन करने के लिये पैदा हुई हैं। वे परमात्मा की ओर से भेजे हुए दूत हैं। वे शासन करते हैं इस लिये ताकि अमेरिका के 'रैड इन्डियन्स' अफ्रीका के 'नीग्रो' न्यूजीलैंड के 'माओरी' और एशिया की पिछड़ी हुई जातियों को सभ्य बनाया जा सके। उन्हें सुसंस्कृत और सुशिक्षित किया जा सके। वे कहते हैं कि हमने भारत की सामाजिक कुरीतियां दूर की, अराजकता मिटाई, तथा विज्ञान के आधुनिक चमत्कारों से देश और काल पर विजय पाई है। हम यदि आज भारत को नहीं छोड़ते तो केवल भारत के भले के लिये, इसे पूर्ण सभ्य बनाने के लिये, इसे स्वतंत्रता सम्भाल सकने के योग्य बनाने के लिये। राष्ट्रसंघ पैलस्टाईन, सीरिया, ईराक आदि को आदिष्ट राज्य इस लिये बनाता है कि इन्हें सभ्य बनाया जा सके। यही विचार हमारे देश के नवयुवकों को महाविद्यालयों में पढ़ाये जाते हैं। इन्हें पढ़ कर वे भी समझने लगते हैं कि भारत गरम देश होने से अधिक असभ्य और पिछड़ा हुआ है। फूट यहां का प्रसिद्ध मेवा है। उत्तर की ओर से आने वाले विदेशियों से सदा कुचला जाता रहा है। सैनिक-संगठन, शासनव्यवस्था, स्वतंत्रता, लोकतंत्र आदि प्रवृत्तियां तो भारत भूमि में उपज ही नहीं सकती हैं। यहां तो सदा से अराजकता और निरङ्कुशता का ही अक्षुण्ण अधिकार रहा है। यहां के निवासी तो केवल आध्यात्मिक चिन्तन में लगे रहे। वे यही सोचते रहे कि संसार सत्य है वा असत्य? शब्द नित्य है वा अनित्य? आत्मा मुक्ति से लौटता है अथवा नहीं? विदेशयात्रा पाप समझी जाती रही। भारत से बाहर म्लेच्छ और यवन रहते हैं, उनके साथ सम्पर्क में कभी नहीं आना चाहिये, ये विचार समूचे राष्ट्र में प्रचलित रहे।

लेकिन, दूसरी ओर मैंने तो अपनी मातृसंस्था 'गुरुकुल काङ्गड़ी' में विद्याध्ययन करते हुए बचपन में ही गुरुमुख से कथाओं में सुना था, 'भारत सोने की चिड़िया है' कभी यह संसार का सिरमौर था।

रघु ने दिग्विजय की थी, राम ने लङ्का जीती थी, अर्जुन ने पाताल देश तक विजय की थी। नालन्दा और तक्षशिला के विद्याकेन्द्र यही थे, जिनमें दूर दूर के देशों से विद्यार्थीजन शिक्षा प्राप्त करने आया करते थे। प्रविष्ट न हो सकने पर हाथ मलते हुए, रोते रोते अपने देशों को लौटा करते थे। ह्वेन्-त्साङ और फाहियान ने इन्हीं विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाई थी। चीनी लोग भारत को शाक्यमुनि का देश समझ इसकी तीर्थयात्रा को आया करते थे। जब मैं कुछ बड़ा हुआ तो पता चला कि 'बृहत्तरभारत निर्माण' की अपनी उमङ्गों को भी भारतीयों ने चरितार्थ किया था। अशोक ने धर्मविजय करके मिश्र और यूनान तक अपनी संस्कृति फैलाई थी। अपने प्रिय पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को भगवान् बुद्ध का सत्य संदेश सुनाने सिंहलद्वीप भेजा था। कुस्तन और यश तुर्किस्तान में भारतीय संस्कृति को ले गये थे। कुछ प्रचारक चम्पा और मिश्र तक भी पहुंचे थे। मैंने यह भी पढ़ा कि देवानाम्प्रियतिष्य के समय जब सीलोन को आध्यात्मिक प्यास बुझाने के लिये कोई स्रोत ढूंढने की आवश्यकता हुई, तो उसने अशोक से प्रार्थना की। जब मिङ्ती के समय चीनी सम्राट् को नये प्रकाश की चाह हुई, तो उसने बुद्ध की शरण ली। जब तिब्बत को आत्मिक उन्नति की तड़प अनुभव हुई, तो उसने शान्तरक्षित, पद्मसम्भव और अतिशा आदि भारतीय पण्डितों को ही निमन्त्रित किया। जब अरब को साहित्य, कला और विज्ञान की अभिलाषा हुई, तो उसने भारतीय पण्डितों और शास्त्रों का स्मरण किया। मृत्युशय्या पर पड़े हुए खलीफा के प्यारे भाई की चिकित्सा करने वाला जब सारे अरब में कोई ढूंढे न मिला, तो एक भारतीय वैद्य ने ही उसे मृत्यु के मुख से खींचकर बाहिर निकाला। जब मङ्गोल सम्राट् कुबलेईखां को अनुवादकों की चाह हुई, तो उसने भारत पर दृष्टि डाली। कोरिया यदि असभ्य से सभ्य बना तो बौद्धधर्म के कारण। जापान की जागृति का मूल कारण बौद्धधर्म ही तो है। मैंने यह भी पढ़ा कि जावा, कम्बोडिया, अनाम आदि तो हमारे उपनिवेश थे। वहां के राजा तो शिव, विष्णु और बुद्ध को पूजते थे। बेयन का शिवमन्दिर, अङ्कोर का विष्णु-मन्दिर तथा बोरोबुदूर का बौद्धमन्दिर आज भी कला, विशालता और

सौन्दय के लिये सुदूरभारत की झांकी दिलाते हैं। सुदूरपूर्व के प्रस्तर-खण्डों पर खुदी हुई रामायण, गीता तथा बुद्धचरित की अमर कथायें सहस्रों वर्षों प्राचीन हमारे साहसी प्रचारकों का आज भी स्मरण करा रही हैं। पढ़ते पढ़ते मुझे यह भी प्रतीत हुआ कि किस प्रकार सहस्रों प्रचारक, सांसारिक सुखों को लात मार कर, सेवा का परमव्रत धारण कर, बीहड़ वनों, हिममण्डित शिखरों तथा अति उत्तुङ्ग ऊर्मिमालाओं को पार कर, भारतीय धर्म, भाषा तथा सभ्यता से सर्वथा अपरिचित देशों में, अहिंसा, सेवा, सत्य और प्रेम का शुभ सन्देश सुनाना ही जीवन का चरम लक्ष्य बना कर चल पड़े। आगे चल कर मैंने ऐतिहासिकों में मानी जाती हुई इन स्थापनाओं को भी पढ़ा कि मिश्र और भारत के देवता मेल खाते हैं। उनमें आज भी यह परम्परा विद्यमान है कि हम पूर्व से पुण्ट देश (पाण्ड्य) से यहां आये हैं। चैल्डिया के लोगों में अब भी यह अनुश्रुति काम कर रही है कि हम चोल देश से आकर बसे हैं। कार्थेज के 'प्यूनिक' लोग निरुक्त में निर्दिष्ट भारतके 'पणि' ही तो थे। मैक्सिको में मयसभ्यता को विकसित करने वाले भारत से जाकर ही वहां बसे थे। आइसलैण्ड के प्राचीन निवासियों का धर्मग्रन्थ 'वलूस्पा' सम्भवतः ऋग्वेद ही तो है। पर्शिया के आर्य्य-लोगों ने अपनी भाषा और धर्म, भारत की भाषा और धर्म से ही तो लिये हैं। संसार की प्राचीन जातियों, हिट्टाईट्स और मिटूनी लोगों के देवता रुद्र, वरुण और नासत्य वैदिक ही तो हैं। धर्मशिक्षा के प्रारम्भिक पाठों से, व्याख्याताओं के मुखों से, और भारत के अतीत गौरव को समझने वालों के सम्वादों से, मैं बहुधा मानवधर्मशास्त्र के इस प्रेरक सन्देश को सुनता रहा—

'एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः-
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।' [२।१०]

इतिहास के इस अध्ययन से मुझे प्रतीत होने लगा कि कभी भारत भी संसार में अपना विस्तार कर चुका है। जापान से मिश्र तक तथा बाली से यूनान तक 'बृहत्तरभारत' का विशाल भवन खड़ा था। मन में आया कि उस भवन का चित्र अपनी लेखनी से खींच दूँ, ताकि

मैं अपने हृदय में भारत की चिरविस्मृत आत्म-सम्मान की ज्योति को प्रज्वलित कर सकूं। साथ ही मेरे इस चित्र को देखने वालों के हृदय भी उल्लसित हो उठें, और वे इस अपूर्ण चित्र को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करें। चित्र को बनाते हुए सम्भव है कि कई अंग अस्पष्ट रह गये हों, कहीं पर रंग अधिक चढ़ गया हो, कहीं अंगों में विकार भी आ गया हो, सम्पूर्ण चित्र इतना सुन्दर न बन सका हो, लेकिन यह चित्र तो आपका है, इस के गुण और दोष दोनों आपके ही हैं। मेरी अभिलाषा है कि आप सुजला, सुफला, भुवनमनमोहिनी हमारी माता-के इस चित्र की तुलना पाश्चात्यों द्वारा बनाये जाते हुए चित्र से कीजिये।

यह ग्रन्थ भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भाव से आरम्भ किया गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि महात्मा बुद्ध से पूर्व भारतीय संस्कृति आर्य्यावर्त्त की सीमाओं को लांघ कर समुद्र और हिमालय के पार नहीं पहुंची थी। लेकिन बुद्ध से आरम्भ करने का कारण यही है कि इस से पूर्व भारत के अन्य देशों के सम्बन्ध के विषय में ऐतिहासिकों में अब तक पूर्ण एकता नहीं है। आज भी यह बात पूर्णतया निर्णीत नहीं हुई कि उस में भारत की निजी देन कितनी है? यह विषय अपने में ही एक स्वतन्त्र विचारणीय वस्तु है। इस में से प्रत्येक के लिये एक एक पृथक् ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता है। तथापि, पाठक-महोदयों के ज्ञान लाभ के लिये तृतीय भाग में उन सब पर संक्षेप से यत्किञ्चित् प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। आशा है पाठक-गण ग्रन्थ का अनुशीलन करते समय इसे ध्यान में रखने की कृपा करेंगे।

पाठकों को यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि नैपाल, भूटान और अफ़गानिस्तान का वर्णन पृथक् रूप से नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि अठारहवीं शताब्दी तक का इन देशों का इतिहास भारत का इतिहास है। उसे भारत से पृथक् रूप में प्रदर्शित करना उचित प्रतीत नहीं होता।

इस ग्रन्थ को अध्याय, परिच्छेद, सर्गादि में विभक्त न करके 'संक्रान्तियों' में ही बांटा गया है। इन में उन प्रचारकों के साहसिक कृत्यों का वर्णन है, जिन के अनुपम आत्मत्याग से ही विशालभारत का निर्माण हुआ था। यह संक्रमण सूर्य्य के संक्रमण का स्मरण कराता है। जिस प्रकार सूर्य्य एक राशि से दूसरी राशि में जाते हुए संक्रान्ति करता है, वैसे ही भारतीय संस्कृति का सूर्य्य भी एक के पश्चात् दूसरे देश में किस प्रकार संक्रमण द्वारा वहां के निवासियों के अज्ञानान्धकार को हटाता रहा है, इसका वर्णन करने के लिये 'संक्रान्ति' से उत्तम शब्द मुझे और कोई नहीं सूझा। सूर्य्य की बारह संक्रान्तियों की भांति इस ग्रन्थ में भी बारह ही संक्रान्तियों का वर्णन है।

बृहत्तर भारत का वर्णन करने के लिये लेखनी ने जो चित्र खींचा है उसको अपना कहने का साहस मैं नहीं कर सकता। यह चित्र वस्तुतः बाल्यकाल से कुलमाता के स्तन्यपान के साथ ग्रहण की हुई भावनाओं का साकार रूप है। यह मेरा नहीं यह तो कुलमाता का है। इस चित्र की रूप रेखा को स्पष्ट करने वाले, चित्र के पृष्ठभाग को परिष्कृत बनाने वाले तथा इस चित्र को चित्रित करने की प्रेरणा देने वाले, प्रातः स्मरणीय, श्रद्धेय मेरे इतिहासगुरु श्री सत्यकेतु जी का वरदहस्त तो मेरे पर रहा ही है। इस अवस्था में मैं इसे अपना कहने का गर्व कैसे कर सकता हूं? इस चित्र का अन्तिम परिष्कार कर इसकी आत्मा को सजीव बनाने वाले, नई नई सूझों से इसे कलान्वित करने वाले, अपनी रुग्णता में, समय की तंगी के होते हुए भी पूर्णतया सहायता करके इस चित्र को मनोरम बनाने वाले, मेरे साहित्यगुरु स्वनामधन्य श्री वागीश्वर जी ने तो अपनी कृपावृष्टि की है, तब यह चित्र मेरा है, यह धृष्टता करने का साहस मुझ में नहीं है। भारत सरकार के पुरातत्त्वविभाग के अध्यक्ष श्रीयुत् के. एन. दीक्षित ने अपने पुरातत्त्वविभाग में संगृहीत ग्रन्थों के अनुशीलन में सुविधा प्रदान कर, तथा इस चित्र को सरसरी दृष्टि से देख कर, पीठ ठोक कर उत्साहित करने वाले, और उपयोगी निर्देशों से चित्र को सर्वांग सुन्दर बनाने वाले, श्री राहुल जी ने जो महती सहायता की है, उसके प्रति कृतज्ञता न

प्रकट करने पर मैं अपने कर्त्तव्य का पालन न कर रहा हूंगा। इस चित्र को पूर्ण बनानें में जिन भाईयों ने—श्री पं० केशवदेव जी वेदालंकार श्री पं० देवव्रत जी वेदालंकार तथा श्री पं० हरिदत्त जी वेदालंकार ने मुझे जो उपकृत किया है, उससे मैं उनका सदैव कृतज्ञ बना रहूंगा। पं० हरिदत्त जी की सहायता के बिना तो इस पुस्तक का ठीक समय पर छपना असंभव था। अतः उनके प्रति जितना कृतज्ञता प्रकट करूं—थोड़ा है।

यह चित्र सम्भवतः इतना शीघ्र पूर्ण न हो पाता, और पूर्ण होने के पश्चात् भी आपकी दृष्टि में न आता, यदि मेरे श्रद्धेय गुरुवर श्री सत्यव्रत जी मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल-कांगड़ी जिनके चरणों में बैठ कर मैंने आर्य्यसिद्धान्त को अध्ययन करते हुए बृहत्तर भारत की एक सजीव झांकी ली थी। मुझे बारम्बार प्रेरणा कर प्रोत्साहित न करते। अन्त में मैं इस ग्रन्थमाला के संस्थापक, आर्य्यसंस्कृति के प्रेमी, हिन्दी साहित्य के परमोपासक, दानवीर, महाराजाधिराज, शाहपुराधीश श्री उम्मेदसिंह जी के प्रति अपना कृतज्ञता प्रकटकिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने अपनी असीम उदारता के साथ इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सब भार अपने ऊपर लेकर मुझे इस चिन्ता से सर्वथा-मुक्त किया है। इनकी कृपा के बिना इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर सकना मेरी शक्ति से बाहिर था। जिन विद्वानों ने तथा जिन भाइयों ने मुझे प्रोत्साहित किया है, तथा जिनके नाम यहां लिखे नहीं जा सके हैं, परन्तु जिनके सहयोग, सद्भावनायें और आशीर्वाद मुझे सदा प्राप्त होते रहे हैं, यह चित्र उनका भी है। अन्त में मैं उन सब विद्वानों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं, जिन्होंने मुझ से पूर्व इस विषय पर अपने विचार लेखबद्ध किये हैं, और जिन से मैंने अपने ग्रन्थ में स्थान स्थान पर लाभ उठाया है।

अपनी एक एक बूंद से भारतीय संस्कृति के प्रबल-प्रवाह को प्रवाहित करने वाली, पुण्यसलिला भगवती भागीरथी, जिसने मुझे इस सांस्कृतिक प्रवाह में बहने के लियेसाहस बंधाया तथा पद पद पर ठोकरें खाते हुए, समय समय पर उद्देश्य से विच-

लित होते हुए भी मुझे जिसकी सबल बाहु का सदा अवलम्ब रहा, उस सहस्रभुजा, पीयूषपायिनी, जगज्जननी की कृपा से ही इस चित्र की एक एक रेखा खींची गई है। उस स्नेहमयी माता की ममतामयी गोद को मैं भुलाये भी नहीं भूल सकता हूं।

गुरुकुलकांगड़ी
रक्षाबन्धन, १९९६

आपका
चन्द्रगुप्त वेदालङ्कार

प्रथम भाग

भारत का सांस्कृतिक विस्तार

प्रथम संक्रान्ति

सूर्योदय

क्रान्ति का श्रीगणेश—धर्मचक्रप्रवर्तन—बौद्धधर्म में मतभेद तथा बौद्धसंगीतियां-प्रथम संगीति-द्वितीय संगीति-तृतीय संगीति—विविध देशों में धर्मविजय का उपक्रम-काश्मीर और गांधार में-महिषमण्डल में-वनवासी मण्डल में-अपरान्त में-महाराष्ट्र में-योन में-हिमवन्त में-सुवण्ण भूमि में-यूनानि जगत् में-बौद्धधर्म ही क्यों सफल हुआ—प्रचारकों की लगन—संगठन की श्रेष्ठता-समयानुकूल सिद्धान्त-महान् व्यक्तियों द्वारा प्रोत्साहन-प्रचार शैली-श्रेणी भेद का अभाव—मीनान्दर और कनिष्क का भारतीय धर्म को अपनाना—चतुर्थ संगीति—बौद्ध संघ मे भेद के कारण-अनुयायियों के पुराने विचार-स्थानीय भेद-शिष्यों की योग्यता में भेद-उपदेशों का लेख बद्ध न होना-बुद्ध की उदार दृष्टि—बौद्ध सम्प्रदाय—चीन और खोत में बौद्ध धर्म का प्रवेश-हिन्दु धर्म का पुनरुत्थान—बौद्ध धर्म का प्रभाव—आवागमन—बौद्ध धर्म को पुनः प्रोत्साहन—हूणों के आक्रमण—मुसलमानों का आगमन—उत्पत्ति स्थान में सर्वनाश—आशा की झलक।

क्रान्ति का श्रीगणेश

आज से लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व भारतवर्ष में एक महान् धार्मिक-क्रान्ति हुई थी। उस समय केवल भारत में ही क्रान्ति नहीं हो रही थी अपितु तब सम्पूर्ण संसार के धार्मिक क्षेत्र में बड़ी उथल-पुथल मच रही थी। लगभग उसी काल में चीन में लुत्ज़े और कन्फ्यूशस, ग्रीस में सॉक्रेटीज़ तथा उसके समकालीन अन्य दार्शनिक और बैबिलोन में इसीहा धर्म के प्राचीन विचारों को परिशोधित कर रहे थे। भारत में इस क्रान्ति के प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध थे। इनका जन्म ईसा की उत्पत्ति

से लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व लुम्बिनी वन में हुआ था। बुद्ध के समय भारतवर्ष की दशा बहुत विचित्र थी। प्राचीन वैदिक धर्म पतन के अथाह गर्त्त में निरन्तर गिर रहा था। ऋषि-मुनियों द्वारा प्रचालित विधि-विधान लुप्त हो रहे थे। वैदिक क्रियाओं में भयंकर विकृति आ चुकी थी। प्राचीन वर्णव्यवस्था वंश-परम्परागत वर्णव्यवस्था में परिणत हो गई थी। ब्राह्मण जन्म से ही ब्राह्मण समझा जाता था। अवस्था इतनी बिगड़ चुकी थी कि चारों वर्णों के लिये नियम की एकता भी न थी। ब्राह्मणों के लिए एक नियम था, क्षत्रियों के लिये दूसरा, वैश्यों के लिये तीसरा और शूद्रों के लिये चौथा। राज्य की ओर से चारों वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् नियम बने हुए थे। ब्राह्मणों पर अत्यधिक अनुकम्पा और शूद्रों पर कल्पनातीत अत्याचार किये जाते थे। संन्यासी लोग पवित्रता और त्याग को तिलाञ्जलि देकर, केवल दिखावे के लिए भगवे वस्त्र धारण करते थे। यज्ञों में प्रतिदिन सहस्रों मूक पशुओं की आहुति दी जाती थी। गौतम का कोमल और दयालु हृदय धर्म के नाम पर असंख्यों भोले पशुओं पर होने वाले अमानुषिक अत्याचारों को न सह सका। उसने प्रचलित कुरीतियों और अन्धविश्वासों को दूर करने के हेतु राजपाट को लात मार दी तथा सर्वस्व त्याग कर बोधगया में बोधिद्रुम की छाया में सत्यज्ञान प्राप्त करने के लिए समाधिस्थ हो गया। गम्भीर मनन के पश्चात् गौतम ने बुद्धत्व प्राप्त किया। बुद्ध बन कर गौतम ने काशी से छः मील उत्तर की ओर 'सारनाथ' नामक स्थान से 'धर्मचक्रप्रवर्त्तन' करते हुए अपने पांच शिष्यों[1] को उपदेश दिया—

१. पांच शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं:—कौण्डिन्य, वप्र, महानाम, भद्र और अश्वजित्। इन्हें 'पंचवर्गीय' भिक्षु भी कहते हैं।



सारनाथ में भगवान् बुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन

धर्मचक्र प्रवर्त्तन

"भिक्षुओ! अब तुम लोग जाओ और बहुतों के कुशल के लिए, संसार पर दया के निमित्त, देवताओं और मनुष्यों की भलाई, कल्याण और हित के लिये भ्रमण करो। तुम उस सिद्धान्त का प्रचार करो जो आदि में उत्तम है, मध्य में उत्तम है, और अन्त में उत्तम है। सम्पन्न, पूर्ण तथा पवित्र जीवन का प्रचार करो।"[1]

भगवान् बुद्ध का अपने शिष्यों को यही प्रथम उपदेश था। बौद्धधर्म के इतिहास में तथा भारतीय संस्कृति के विस्तार की दृष्टि से इसका बहुत महत्व है। यहीं से धर्मचक्र का प्रवर्त्तन प्रारम्भ होता है। इसी उपदेश में भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों को देश-देशान्तरों में अपनी शिक्षाएं प्रचारित करने की प्रेरणा करते हैं।

गौतम के इस सन्देश को सुन कर पांचों शिष्यों ने अपने गुरु का सन्देश फैलाने के लिये भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रस्थान किया। महात्मा बुद्ध स्वयं भी इस कार्य के लिये एक बड़ी मंडली के साथ जगह-जगह घूमने लगे। यह मण्डली नगर के बाहर पड़ाव डाल देती और जो लोग दर्शनों को आते उन्हें धर्मोपदेश दिया जाता था। काशी के पश्चात् बुद्ध ने अपना प्रचार-केन्द्र मगध को बनाया। उन दिनों मगध का राजा बिम्बसार था। यह बुद्ध से बहुत प्रभावित हुआ और संघ में दीक्षित हो गया। यह बौद्धधर्म के प्रति इतना अधिक आकृष्ट हुआ कि इसने राजकीय घोषणा निकाली—

---

१. देखिये, महावग्ग—१, २, १.

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय-
लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं।
देसेथ भिक्खवे धम्मं आदि कल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसान कल्याणं-
सात्थं सव्यञ्जनं केवलपरिपुन्नं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ॥

"मेरे राज्य का कोई भी व्यक्ति किसी भी श्रमण को किसी भी प्रकार का कष्ट न दे।"[1] बिम्बसार का बौद्धधर्म के प्रति इतना अधिक प्रेम प्रदर्शित करने का परिणाम यह हुआ कि मगध की सम्पूर्ण जनता उस महात्मा के उपदेशामृत का पान करने को लालायित हो उठी। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध गया, उरुवेल, राजगृह, नालन्दा, पाटलिपुत्र, दक्षिणगिरि, अन्धकविन्द, कल्लवाल-मुत्तगाम आदि नगरों में गये और वहां उन्होंने अपनी शिक्षाओं का प्रचार किया। उनका प्रचार-क्षेत्र मगध तक ही सीमित नहीं रहा अपितु उन्होंने शीघ्र ही मगध की सीमाओं को पार कर कोसलदेश में प्रवेश किया। महात्मा बुद्ध के जीवनकाल का पर्याप्त भाग कोसल में व्यतीत हुआ था। उस समय कोसल का राजा प्रसेनजित् था। बुद्ध के इतना समीप रहने से प्रसेनजित् को उन से वार्तालाप करने का अवसर अनेक वार प्राप्त हुआ था। परस्पर की इस बातचीत का परिणाम यह हुआ कि वह धीरे-धीरे बुद्ध की ओर झुकता गया और एक दिन दीक्षा लेकर विधिपूर्वक संघ में प्रविष्ट हो गया। प्रसेनजित् की रानी–'मल्लिका', उसकी दो बहिनें—'सोमा' और 'सकुला' तथा उसकी बुआ—'सुमना' भी बुद्ध की अनुगामिनी बन गईं।

प्रसेनजित् के पश्चात् अवन्ति के राजा प्रद्योत तथा कौशाम्बी के राजा उदयन ने भी त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म और संघ) की शरण ग्रहण की। इस प्रकार प्रारम्भ में ही बौद्धधर्म को राजकीय संरक्षण मिल जाने से बौद्धधर्म की जड़ें दृढ़ हो गईं। जनता में भी इसके प्रति पर्याप्त सहिष्णुता और श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। बड़े बड़े प्रतिभा-शाली व्यक्ति—सुदत्त अनाथपिण्डक[2] जैसे बड़े बड़े व्यापारी,

१. देखिये, महावग्ग—१।४२।१

२. यह श्रावस्ती का बहुत समृद्ध व्यापारी था तथा राज्य का कोषाध्यक्ष भी था।

यश[1] जैसे समृद्ध नागरिक, काश्यप-बन्धुओं[2] से विद्वान कर्मकाण्डी. जीवक[3] से राजकीय वैद्य, शारिपुत्र और मौद्गल्यायन से महापण्डित तथा क्षेमा और भद्रा कापिलानी सी रानियां और कुलीन देवियां—ये सब संघ में आ चुके थे।

इस से भी अधिक महत्व-पूर्ण बात जो बौद्धधर्म के विस्तार में सहायक हुई वह थी विविध गणों की सहायता। इस समय तक अनेक गणों पर भी बौद्धधर्म ने पर्याप्त प्रभाव पैदा कर लिया था। यद्यपि जैन धर्म के प्रवर्त्तक वर्धमान महावीर भी इस समय प्रचार कर रहे थे और उन्हें भी विविध गणों से सहायता प्राप्त हुई थी, परन्तु महात्मा बुद्ध का अनुमोदन करने वाले गण महावीर के सहायक गणों की अपेक्षा संख्या में कहीं अधिक थे। शाक्य लोगों को जिनके गण में भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था, अपने धर्म में दीक्षित करना बुद्ध के लिये कोई कठिन कार्य्य न था। यही कारण है कि बुद्ध के पिता शुद्धोदन, उनके पुत्र-राहुल, शाक्यगणराजा-भद्दिय (भद्रक), अनुरुद्ध, किम्बिल, भृगु, आनन्द, नन्द, उपालि आदि बहुत से प्रतिष्ठित शाक्य लोग संघ में प्रविष्ट हो चुके थे। महाप्रजापति गौतमी के नेतृत्व में बहुत सी शाक्य देवियां भी बुद्ध की अनुगामिनी बन गई थीं। शाक्यों के अनन्तर लिच्छवियों और मल्लों ने संघ में प्रवेश किया। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली में महात्मा बुद्ध अनेक वार गये और वहां उन्होंने कितनी ही वार उपदेश भी दिया। 'मल्लों' का भी बुद्ध

१. यह इतना धनाढ्य था कि इसके पास प्रत्येक ऋतु के लिये पृथक् २ महल था।

२. बिल्वकाश्यप, नदीकाश्यप और गयकाश्यप—ये तीन काश्यप भाई थे जो अपनी विद्वत्ता तथा कर्मकाण्ड के लिये विख्यात थे।

३. यह राजवैद्य था और रोगियों की चिकित्सा बड़ी निपुणता से तथा बिना मूल्य करता था।

के प्रति बड़ा आकर्षण था। सम्भवतः यही कारण था कि बुद्ध ने मल्लों के राज्य में ही 'कुशीनारा' को निर्वाण के लिए उपयुक्त प्रदेश समझा था। शाक्य, लिच्छवी और मल्लों की भांति 'भग्ग' और 'कोलिय' लोग भी बुद्ध के भक्त बन गए थे। 'महापरिनिर्वाणसूत्र' के अनुसार 'अल्लकप्प के बुलि' और 'पिप्पलिवन के मौर्य्य' लोग भी बुद्ध की शरण में आ चुके थे। बुद्ध की मृत्यु होने पर इन्होंने भी उनकी 'पवित्र धातु' (relic) पर स्तूप खड़ा करने के लिए अस्थियां मांगी थीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि राजाओं द्वारा बौद्ध धर्म को अपनाने से, गणराज्यों में उसका पाया जम जाने से तथा देवियों के भी संघ में शरण पा लेने से, बौद्ध धर्म थोड़े ही समय में प्राच्य देश की प्रबल शक्ति बन गया। इस प्रचार कार्य में स्त्रियों ने भी बहुत हाथ बंटाया। विशाखा और अम्बपाली ने इसके लिये बहुत प्रयत्न किया। अनाथपिण्डक की कन्या ने अपने अदम्य साहस द्वारा अङ्ग देश को बौद्ध धर्म का केन्द्र बना दिया। कौशाम्बी के राजा उदयन का बौद्ध धर्म की ओर झुकाव कराने वाली उसकी रानी 'सामावती' ही थी।

५४४ ई० पू० में जब कुशीनारा में बुद्ध ने अपनी इह लोक लीला समाप्त की, उस समय तक बुद्ध की शिक्षायें काशी, कोसल, मगध, कपिलवस्तु, रामग्राम, अल्लकप्प, पिप्पलिवन, सुसुमार पर्वत, वैशाली, कुशीनारा, अवन्ति, कौशाम्बी और अङ्ग देश तक फैल चुकी थीं। यद्यपि भगवान् बुद्ध स्वयं तो प्राच्य देश में ही पर्यटन करते रहे पर उनकी शिष्य मण्डली अन्य राज्यों में भी प्रचार कर रही थी। परिनिर्वाण के समय तक भरुकच्छ, सुप्पारक, रोरुक, अपरान्त, कुरु, मद्र आदि पश्चिमीय तथा उत्तरीय राज्यों में भी बौद्ध धर्म का प्रवेश हो चुका था और वहां अनेकों विहारों का निर्माण भी हो गया था।[1]

---

१ देखिए, Early History of the Spread of Budhism and the Budhist Schools, Page 184

बौद्ध संगीतियां

यद्यपि बुद्ध के जीवित रहते हुए ही उनकी शिक्षायें प्रचलित होने लग गई थीं तो भी भारत से बाहिर इनका कहीं भी प्रचार न हुआ था। भारतवर्ष में भी ये पूर्ण-रूप से न फैल सकी थीं। इसका कारण यह था कि बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् ही भिक्षुओं में आन्तरिक झगड़े प्रारम्भ हो गये थे। बुद्ध के शिष्य अपनी इच्छानुसार गुरु की शिक्षाओं की व्याख्या करने लग गये थे। बुद्ध के निर्वाण के कुछ ही दिन बाद 'सुभद्र' नामक भिक्षु ने अन्य भिक्षुओं से कहा— "अच्छा हुआ बुद्ध मर गये, हम लोग उनके चंगुल से छूट गये। अब हम स्वतंत्रता के साथ जो चाहेंगे सो कर सकेंगे।" इस अव्यवस्था को दूर करने के लिये बौद्ध आचार्यों ने 'संगीतियों' की आयोजना की। बौद्ध संघ में मतभेद तथा बौद्ध संगीतियां

पहली बौद्ध सभा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् ही राजगृह के समीप 'सप्तपर्णी' गुहा में हुई। इसका निर्माण मगध के राजा अजातशत्रु ने इसी उद्देश्य से कराया था। इस सभा में पांच सौ अर्हत इकट्ठे हुए थे। सभा का प्रधान 'महाकाश्यप' था। इसके अधिवेशन सात मास तक होते रहे। इस में उपालि और आनन्द की सहायता से 'विनय' और 'धर्म' सम्बन्धी बुद्ध के उपदेशों का संग्रह किया गया। उपालि को विनय के विषय में और आनन्द को धर्म के विषय में प्रमाण माना गया।[1] इस सभा का मुख्य कार्य बुद्ध के उपदेशों का संग्रह करना था। इस सभा को बौद्ध संघ की प्रथम संगीति[2] कहा जाता है। प्रथम संगीति

१. प्रारम्भ में बौद्धवाङ्मय के दो ही विभाग थे—विनय और धर्म। किन्तु तृतीय महासभा के पश्चात् बौद्धों का वाङ्मय त्रिपिटकरूप में पूर्ण हो गया। विनय का विनयपिटक तथा धर्म को सुत्तपिटक के अन्तर्गत किया गया। अभिधम्म-पिटक नाम से एक तीसरा पिटक बनाया गया। इसमें दार्शनिक और आध्यात्मिक विवेचना थी।

२. 'संगीति' का अर्थ 'सभा' है।

द्वितीय संगीति

प्रथम सभा के सौ वर्ष पश्चात् वैशाली में द्वितीय सभा बुलाई गई। इसका संयोजक स्थविर 'यश' था। यह सभा आठ मास तक होती रही। यह वैशाली के भिक्षुओं में उठे विवादों को दूर करने के लिये की गई थी। महावंश को पढ़ने से ज्ञात होता है कि बुद्ध के निर्वाणपद को प्राप्त करने के सौ वर्ष उपरान्त वैशाली के भिक्षुओं में महान् विवाद उठ खड़ा हुआ था। थेर लोग निम्न दस कारणों से वैशाली के भिक्षुओं पर नियम-भंग का आरोप लगाते थे—

(१) सिङ्गिलोनं— बौद्धसंघ के नियमानुसार भिक्षुओं को भोज्यपदार्थों का संग्रह नहीं करना चाहिये, पर वैशाली के भिक्षु सींग में नमक इकट्ठा करते थे।

(२) द्वङ्गुलं—संघ के नियमानुसार भिक्षुओं को दिन में एक ही बार भोजन करना चाहिये, पर वे एक बार से अधिक भोजन करते थे।

(३) गामन्तरं—एक ही दिन में दूसरे गांव में जाकर भोजन करते थे।

(४) आवास—भिक्षु को एक ही स्थान पर कई दिन तक नहीं रहना चाहिये पर वैशाली के भिक्षु १५ दिन तक एक ही स्थान के इर्द-गिर्द चक्कर काटते रहते थे।

(५) अनुमत—नियम विरुद्ध कार्यों को कर तो पहले लेते थे पर अनुमति पीछे से मांगते थे।

(६) आचिएणं—पूर्वोदाहरणों को प्रमाण मान कर कार्य करते थे।

(७) अमथित—भोजन के पश्चात् लस्सी पीते थे।

(८) जलोगि—कांजी आदि मादक द्रव्यों का सेवन करते थे।

(९) निसीदनं अदसकं—आसन के स्थान पर साधारण वस्त्र का प्रयोग करते थे।

(१०) जातरूपादिकं—सोना, चांदी ले लेते थे।[1]

इनके अतिरिक्त इनमें कुछ सैद्धान्तिक मतभेद भी था। वैशाली के भिक्षु कहते थे कि गुरु बिना कोई व्यक्ति अर्हत नहीं बन सकता। अर्हत पूर्ण नहीं, वह अज्ञान में पाप भी कर सकता है, उसे सिद्धान्तों में सन्देह भी हो सकता है। इनकी प्रवृत्ति अपने प्रजातन्त्र के अनुसार धर्म को भी प्रजातन्त्रात्मक बनाने की थी।

वैशाली के भिक्षुओं द्वारा उत्पन्न हुए इस विवाद को दूर करने के लिये ही द्वितीय संगीति का आयोजन किया गया था। इसमें सात सौ भिक्षु सम्मिलित हुए थे। वैशाली के भिक्षुओं को संघ से बहिष्कृत कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि दूसरे पक्षवालों ने इस निर्णय को मानने से इन्कार किया और अपनी सभा पृथक् रूप से स्थापित की। परन्तु दुःख है कि इस सभा का कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। इतना अवश्य ज्ञात है कि इनकी सभा में उपस्थित हुए लोगों की संख्या बहुत अधिक थी। इसमें अर्हत और अर्हतभिन्न दोनों ही प्रकार के लोग सम्मिलित हुए थे। क्योंकि इनकी संख्या अधिक थी इसी लिये इन्हें 'महासंघिक' नाम दिया गया। द्वितीय संगीति का मुख्य प्रयोजन संघ के आन्तरिक विवादों को दूर करना था। परन्तु

१ देखिये, महावंश, परिच्छेद ४, श्लोक ९—११

तदा वेसालिया भिक्खू अनेका वज्जिपुत्तका।

सिङ्गिलोणं द्वङ्गुलञ्च तथा गामन्तरम्पि च ॥ ९ ॥

आवासानुमताचिण्णं अमथितं जलोगि च।

निसीदनं अदसकं जातरूपादिकं इति ॥ १० ॥

दसवत्थूनि दीपेसु कप्पन्तीति अलज्जिनो

तं सुत्वान यसत्थेरो चरं वज्जीसु चारिकं ॥ ११ ॥

इसमें स्थविर यश को सफलता प्राप्त न हुई। इस समय से बौद्ध-संघ में भयंकर फूट गई और 'महासंघिक' नाम से एक नये संप्रदाय का विकास हुआ। यह महासभा 'द्वितीय संगीति' कही जाती है। भारत से बाहर बौद्धधर्म का प्रचार इस समय तक भी नहीं हुआ था। बौद्धधर्म का विविध देशों में प्रचार तृतीय संगीति से प्रारम्भ हुआ।

तृतीय संगीति

इस समय भारतवर्ष में मौर्यसम्राट् अशोक शासन कर रहे थे। मोद्गलिपुत्र तिष्य के प्रभाव से अशोक ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया। जब सम्राट् अशोक बौद्धधर्म में दीक्षित हुए उस समय तक बौद्धधर्म का भारत में भी बहुत प्रभाव न था, परन्तु अशोक ने इसे इतना प्रबल प्रोत्साहन दिया कि उसके जीवनकाल में ही बुद्ध की शिक्षायें देशदेशान्तरों में फैल गईं। भगवान बुद्ध की मृत्यु के २३६ वर्ष अनन्तर मोद्गलिपुत्र तिष्य ने तृतीय संगीति को आमंत्रित किया। तिष्य के निमन्त्रण पर एक सहस्र भिक्षु अशोकाराम में इकट्ठे हुए। ये भिक्षु नौ मास तक निरन्तर सभाभवन में उपस्थित होते रहे। इनकी उपस्थिति में त्रिपिटक का संकलन किया गया। विवादों को दूर करने के लिये मोद्गलिपुत्र तिष्य ने 'कथावत्थु' की रचना की। इसी समय यह भी निश्चय किया गया कि महात्मा बुद्ध का सन्देश ले जाने के लिये विविध देशों में भिक्षु भेजे जायें। इसी के अनुसार नौ प्रचारक-मण्डल तय्यार किये गये। इन मण्डलों के नेताओं के नाम दीपवंश और महावंश दोनों में संगृहीत हैं। महावंश के अनुसार इनके नाम इस प्रकार हैं:—

मुखियाओं के नाम　　　प्रदत्त प्रदेश

पाली	संस्कृत	तात्कालिक	वर्त्तमान
मज्झन्तिक	माध्यन्तिक	काश्मीर-गान्धार	काश्मीर, कन्धार
महादेव	महादेव	महिषमण्डल	माईसूर
रक्खित	रक्षित	वनवासी	उत्तरीय कनारा
योनधम्मरक्खित	योनधर्मरक्षित	अपरान्त	बम्बई
महाधम्मरक्खित	महाधर्मरक्षित	महारट्ठ	महाराष्ट्र
महारक्खित	महारक्षित	योन	यूनानी जगत्
मज्झिम आदि	मध्यम आदि	हिमवन्त	हिमालय के प्रदेश
सोण, उत्तर	शोण, उत्तर	सुवन्नभूमि	पेगू, मालमीन
महिन्द आदि	महेन्द्र आदि	लंका	सीलोन

इन मण्डलों ने धर्म विजय के लिए जो जो प्रयत्न किये उनका वर्णन महावंश के बारहवें परिच्छेद में बड़े रोचक ढंग से किया गया है। वर्णन इस प्रकार है—

विविध देशों में धर्मविजय का उपक्रम

"थेर मोद्गलिपुत्त ने संगीति को समाप्त करके, भविष्य को दृष्टि में रख कर, भारत के सीमान्त प्रदेशों में शासन की प्रतिष्ठा करने के विचार से कार्त्तिक मास में उन उन थेरों को उन उन देशों में भेजा। काश्मीर और गान्धार में मज्झन्तिक को, महिषमण्डल में महादेव को, यूनानी जगत् में महारक्खित को, हिमालय के प्रदेशों में मज्झिम को, सोण और उत्तर को सुवर्ण भूमि में तथा महामहिन्द को लंका में[1] शासन की स्थापना करने

१. लंका में बौद्धधर्म के प्रचार का वर्णन द्वितीय संक्रान्ति में किया गया है।

के लिए भेजा।"[1]

काश्मीर और गान्धार में

"थेर मज्झन्तिक काश्मीर और गान्धार में प्रचार करने के लिये गया। उस समय इन देशों पर 'आरवाल' नामक नागराज राज्य कर रहा था इसे दैवीय शक्तियां प्राप्त थीं। अपने प्रभाव से यह काश्मीर और गान्धार की सब फसलें नष्ट कर रहा था। तब मज्झन्तिक थेर आकाशमार्ग से होता हुआ इधर उधर घूमने लगा। नागों ने जाकर नागराज को मज्झन्तिक के आगमन का समाचार सुनाया। नागराज ने रुष्ट होकर मज्झन्तिक को नाना प्रकार से डराया। बड़ी जोर की आंधी चलने लगी। मेघ गरजने लगे। वर्षा पड़ने लगी। भांति भांति की बिजलियां कड़कने लगीं। पर्वतों के शिखर और वृक्ष टुकड़े टुकड़े होकर गिरने लगे। बड़े बड़े भयंकर सर्प चारों ओर से उसे डराने लगे। स्वयं नागराज भी अनेक तरह से उसकी भर्त्सना करता हुआ उसे भयभीत करने लगा। अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा थेर ने सभी विपत्तियों को हटा कर, अपने उत्कृष्ट बल का प्रदर्शन कर, नागराज से कहा—'हे महानाग! देवों सहित सम्पूर्ण मनुष्य लोक भी यदि मुझे नष्ट करने का प्रयत्न

देखिये, महावंश, परिच्छेद १२, श्लो० ३-७

१. थेरं कस्मीरगन्धारं मज्झन्तिकमपेसयी।
अपेसयि महादेवत्थेरं रक्खितनामक॥ ३॥
वनवासिं अपेसेसि थेरं रक्खितनामकं।
तथापरन्तकं योनधम्मरक्खितनामकं॥ ४॥
महारट्ठं महाधम्मरक्खितत्थेर नामकं।
महारक्खितथेरं तु योनलोकमपेसयि॥ ५॥
पेसेसि मज्झिमं थेरं हिमवन्तपदेसकं।
सुवण्णभूमि थेरे द्वे सोणमुत्तरमेवच॥ ६॥
महामहिन्दथेरन्तं थेरं इट्ठियमुत्तियं।
सम्बलं भद्दसालञ्च सके सद्धि विहारिके॥ ७॥

करे तो भी वह मुझे भयभीत करने में समर्थ नहीं हो सकता। हे नाग-राज ! यदि तुम समुद्र और पर्वतों सहित सारी पृथ्वी को भी मेरे ऊपर फेंक दो तब भी तुम मेरे अन्दर भय उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकते। हे उरगाधिप ! इस विनाश प्रक्रिया से तो तुम्हारा ही नाश होगा।

"यह सुनकर अभिमान-रहित हुए नागराज को थेर ने धर्मदेशना की, और थेर ने त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म और संघ) की शरण ग्रहण की। इसी प्रकार ८४ सहस्र नाग, गन्धर्व, यक्ष और कुम्भण्डकों ने बौद्धधर्म को स्वीकृत किया। 'पञ्चक' नामक यक्ष ने 'हारीत' नामक पत्नी तथा अपने पांच सौ पुत्रों के साथ धर्म के प्रथम फल को प्राप्त किया। इनको थेर ने इस प्रकार उपदेश दिया—जैसे तुम लोग अब तक क्रोध करते रहे हो भविष्य में वैसा मत करना। अन्न का नाश कभी मत करना क्योंकि सभी प्राणी सुख की कामना करनेवाले हैं। सब प्राणियों से मित्रता करो। सब मनुष्य सुखपूर्वक रहें। इस प्रकार उनके उपदेश देने पर उन सभों ने वैसा करना स्वीकार किया।

" तदनन्तर नागराज, थेर मज्झन्तिक को रत्नपर्यङ्क पर बिठा कर स्वयं उसके समीप खड़ा होकर पंखा करने लगा। इसी समय काश्मीर और गान्धार के मनुष्य नागराज की पूजा को आये। जब उन्होंने थेर की अलौकिक शक्ति के विषय में सुना तो वे उसके समीप आकर अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। तत्पश्चात् स्थविर ने उन्हें नागों के योग्य धर्म का उपदेश दिया। इस पर ८० सहस्र मनुष्यों ने प्रवज्या ग्रहण की। उस दिन से आज तक काश्मीर और गान्धार के निवासी काषायवास से प्रज्वलित तथा वस्तुत्रय (बुद्ध, धर्म और संघ) के उपासक हैं।"

महिषमण्डल में

"थेर महादेव ने महिषमण्डल जाकर जनता के मध्य में 'देवदूत सूत्रान्त' का उपदेश दिया। ४० सहस्र मनुष्यों ने अपनी धर्मदृष्टि का संशोधन किया और थेर महादेव से प्रवज्या ग्रहण की।"

वनवासी में

"थेर रक्खित ने वनवासी जाकर आकाश में स्थिर होकर जनता के बीच 'अनमतग्ग' सूत्र का उपदेश दिया। ६० सहस्र मनुष्यों ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया और ३७ सहस्र ने प्रवज्या ली। इस स्थविर ने वनवासी में ५०० विहार बनवाये तथा विहारों में बुद्ध का शासन प्रतिष्ठापित किया।"

अपरान्त में

"थेर योन धम्मरक्खित अपरान्त देश में गया। वहां इसने 'अग्गिक्खन्धोपम सुत्त' (अग्निस्कन्धोपम सूत्र) का मनुष्यों को उपदेश दिया। धर्म और अधर्म के विवेचन में कुशल इस स्थविर ने २७ सहस्र मनुष्यों को धर्मामृत का पान कराया। इनमें से एक सहस्र पुरुष और इस से भी अधिक स्त्रियां, जो कि क्षत्रिय जाति की थीं, भिक्षु संघ में प्रविष्ट हुईं।

महाराष्ट्र में

"थेर महारक्खित ने महाराष्ट्र में जाकर 'महानारद कस्सप' (महानारद काश्यप) जातक का उपदेश किया। ८४ सहस्र मनुष्यों ने मार्गफल (निर्वाण से पूर्व प्राप्त होने वाले स्रोतापन्न, सकृदागामी और अनभिगामी साधना की इन तीन सीढ़ियों को मार्गफल कहते हैं) प्राप्त किया और १३ सहस्र मनुष्य प्रव्रजित हुए।

योन में

"थेर महारक्खित ने योन देश में जाकर 'कालकाराम' सूत्र का उपदेश किया। एक लाख सत्तर सहस्र मनुष्यों ने मार्गफल को प्राप्त किया और दस सहस्र ने प्रवज्या ली।"

हिमवन्त में

"थेर मज्झिम ने चार थेरों के साथ हिमवन्त प्रदेश में जाकर 'धर्मचक्र प्रवर्त्तन' सूत्र का उपदेश किया। यहां ८० करोड़ मनुष्यों ने मार्ग फल को प्राप्त किया। इन पांच थेरों ने हिमवन्त प्रदेश को पांच राष्ट्रों

ने हिमवन्त प्रदेश को पांच राष्ट्रों में बांट कर एक एक देश में पृथक्-पृथक् रूप से प्रचार किया। प्रत्येक राष्ट्र में एक एक लाख मनुष्य प्रसन्नता पूर्वक भगवान् बुद्ध के शासन में दीक्षित हुए।"

"महा प्रभावशाली थेर सोण, उत्तर थेर के साथ सुवण्णभूमि गया। उस समय वहां यह अवस्था थी कि राजा के घर में पुत्र उत्पन्न होते ही एक क्रूर राक्षसी समुद्र से निकल कर उसे खा जाती थी और पुनः समुद्र में समा जाती थी। जब ये वहां पहुंचे उसी समय राजा के घर में एक बालक ने जन्म ग्रहण किया। वहां के निवासियों ने इन थेरों को राक्षसी का सहायक समझ कर मारने के लिये शस्त्र उठा लिये। थेरों ने पूछा—तुम हमें क्यों मारने आये हो? इस पर मनुष्यों ने अपना अभिप्राय उन पर प्रकट कर दिया। तब थेरों ने कहा—हम तो शीलवान् श्रमण हैं न कि राक्षसी के सहायक। इसी समय राक्षसी भी हाथ में परशु लिये समुद्र से निकली। उसे देख मनुष्य हाहाकार करने लगे। परन्तु थेरों ने अपनी चामत्कारिक शक्ति के द्वारा बहुत से राक्षसों को प्रकट कर राजकुमार का भक्षण करने वाली राक्षसी को घेर लिया। इन्हें देख राक्षसी भाग खड़ी हुई। इस प्रकार सर्वत्र अभय की स्थापना कर, एकत्रित हुए लोगों को थेरों ने 'ब्रह्मजालसूत्र' का उपदेश किया। बहुत से मनुष्यों ने त्रिरत्न तथा पञ्चशील में आस्था दिखाई। ६० सहस्र मनुष्यों ने तो धर्म को स्वीकृत ही कर लिया। डेढ़ सहस्र पुरुषों और ढाई सहस्र स्त्रियों ने संघ में प्रवेश किया। इस घटना के पश्चात् सुवण्णभूमि में जितने भी राजकुमार उत्पन्न हुए वे सब सोणोत्तर (सोण और उत्तर के नाम से) कहलाये।"

सुवण्णभूमि में

इस प्रकार इन प्रचारक मण्डलों के कार्यों का वर्णन कर महावंश लिखता है—

महोदयस्यापि जिनस्स कड्ढनं,
विहाय पत्तं अमतं सुखम्पिते ।
करिंसु लोकस्स हितं तहिं तहिं,
भवेय्य को लोकहिते पमादवा ॥

अर्थात् इन थेरों ने अमृत से भी बहुमूल्य अपने आनन्द सुख का परित्याग कर, सुदूरवर्ती देशों में भटक कर, सब कष्टों को सहकर, संसार का हितसाधन किया था। निःसन्देह ये धन्य हैं।[1]

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि महावंश का वर्णन बहुत सी चामत्कारिक घटनाओं से परिपूर्ण है, जो कि निःसन्देह तथ्य नहीं मानी जा सकती। आकाश मार्ग से होकर जाना, एक एक प्रचारक का करोड़ों को अनुयायी बनाना, हिमवन्त देश की जन संख्या का ८० करोड़ होना—ये सब बातें ऐतिहासिक दृष्टि से कहां तक सत्य हो सकती हैं, यह पाठकगण स्वयमेव ही विचार सकते हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि अशोक के प्रचारक मण्डलों को अपने कार्य में आशातीत सफलता प्राप्त हुई थी। किन्तु, इन सफलताओं का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। यही कारण है कि महावंश ने अपने समय में बौद्धधर्म के विस्तृत प्रचार को देखकर एक एक थेर का प्रभाव मान लिया है। महावंश के इस वर्णन की पुष्टि अशोक के शिलालेखों से भी होती है। अशोक अपने त्रयोदश शिलालेख में लिखता है—

"धम्मविजय को ही देवताओं के प्रिय मुख्यतम विजय मानते हैं। यह धम्मविजय देवताओं के प्रिय ने यहां (अपने विजित में)

---

१. यह वर्णन महावंश के मूल पालिरूप को सम्मुख रखकर, पालि के विद्वान् श्रीयुत प्रो. ब्रह्मानन्द जी की सहायता से लिखा गया है।
देखिये, महावंश पालिरूप, परिच्छेद १२, श्लोक. ९–५५

तथा सभी अन्तों में—सैंकड़ों योजन दूर अर्षों (पश्चिमीय एशिया) में भी जहां अन्तिओक नामक योन राजा राज्य करता है और उस अन्तिओक के परे तुरुमय, अन्तिकिनि, मक तथा अलिकसुदर नाम के चार राजा राज्य करते हैं। तथा अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोल, पांड्य और ताम्रपर्णी में, इसी प्रकार इधर राजविषयों में (राजा के अपने राज्य में) योन-कम्बोजों में, नाभक में, नाभपंक्तियों में, भोजपितिनिकों में, अन्ध्र-पुलिन्दों में— सब जगह धर्मविजय प्राप्त की है। सभी जगह लोग देवताओं के प्रिय के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं और जहां देवताओं के प्रिय के दूत नहीं भी जाते वहां भी लोग, देवताओं के प्रिय के धर्मवृत्त को, विधान को, और धर्मानुशासन को सुनकर धर्म का अनुविधान (आचरण) करते हैं और करेंगे। इस प्रकार सब जगह जो विजय प्राप्त हुई है, वह प्रीति-रस-पूर्ण है।"[१]

इस प्रकार सीरिया, (जिसका राजा अन्तिओक द्वितीय) मिश्र, (जिसका राजा तुरुमय-टॉल्मी) उत्तरीय अफ्रीका, (जिसका राजा मक=मैगस) ऐपिरस, (मैसिडोनिया के पश्चिम में) (जिसका राजा अलिकसुदर=अलैग्जैंडर) चोल, पाण्ड्य, ताम्रपर्णी (लंका) आन्ध्र, कम्बोज, भोजपितिनिक (विदर्भ या बरार) और यूनानी जगत् में अशोक के जीवित रहते हुए ही बौद्धधर्म फैल गया था।

यूनानी जगत् में

तृतीय महासभा के पश्चात् विविध देशों में प्रचरार्थ जो प्रचारक-मण्डल भेजे गये थे उनमें से एक प्रचारक मण्डल यूनानी जगत् में भी गया था, इसका नेता 'महारक्खित' था। बौद्धसाहित्य की इस

१. देखिये—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, प्रो० जयचन्द विद्यालङ्कारकृत, भाग दूसरा, पृष्ठ ५८६

अनुश्रुति की पुष्टि अशोक के शिलालेख से भी होती है। परन्तु इस प्रचारक-मण्डल के प्रचारकार्य का कुछ भी विवरण उपलब्ध नहीं होता। फिर भी यह अवश्य ज्ञात होता है कि यूनानी जगत् पर बौद्धधर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। अशोक से ढाईसौ वर्ष पश्चात् इसी प्रदेश (जूडिया) में ईसा उत्पन्न हुए। इनकी शिक्षाओं पर बुद्ध के उपदेशों का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है।[१] इनकी पूजा-पाठ, क्रियाकलाप, गाथायें तथा विहार परस्पर बहुत मिलते हैं। तिब्बत के विहारों को देखकर आधुनिक योरुपीय यात्री उन्हें रोमन कैथोलिक गिर्जे समझ बैठे थे। मिश्र के थेराप्यूतों का जीवन भारतीय थेरों से बहुत अधिक मिलता था। आज इन थेराप्यूतों के नाम से 'थेराप्यूटिक्स' पाश्चात्य चिकित्सा का एक अंग बन गया है। कहीं अशोक द्वारा यूनानी जगत् में भेजे हुए चिकित्सक ही तो थेराप्यूत नहीं हैं ? अशोक के समय में कुछ बौद्धप्रचारक भी सिकन्दरिया पहुंच चुके थे और भारतीय व्यापारियों ने वहां पर अपनी बस्तियां भी बसाई थीं।[२] क्लेमेन्ट, क्रिसोस्टोम आदि प्राचीन ईसाई लेखकों का तो यहां तक कहना है कि सिकन्दरिया में भारतीयों के कई सम्प्रदाय भी विद्यमान थे। यह भी ज्ञात होता है कि मिश्र का यूनानी राजा टॉलमी, भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद कराने के लिये उत्सुक था। ये सब प्रमाण यूनानी जगत् पर भारतीय प्रभाव को पुष्ट करते हैं। इसलिये इसमें सन्देह नहीं कि अशोक के प्रचारक-मण्डल ने वहां भी अपना कार्य किया हो, जिसका इतिहास आज उपलब्ध नहीं होता।

---

१. देखिये, धर्मका आदि स्रोत, गंगाप्रसादकृत, अ० ३

२. देखिये, Outline of History, By Wells, Page 384-86 (Adition 1931)

बौद्धधर्म ही क्यों सफल हुआ ?

२३६ ई० पू० में अशोक परलोकगामी हुए। इस समय तक काश्मीर, गान्धार, माईसूर, उत्तरीय कनारा, बम्बई, महाराष्ट्र, यूनानी जगत्, (पश्चिमीय एशिया मिश्र पूर्वीययोरुप) हिमालय के प्रदेश, सुवर्ण भूमि तथा सीलोन में महात्मा बुद्ध की शिक्षायें फैल चुकी थीं। अब प्रश्न यह है कि इस प्रचार कार्य्य में बौद्धधर्म ही क्यों सफल हुआ ? जिस समय भगवान् बुद्ध भारत में अपनी शिक्षाओं का प्रचार कर रहे थे उस समय वे मैदान में अकेले ही न थे। लगभग उसी काल में जैनधर्म के प्रवर्त्तक वर्धमान महावीर, आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक मंखलिपुत्त गोसाल तथा अन्य कई सुधारक भी अपनी शिक्षाओं का प्रचार करने में तत्पर थे। इतिहास के विद्यार्थी के लिये यह जानना अत्यावश्यक है कि इन धर्मों की पारस्परिक टक्कर में बुद्ध को ही सफलता क्यों मिली ? क्योंकर बौद्धधर्म ने आर्यावर्त्त की कठिन प्राकृतिक सीमाओं को पार कर सात सौ वर्षों में ही एशिया के अधिकांश भाग को अधिकृत कर लिया ? और इतनी शीघ्रता से यह धर्म भारत, लंका और बर्मा में फैलकर पश्चिम एशिया में से होता हुआ मिश्र और यूनान में भी प्रविष्ट होगया ?

बौद्धधर्म ही क्यों सफल हुआ ?

विश्व के इतिहास में किसी भी महापुरुष के अनुयायियों ने अपने गुरु का आदेश पालने में इतना उत्साह, इतनी तत्परता और इतना त्याग प्रदर्शित नहीं किया, जितना गौतम बुद्ध के अनुयायियों ने। इसके शिष्यों ने सांसारिक सुखों को लात मार कर, आजीवन अपने सम्बन्धियों का मुंह तक देखे बिना, सेवा का परम व्रत धारण कर, मीलों ऊंची, बर्फ से ढकी, हिमालय और पामीर की चोटियों पर केवल चीवर ओढे तथा भिक्षापात्र लिये हुए, मनुष्य जाति के कल्याण की सच्ची लगन से प्रेरित होकर, मीलों तक घने जंगलों

प्रचारकों की लगन

और निर्जन प्रदेशों में से होकर, पड़ाव रहित मार्गों को पार कर, किसी प्रकार की रसद-सामग्री का प्रबन्ध न होते हुए भी अपने से सर्वथा अपरिचित लोगों में भगवान् के सत्य संदेश को सुनाया। इसी के अनुयायी अपने जीवन को हथेली पर रखकर, मार्गों से सर्वथा अनभिज्ञ होते हुए समुद्रीय तूफानों का सामना कर चार चप्पुओं की छोटी छोटी नौकाओं से विशाल महासागर की तरल तरङ्गावलि को पार कर लंका और बर्मा में भी प्रविष्ट हुए। ये प्रचारक कोई साधारण आदमी न थे। इन्हीं में उस समय के संसार भर में सबसे बड़े सम्राट् अशोक का पुत्र कुमार महेन्द्र तथा आजन्म-कुमारी संघमित्रा थी। स्वयं महात्मा बुद्ध भी शाक्य गणराज्य के राजकुमार थे। वही राजकुमार जब नंगे पैर चलकर द्वार द्वार पर भिक्षा मांगता हुआ उपदेश देता था तो उसका कितना प्रभाव पड़ता होगा—यह समझ सकना कुछ कठिन बात नहीं है।

सारनाथ में धर्मचक्र का प्रवर्त्तन करते हुए गौतम बुद्ध ने ही पहले पहल अपने शिष्यों को देश-देशान्तरों तथा द्वीप-द्वीपान्तरों में धर्म का संदेश ले जाने की प्रेरणा की थी। ईसाइयों और मुसलमानों का प्रचार कार्य्य तो गौतम से शताब्दियों पीछे की वस्तु है। संसार के सभी प्रचारकों के अग्रगामी गौतम बुद्ध ही थे।

संगठन की श्रेष्ठता

बुद्ध एक संघराज्य में उत्पन्न हुए थे। इसलिये संघराज्य से उन्हें बहुत प्रीति थी। यही कारण है कि उन्होंने भिक्षुओं को संगठित करते हुए उनका भी एक संघ बनाया, जिसका आधार प्रजातन्त्र था। वे अपने पीछे किसी एक को महन्त नहीं बना गये। परिणाम यह हुआ कि साधारणतया सम्प्रदायों में जो बुराइयां आ जाती हैं, बौद्ध संघ उनसे बचा रहा। भगवान् बुद्ध का अन्तिम उपदेश यही था—"अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्ञसरणा धम्म-

दीपा धम्मसरणा अनञ्ञसरणा।" अर्थात् आनन्द ! अब तुम अपनी ही ज्योति में चलो, अपनी ही शरण जाओ, किसी दूसरे की शरण मत जाओ, धर्म की ज्योति और धर्म की शरण जाओ। बौद्ध धर्म की सफलता का यह दृढ़ आधार है। इससे शीघ्र ही वह धर्मचक्र सुदूर देशों में चलने लगा जिसका एक दिन गौतम ने स्वप्न लिया था।

गौतम के समय समाज में जो कुरीतियां और अन्धविश्वास प्रचलित थे, उनके विरुद्ध इतनी प्रबल क्रान्ति इतने बड़े व्यक्ति ने अभी तक न की थी। यज्ञों में पशुओं की जो बलि दी जाती थी, समाज में शूद्रों पर जो अत्याचार होते थे, विविध प्रकार की जो तांत्रिक क्रियायें प्रचलित थीं, बड़े बड़े विद्वानों का जो जीवन सूखे दार्शनिक विवादों में बीत जाता था तथा कोरे हठयोग और झूठी तपस्या पर जो बल दिया जाता था—इन सबके विरुद्ध उन्होंने प्रबल आन्दोलन किया। उस दिन जब गौतम ने एक स्थान पर खड़े होकर यह घोषणा की कि—समाज में मनुष्य की स्थिति जन्म से न होकर गुणकर्मानुसार होती है, तो सहस्रों व्यक्ति सामाजिक बन्धनों की शृंखलायें तोड़ने के लिये उनके चारों ओर इकट्ठे हो गये। इस प्रकार सहज में ही लाखों मनुष्य, उनकी उदार नीति के कारण उनके अनुगामी बन गये। उनका सिद्धान्त, सरल था। उनका मार्ग, मध्यम था। अहिंसा में उनका विश्वास था। उनके विचार बुद्धि में जम जाते थे। उनका उपदेश क्रियात्मक था। उनकी दृष्टि में सब समान थे। कोई बड़ा-छोटा नहीं था। उपालि नाई था, आम्रपाली वेश्या थी, चुन्द लोहार था और मल्लिका दासी थी। किन्तु गौतम के हृदय में इनके लिये भी किसी से कम आदर न था।

समयानुकूल सिद्धान्त

गौतम द्वारा उठाई हुई आवाज का अनुमोदन जितने प्रभावशाली व्यक्तियों ने किया, वैसा अन्य किसी भी धर्मसुधारक का नहीं हुआ। मगध, कोसल, अवन्ति और कौशाम्बी के राजा—बिम्बसार,

महान् व्यक्तियों द्वारा प्रोत्साहन

प्रसेनजित्, प्रद्योत तथा उदयन, शाक्य, लिच्छवि, मल्ल, भग्ग, कोलिय तथा मोरिय आदि गण, अनाथपिण्डक से समृद्ध व्यापारी, यश से प्रतिष्ठित नागरिक, जीवक से राजवैद्य, अभयराजकुमार से प्रतिभाशाली व्यक्ति तथा शारिपुत्र और मौद्गल्यायन से विद्वान्, महाप्रजापति गौतमी, सामावती, क्षेमा और भद्राकापिलानी सी रानियां और कुलीनदेवियां—ये सब संघ में शरण ले चुके थे। इन सबसे बढ़ कर बुद्ध का अनुगामी सम्राट् अशोक था, जिसने बुद्ध द्वारा जलाई हुई ज्ञान की ज्योति को हाथ में लेकर, गांव से गांव, नगर से नगर, प्रान्त से प्रान्त, देश से देश और एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक उस ज्ञान के प्रकाश को फैला दिया। बुद्ध के अहिंसा तथा मैत्री तत्त्व को सम्मुख रखकर धर्मशालायें, कुएं, सड़कें तथा चिकित्सालय न केवल अपने राज्य में अपितु पड़ोसी राज्यों में भी बनाये। शिकार, जीवहत्या तथा पशुओं को दागना बन्द कर दिया। अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति संघ को अर्पित कर दी। नष्ट हो रहे बुद्ध के ऐतिहासिक स्थानों पर उनकी स्मृतियां स्थिर कराईं तथा अपने धर्मसंदेश को शिलाओं और स्तम्भों पर उत्कीर्ण करा कर उन्हें देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक स्थापित कराया। अशोक के इन कृत्यों का परिणाम यह हुआ कि आज तक संसार की एक तिहाई मनुष्यजाति प्रतिदिन बुद्ध का नाम ईश्वर मानकर जपती है।

प्रचार शैली

गौतम की प्रचार शैली बहुत रोचक थी। वे अपने उपदेश स्थानीय लोकभाषा में ही दिया करते थे। अपने श्रोताओं की योग्यता को देख कर तदनुसार ही वे व्याख्यान देते थे। अपने विरोधियों की आलोचना वे कभी नहीं करते थे, जब कि आजीवक और जैनी परस्पर गाली गलौज तक कर डालते थे। दूसरे सम्प्रदायों के प्रति उनके विचार इतने उदार थे कि वे उनको भी दान देने की

प्रेरणा करते थे। बुद्ध अपने शिष्यों को प्रत्येक बात उदाहरणों और दृष्टान्तों द्वारा समझाया करते थे जबकि प्राचीन परिपाटी सूत्ररूप में उपदेश देने की थी। उनकी प्रचारशैली की उत्तमता के कारण इसे फैलने में बहुत सहायता मिली।

श्रेणीभेद का अभाव

विविध जातियों में बौद्धधर्म के प्रसार का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि इसमें समाविष्ट होने पर कोई श्रेणीभेद न रहता था जब कि हिन्दूधर्म अनेक श्रेणियों और जातियों में बंटा हुआ था।

मीनान्डर और कनिष्क का भारतीय धर्म को अपनाना

सिकन्दर के बाद और विशेष कर मौर्य्यसम्राट् अशोक के पश्चात् ग्रीक, पार्थियन, शक, यूची और कुशान लोगों के आक्रमण कई शताब्दियों तक भारत पर होते रहे। भारतीय धर्म की उदारता से तथा यहां की उच्च संस्कृति से प्रभावित होकर विदेशी आक्रान्ताओं ने यहीं के धर्म को अपना लिया। मीनान्डर जो कि ग्रीक था, बौद्ध बन गया। इसने बौद्ध भिक्षु नागसेन से जो प्रश्न किये वे मिलिन्द पञ्ह (मिलिन्द प्रश्न) नाम से विख्यात हैं। यह ग्रन्थ पाली साहित्य का अनुपम रत्न समझा जाता है। ग्रीक और पार्थियन लोग अपने सिक्कों पर प्राकृत भाषा का प्रयोग करते थे। वे अपने सिक्कों पर ध्रमिश्र (धार्मिक) लिखते थे। इससे स्पष्ट है कि वे बौद्ध मतावलम्बी थे।[१] यूची राजा कफ्स (कैडफाईसस्) द्वितीय के सिक्कों पर हाथ में त्रिशूल लिये हुए शिव की मूर्ति है। इससे पता लगता है कि यह शैव था। परन्तु इन विदेशी आक्रान्ताओं में भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा समर्थक कुशान सम्राट् कनिष्क था। इसने बौद्धधर्म के प्रसार में अनुपम उत्साह प्रदर्शित किया था।

---

१. देखिये, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, विभाग २, पृष्ठ सं० ७९१

कनिष्क का साम्राज्य उज्जैन और रांची से लेकर गोबी के मरुस्थल तक विस्तृत था। काबुल, काश्मीर, उत्तरीय भारत तथा चीनी तुर्किस्तान—ये सब प्रदेश इसके राज्य के अन्तर्गत थे। इस सम्पूर्ण प्रदेश में बौद्धधर्म को प्रचारित करने का श्रेय कनिष्क को ही प्राप्त है। यही कारण है कि बौद्धधर्म के विस्तार में अशोक के पश्चात् कनिष्क का ही स्थान है। विदेशी आक्रान्ताओं में यही एक राजा ऐसा हुआ जिसका नाम आज भी भारतवर्ष की सीमाओं के पार सबसे अधिक आदर से स्मरण किया जाता है। तिब्बत, चीन, मंगोलिया और खोतन के साहित्य में कनिष्क को विशेष गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। कनिष्क बौद्धधर्म में किस प्रकार प्रविष्ट हुआ ? इस विषय में अनेक अनुश्रुतियां पाई जाती हैं। ये सब स्वरूप में लगभग वैसी ही हैं जैसी अशोक के विषय में कलिंग की अनुश्रुति है। 'श्रीधर्मपिटक निदान सूत्र' नामक एक चीनी ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि कनिष्क ने पाटलिपुत्र पर चढ़ाई कर वहां के राजा को हराया और उससे पहले तो भारी हरजाना मांगा, पर पीछे से बौद्ध विद्वान् 'अश्वघोष' तथा भगवान् बुद्ध का कमण्डलु लेकर सन्तुष्ट होगया। अश्वघोष के धर्मोपदेशों से प्रभावित होकर कनिष्क ने बौद्धधर्म स्वीकार किया। अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) में एक चार सौ फ़ीट ऊंचा, तेरह मंजिला स्तूप बनवाया। यह नवम शताब्दी तक खड़ा रहा। यदि यह आज भी होता तो संसार के महान् आश्चर्यों में गिना जाता। बौद्धधर्म की सेवाओं के कारण ही इसे 'द्वितीय अशोक' माना जाता है। बौद्धों की चतुर्थ महासभा इसी ने बुलवाई थी। कहा जाता है कि अपने अतिरिक्त समय में कनिष्क एक भिक्षु से बौद्ध ग्रन्थ पढ़ा करता था। उनको पढ़ते हुए इसने विभिन्न सम्प्रदायों के परस्पर विरोधी सिद्धांतों से तंग

आकर, वास्तविक सत्य का निर्णय करने के लिये अश्वघोष के आचार्य 'पार्श्व' से सभा का प्रबन्ध करने की प्रार्थना की।

चतुर्थ संगीति

कनिष्क की प्रार्थना पर आचार्य्य पार्श्व ने चतुर्थ संगीति को आमंत्रित किया। यह सभा काश्मीर की राजधानी श्रीनगर के समीप 'कुण्डलवन' विहार में हुई थी। इसके सभापति 'वसुमित्र' थे और उपसभापति अश्वघोष को चुना गया था। इसमें ५०० विद्वान् एकत्र हुए थे। ये सब हीनयान मार्ग के सर्वास्तिवादिन् सम्प्रदाय को मानने वाले थे। इन विद्वानों ने समस्त बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ कर सब सम्प्रदायों के मतानुसार त्रिपिटक पर भाष्य तय्यार किया। सूत्र, विनय और अभिधर्म–प्रत्येक पर एक एक लाख श्लोक संस्कृत में रचे गये। ये भाष्य क्रमशः उपदेश, विनय–विभाषा शास्त्र, और अभिधर्म–विभाषा–शास्त्र कहलाते हैं। इन भाष्यों को ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण करा कर एक स्तूप के मध्य में, जो इसी उद्देश्य से बनवाया गया था, स्थापित किया गया। इस भाष्य का चीनी अनुवाद तो मिलता है किन्तु उस स्तूप के अवशेषों का अभी तक कुछ भी पता नहीं चला। यदि किसी प्रकार यह भाष्य उपलब्ध हो जावे तो त्रिपिटक का प्रथम तथा सब से बड़ा भाष्य प्राप्त हो जायेगा। भाष्य के अतिरिक्त विविध सम्प्रदायों के पारस्पारिक भेद को मिटाने के लिये भी इस सभा में प्रयत्न किया गया था। ऐसे नियम बनाये गये थे जो सब सम्प्रदायों को मान्य हों।

बौद्ध संघ में भेद के कारण

यह संगीति बौद्धसंघ की अन्तिम संगीति कही जाती है। अन्य संगीतियों की तरह इस में भी पारस्परिक मत भेद को दूर करने का प्रयत्न किया गया था। गौतम के परिनिर्वाण, के पश्चात् से ही बौद्धसंघ में आन्तरिक भेद दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें दूर करने के लिये तथा बुद्ध की शिक्षाओं का प्रामाणिकरूप तय्यार

करने के लिये भिन्न भिन्न समयों में चार बौद्ध सभायें बुलाई गई। बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने पर इन विवादों के निम्नलिखित कारण ज्ञात होते हैं:—

अनुयायियों के पुराने विचार

(क) बुद्ध के बहुत से अनुयायी संघ में आने से पूर्व विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों को मानने वाले थे। वे बौद्धधर्म के नैतिक उपदेशों से ही संन्तुष्ट न होकर बुद्ध के उपदेशों की खींच तान कर व्याख्या करने लगे।

स्थानीय भेद

(ख) बुद्ध के पश्चात् बौद्ध संघ का कोई मुखिया न होने से मतभेद बहुत बढ़ गया। प्रत्येक स्थान पर उनके उपदेशों की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की जाने लगी। उनमें मिलावट आ जाने पर भी स्थानीय लोग यही समझते रहे कि यही प्रामाणिक है।

शिष्यों की योग्यता में भेद

(ग) बुद्ध के दस मुख्य थेर थे।[1] ये सब एक एक वस्तु में प्रवीण थे। शारिपुत्र–प्रज्ञा में, मौद्गल्यायन–यौगिक विभूतियों में अनुरुद्ध–दिव्यदृष्टि में, महाकाश्यप–धूतवाद में पूर्णमैत्रायणीपुत्र धर्मकथिकों में, महाकात्यायन–संक्षिप्त भाषणों का विस्तृतार्थ समझाने वालों में, राहुल–शिक्षाकामों में, रेवत आरण्यकों में, आनन्द–बहुश्रुतों में और उपालि–विनयधरों में प्रमाणिक माना जाता था।[2] इसका परिणाम यह हुआ कि एक एक विषय में एक एक मान्य बनता गया। इस से विवाद होना स्वाभाविक था। यही कारण है कि ह्वेन्-त्साङ् लिखता है–"अभिधम्मिक-शारीपुत्र की, । विनयी-उपाली

शारिपुत्र, मौद्गल्यायन, अनुरुद्ध, महाकाश्यप, पूर्णमैत्रायणीपुत्र, महाकात्यायन, राहुल, रेवत, आनन्द, उपाली।

२ देखिये, Early History of the Spread of Budhism and The Budhist Schools, Page 204.

की, श्रामणेर-राहुल की, सूत्रवादी-पूर्णमैत्रायणपुत्र की, समाधि वाले मौद्गल्यायन की और भिक्षुकियां आनन्द की पूजा करती हैं।"[1]

(घ) बुद्ध के उपदेश उनके जीवित रहते हुए लेखबद्ध न किये जा सके। परिणामतः स्मृति के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न अंश स्मरण रक्खे गये। यही कारण है कि प्रथम महासभा में आनन्द से कहा गया—तुम सूत्रों का पाठ करो और उपालि से कहा गया—तुम विनय का पाठ करो। इसका कारण यही था कि एक वस्तु आनन्द को स्मरण थी और दूसरी उपालि को। त्रिपिटक को नियमित पाठ द्वारा स्थिर रखने का कार्य्य भिन्न भिन्न व्यक्तियों पर निर्भर था। यहां तक कि कई विहारों में भिक्षुओं के निवास के लिये भी यह नियम था कि सौत्रान्तिक लोग सौत्रान्तिकों के साथ, विनयधर—विनयधरों के साथ तथा धम्मकथिक—धम्मकथिकों के साथ रहें।[2] इससे विभिन्न सम्प्रदायों में विवाद उठना अस्वाभाविक न था। स्वयं बुद्ध के जीवन काल में ही कौशाम्बी में विनयधरों और धम्मकथिकों में विवाद उत्पन्न हो गया था, जिसे बुद्ध को स्वयं निपटाना पड़ा था।

उपदेशों का लेखबद्ध न होना

(ङ) बुद्ध मध्यमार्ग के उपदेष्टा थे। स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार, विशेष स्थान के लिये, आरण्यकों व सीमान्त निवासियों के लिये उन्होंने नियमों में शिथिलता भी कर दी थी। उनका विश्वास था कि मानसिक नियंत्रण, शारीरिक और बाह्य नियंत्रणों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिये वे कभी कभी नियम में छूट भी देते थे। अंगुत्तर निकाय में एक स्थान पर घटना आती है कि—वज्जीपुत्तक नाम का एक भिक्षु बुद्ध की सेवा में उपस्थित होकर कहने

बुद्ध की उदार दृष्टि

१. देखिये, वही ग्रन्थ, पृष्ठ २०७

२. देखिये वही ग्रन्थ, पृष्ठ २१०

लगा—महाराज ! ढाई सौ नियमों का पालन तो मैं नहीं कर सकता । इस पर बुद्ध ने कहा—क्या तुम अधिशील, अधिचित्त और अधिप्रज्ञा—इन तीन नियमों का पालन कर सकते हो ? उत्तर में आगन्तुक ने अनुमति दी। इसी प्रकार विधि, संस्कार, कर्मकाण्ड आदि पर तात्कालिक लोगों के विश्वास को देखकर बुद्ध ने इनमें भी छूट दे दी थी। यद्यपि महात्मा बुद्ध ने प्रारम्भ में तपस्या को हटाकर मध्यमार्ग का उपदेश दिया था पर अपने अन्तिम उपदेशों में उन्होंने इसके लिये भी अनुमति प्रदान कर दी थी।

बौद्ध सम्प्रदाय

ये सब कारण थे जो बौद्धों को विचारों की दृष्टि से अनेक भागों में बांट रहे थे। किन्तु इस विचारभेद ने सम्प्रदायभेद उत्पन्न न किया था। जिनके अपने ही धर्मस्थान हों, पुजारी हों तथा पृथक् संगठन हों—ऐसी संस्थायें बौद्धसंघ में बहुत कम थीं। बुद्ध के उपदेशों में सम्प्रदायों की कोई गुञ्जायश ही न थी, क्योंकि वे दार्शनिक विचारों में पर्याप्त ढील देते रहे थे। वैशाली के भिक्षुओं में जो विवाद उठा था, वह दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में न होकर नियमों के संबन्ध में था। उसके पश्चात् भी उन्होंने कोई पृथक् सम्प्रदाय का रूप धारण किया हो और अपने विहार पृथक् बनाये हों, बौद्धसाहित्य से ऐसा ज्ञात नहीं होता। ईसा से ढाई शताब्दी पूर्व 'कथावत्थु' नामक जो ग्रन्थ तय्यार किया गया था, उसमें विवाद को उत्पन्न करने वाले दो सौ विषयों का उल्लेख है। परन्तु इनमें ऐसे किसी भी विषय का वर्णन नहीं जो पृथक् सम्प्रदायों को पैदा करे। कथावत्थु से पीछे लिखे गये ग्रन्थों में—दिव्यावदान और मिलिन्दपञ्ह में—भी सम्प्रदायों की सत्ता के संबन्ध में कोई निर्देश नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ईसा से तीन चार सौ वर्ष बाद तक अर्थात् बुद्ध से एक सहस्र वर्ष पीछे तक भी बौद्धसंघ में सम्प्रदायवाद की प्रवृत्ति नहीं आई थी। परन्तु पांचवीं शताब्दी के पश्चात्

के ग्रन्थों में—दीपवंश, महावंश[1] आदि में—प्रसिद्ध अठारह सम्प्रदायों का विचार पाया जाता है। इसी के कुछ काल अनन्तर तिब्बत के तीन ग्रन्थों में तथा चीन के पांच ग्रन्थों में इन अठारह सम्प्रदायों की सूचियां मिलती हैं। परन्तु ये सूचियां एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। यदि इन सूचियों में से सम्प्रदायों के कुल नामों का जोड़ किया जाये तो उनकी संख्या तीस तक पहुंचती है। इससे स्पष्ट है कि

[1] देखिये, महावंश, परिच्छेद ५, श्लोक १–१०

या महाकस्सपादीहि महाथेरेहि आदि तो।
कता सद्धम्मसंगीति थेरियाति पवुच्चति॥
एकोव थेरवादोसो आदिवस्ससते अहु।
अञ्ञाचरियवादातु ततो ओरा अजायिसुं॥
ते हि सङ्गीतिकारे हि थेरेहि दुतियेहिते।
निग्गहीता पापभिक्खू सब्बे दससहस्सका॥
अकं साचरियवादं महासंगीतिनामकं।
ततो गोकुलिका जाता एकब्बोहारिकापि च॥
गोकुलिकेहि पञ्ञत्तिवादा बाहुलिकापि च।
चेतियवादा तेस्वेव महासंगीतिनामका॥
पुनापि थेरवादेहि महिंसासक भिक्खवो।
वज्जिपुत्तक भिक्खू च दुवे जाता इमे खलु॥
जाताति धम्मुत्तरिया भद्रयानिक भिक्खवो।
छन्नागारा सम्मितिया वज्जिपुत्तिय भिक्खवो॥
महिंसासक भिक्खू हि भिक्खू सब्बत्थिवादिनो।
धम्मगुत्तिय भिक्खू च जाता खलु इमे दुवे॥
जाता सब्बत्थिवादी हि कस्सपिया ततो पन।
जाता सङ्कन्तिका भिक्खू सुत्तवादा ततो पन॥
थेरवादेन सहते होन्ति द्वादसिमेपि च।
पुब्बे वुत्ता छवादा च इति अट्ठारसाखिला॥

बौद्धसंघ निश्चिंतरूप से अठारह सम्प्रदायों में बंटा हो, ऐसी बात न थी। पांचवीं शताब्दी से पूर्व के ग्रन्थों में तो इसका वर्णन तक नहीं। किन्तु इसके पश्चात् एकदम स्थान स्थान पर अठारह सम्प्रदायों की सत्ता का वर्णन उपलब्ध होता है। इसकाहेतु सम्भवतः यह था कि बुद्ध ने संघ में भेद होने के जो अठारह कारण बताये थे उन्हीं को सम्प्रदायभेद मान कर सभी जगह पांचवीं शताब्दी के बाद से अठारह सम्प्रदायों की चर्चा उठ खड़ी हुई । ये अठारह सम्प्रदाय कौनसे थे? इसका किसी को ज्ञान न था। यही कारण है कि चीन, तिब्बत और सीलोन के विवरणों में भिन्न भिन्न सम्प्रनदाय गिनाये गये हैं, जिनका कुल जोड़ तीस तक पहुंच जाता है। यदि सचमुच कोई इस प्रकार के सम्प्रदाय थे, तो क्या उनके नाम तक भी ज्ञात न थे ? क्या वे इतने अपरिचित थे कि बौद्ध साहित्य के कथावत्थु, दिव्यावदन, मिलिन्दपञ्ह आदि ग्रन्थों के प्रसिद्ध लेखक तक भी उनको न जानते थे ? इतना ही नहीं, चौथी से सातवीं शताब्दी तक भारत आने वाले चीनी यात्रियों के विवरणों से भी यही बात पुष्ट होती है कि तब तक इस प्रकार के १८ सम्प्रदाय विकसित न हुए थे। वे लिखते हैं सब विहारों में सब भिक्षुओं का समान आदर होता है। यात्री भिक्षुओं के विचारों के विषय में कोई पूछताछ नहीं की जाती। इन सब बातों से यही परिणाम निकाला जा सकता है कि तथाकथित अठारह सम्प्रदाय तो न थे परन्तु भिन्न भिन्न विचारधारायें अवश्य चल रही थीं। ये सब विचारधारायें किसी गुरु या स्थान विशेष के कारण से थीं। इनकी संख्या घटती बढ़ती रहती थी।१ प्रायः दो चार ही

१. देखिये , विस्तृत ज्ञान के लिये, Encyclopaedia of Religion and Ethics, Sects, Budhists By Rhys Davids.

मुख्य सम्प्रदाय कहे जा सकते हैं, जिनमें हीनयान, महायान, वज्रयान तथा महासंघिक आदि प्रमुख हैं । [1]

चीन और खोतन में बौद्ध-धर्म का प्रवेश

कुशान वंश तक विदेशों में भी बौद्धधर्म का प्रचार हो चुका था इसका वर्णन आगे किया जायगा । चतुर्थ महासभा के पश्चात् बौद्धसंघ में सम्मतिभेद होने पर भी, कुशानों का साम्राज्य मध्य-एशिया तक विस्तृत होने से खोतन और चीन में बौद्धधर्म को प्रविष्ट करने के लिये भिक्षुओं को बहुत बड़ी प्रेरणा प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त कुशानों में अनुग्रहण की जो अद्भुत शक्ति थी उसके द्वारा भी इन्होंने सारे मध्य एशिया में स्वयं स्वीकृत किये हुए धर्म का बड़ी प्रबलता के साथ प्रचार किया। यही कारण था कि कुशान वंश की समाप्ति तक खोतन और चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश हो चुका था। इस प्रकरण में यह स्मरण रखना चाहिये कि इस समय बौद्धधर्म का गुरुता केन्द्र मगध से हटकर उत्तर-पश्चिमीय भारत बन रहा था। बौद्धों की चतुर्थ संगीति मगध में न होकर काश्मीर में हुई थी। इसके अतिरिक्त कुशानों (बौद्धसम्राटों) की राजधानी भी पेशावर थी। [2] जिन प्रचारकों ने इस काल में सुदूर प्रदेशों में बौद्धधर्म का प्रचार किया वे भी उत्तर-पश्चिमीय भारत से ही गये थे। खोतन में बौद्धधर्म का सर्वप्रथम उपदेष्टा अर्हत वैरोचन, और चीन में कश्यपमातङ्ग तथा धर्मरत्न इसी दिशा से अग्रसर हुए थे।

हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान

जिस समय बौद्धप्रचारक विविध देशों में भगवान् बुद्ध के पुनीत संदेश को फैला रहे थे उसी समय मध्यदेश में बौद्धधर्म के विरुद्ध एक भयंकर प्रतिक्रिया उठ रही थी। ब्राह्मण-तत्त्व ने मौर्य्यसम्राटों की धर्मविजय की नीति से तंग आकर पुष्यमित्र

---

१. देखिये, परिशिष्ट सं० ३

२. इस परिवर्तन का मुख्य कारण हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान था।

के नेतृत्व में क्रान्ति का झण्डा खड़ा किया। मौर्य्यों के पश्चात् से शुंगों, कण्वों, आन्ध्रों और गुप्तों के समय तक भारत का प्रधान धर्म हिन्दूधर्म ही बना रहा। अश्वमेध का पुनरुद्धार इस युग की मुख्यतम घटना है। इसी के नाम से कई लेखक इस युग का नाम भी 'अश्वमेधपुनरुद्धार युग' रखते हैं। हरिवंशपुराण के अनुसार जनमेजय के पश्चात् पुष्यमित्र ने अश्वमेध का पुनराहरण किया। उसके समकालीन राजा सातकर्णी ने अश्वमेध किया। वाकाटक राजाओं ने भी अश्वमेध का उद्धार किया। गुप्त राजाओं में समुद्रगुप्त तथा कुमारगुप्त ने अश्वमेध किया। एक तरह से इन सात शताब्दियों में जितने भी नये साम्राज्य खड़े हुए उन सभी के संस्थापकों ने अश्वमेध का पुनरुद्धार करना अपना कर्त्तव्य समझा। अश्वमेध के पुनरुद्धार का तात्पर्य था--वैदिक आदर्शों की पुनः स्थापना करना। मनुस्मृति; जिसकी रचना शुंगकाल के आरम्भ में हुई, डंके की चोट इसी आदर्श का प्रतिपादन कर रही है।

बौद्धधर्म पर हिन्दूधर्म का प्रभाव

एक ओर तो हिन्दूधर्म बौद्धधर्म का स्थान छीन रहा था दूसरी ओर बौद्धधर्म पर भी इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ रहा था। स्वयं कुशान सम्राटों में कनिष्क और हुविष्क ही दो ऐसे सम्राट थे जो बौद्ध थे किन्तु वासुदेव, कफ्स द्वितीय आदि सम्राटों का झुकाव शैवधर्म की ओर था। कफ्स द्वितीय के सिक्के पर त्रिशूलधारी शिव की मूर्ति बनी हुई है। सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों का झुकाव भी हिन्दू धर्म की ओर था। उनकी राजसभा में बौद्ध भिक्षुओं की अपेक्षा ब्राह्मण पण्डितों का अधिक आदर था। देशभाषा की अपेक्षा वे संस्कृत को अधिक प्रोत्साहन देते थे। रुद्रदामन् का गिरनार पर्वत का, तथा वसिष्क का मथुरा में प्राप्त शिलालेख संस्कृत में लिखा हुआ है। जहां अशोक के समय शिलालेख पाली में लिखे जाते थे वहां

गुप्तों के समय प्रायः सभी लेख संस्कृत में लिखे गये। उनके सिक्कों पर भी संस्कृतभाषा के लेख अंकित हैं। कनिष्क के समय से शिलालेखों में हिन्दू मंदिरों, देवताओं, ब्राह्मणों और यज्ञों का उल्लेख मिलने लगता है। बढ़ते बढ़ते यह प्रवृत्ति यहां तक पहुंची कि पांचवी शताब्दी के तीन चौथाई लेख हिन्दूधर्म संबन्धी हैं। महायान, जो इस युग के बौद्धों का प्रमुख सम्प्रदाय था, पर्याप्तरूप में हिन्दूधर्म में परिवर्तित हो चुका था। पहले बुद्ध की मूर्त्तियां बहुत नहीं बनाई जाती थीं, इसीलिये बुद्ध की मौर्यकालीन मूर्तियां बहुत कम मिलती हैं। परन्तु अब से बुद्ध देवता के रूप में पूजे जाने लगे और उनकी मूर्त्तियां प्रचुर मात्रा में बनने लगीं। यहां तक कि महायान सम्प्रदाय का सम्पूर्ण साहित्य भी संस्कृत भाषा में लिखा गया। इस से स्पष्ट है कि बौद्धधर्म धीरे धीरे अपने प्रतिस्पर्धी हिन्दूधर्म को स्थान दे रहा था। जो बौद्धधर्म कनिष्क के समय तक भारत का प्रधान धर्म समझा जाता था वही गुप्तों के समय थोड़े से लोगों का धर्म रह गया था।

इधर जब गुप्तों के नेतृत्व में हिन्दू धर्म फल फूल रहा था उसी समय नालन्दा के बौद्ध पण्डित जत्थे बांध कर चीन पहुंच रहे थे। चौथी शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक लगातार भारतीय पण्डित नालन्दासे चीन जाते रहे। वहां जाकर इन्होंने बौद्ध साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद किया। ज्यों ज्यों बुद्ध की शिक्षायें चीनियों में फैलने लगीं त्यों त्यों चीनी लोग भी शाक्य मुनि के देश की यात्रा को उत्सुक हो उठे। फाहियान, ह्वेनत्साङ्, ईचू-चिङ्, शि-चु-मेङ्, ये सब यात्री इसी दृष्टि से भारत आये थे। लौटते हुए ये अपने साथ बहुत से ग्रन्थ ले गये। कालान्तर में उनका उल्था किया गया। चीनियों की तरह लंका के राजा श्री मेघवर्ण ने भी बोधगया आवागमन

में विहार बनवाने के लिये एक दूत मण्डल समुद्रगुप्त की सेवा में भेजा था। समुद्रगुप्त की अनुमति से वहां पर विहार बनवाया गया। यह तीन मंजला था। इसमें छः भवन और तीन स्तूप थे। गुप्त वंश की समाप्ति तक बौद्धधर्म चीन के विशाल मैदानों को पार करता हुआ कोरिया, और कोरिया से समुद्रीय मार्ग द्वारा जापान तक पहुंच चुका था। इस प्रकार गुप्तों तक यद्यपि भारत में तो बौद्धधर्म केवल थोड़े से ही भाग में रह गया था परन्तु भारत के ऊपर वह लगभग सम्पूर्ण एशिया का प्रधान धर्म बन चुका था।

बौद्धधर्म को पुनः प्रोत्साहन

गुप्तों के पश्चात् उत्तर में वर्धन, नीचे चालूक्य, गुजरात में वल्लभी और राजपूताने में गुर्जर लोग शासन करने लगे। इस समय के राजा यद्यपि हिन्दू थे परन्तु उनकी नीति सहिष्णुतापूर्ण थी। इन सब सम्राटों में हर्षवर्धन ही एक ऐसा सम्राट् था जिसने बौद्ध धर्म को विशेषरूप से संरक्षण दिया था। हर्षवर्धन का बौद्धधर्म की ओर झुकाव कराने वाला ह्वेन्-त्साङ् था। इसी के प्रभाव से हर्ष ने बौद्धों को विशेष रूप से दान दिया। काश्मीर के राजा से बुद्ध की दन्तधातु छीन कर कन्नौज के पश्चिम में एक विहार में सुरक्षित रक्खी। नालन्दा विश्वविद्यालय में पीतल का एक देवालय बनवाया। उड़ीसा में महायान का प्रचार करने के लिये सागर-मति, प्रज्ञारश्मि, सिंहरश्मि और ह्वेन्-त्साङ् को भेजा। गंगा के तट पर सौ फीट ऊंचे एक सहस्र स्तूप खड़े किये। पवित्र स्थानों पर विहारों का निर्माण कराया। हर्ष ने पशुहत्या के विरुद्ध जो आज्ञा निकाली थी उसमें भी बौद्धधर्म का प्रभाव ही कारण था। इसने चीनी सम्राट् की सेवा में दूतमण्डल भी भेजा था जिसके उत्तर में चीनी सम्राट् ने भी एक दूत मण्डल हर्ष के पास भेजा

परन्तु वह उससे न मिल सका क्योंकि तब तक हर्ष की मृत्यु हो चुकी थी। हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान की प्रक्रिया इस समय अपने चरम शिखर पर पहुंच चुकी थी। बौद्धधर्म पर हिन्दूधर्म का रंग पर्याप्त चढ़ चुका था। सारा भारत मंदिरों से भरा हुआ दिखाई देता था। ये मंदिर हिन्दू और बौद्ध दोनों के थे। बौद्धों में भी मूर्तिपूजा घर कर चुकी थी। स्थान स्थान पर उनके मन्दिर बने हुए थे, जिन में भगवान बुद्ध की पूजा उसी रूप में होने लगी थी जिस रूप में हिन्दू मन्दिरों में शिव या विष्णु की। मगध के महायान विहार का वर्णन करते हुए ह्वेन्-त्साङ् लिखता है। "विहारके मध्य-मंदिर में बुद्ध की ३० फीट ऊंची प्रतिमा है। इसके एक ओर तारा और दूसरी ओर अवलोकित की मूर्त्ति है।" कई स्थानों पर तो बुद्ध के शिष्य भी पूजे जाने लगे थे। ह्वेन्-त्साङ् लिखता है-"मथुरा में मैंने देखा है कि लोग शारिपुत्र, मौद्गल्यायन, उपालि, आनन्द और राहुल की मूर्त्तियां बना कर पूज रहे हैं।" [1] आगे चल कर वह फिर लिखता है—"ऐसा दीख पड़ता है मानों भारतवर्ष देवालयों का देश हो। मूर्त्तिपूजा सब धर्मों का अंग बनी हुई है। चाहे वे परस्पर सिद्धांतों में कितने ही भिन्न क्यों न हों पर मूर्त्तियों को पूजना सब में समान तत्त्व है।" इससे स्पष्ट है कि उस समय तक बौद्धधर्म हिन्दूधर्म को कितना अपना चुका था ?

हूणों के आक्रमण

इसी काल में उत्तर की ओर से एक अन्य विदेशी जाति के आक्रमण हो रहे थे। ये लोग इतिहास में 'हूण' नाम से विख्यात हैं। इन्हीं हूणों ने रोमन साम्राज्य को छिन्न भिन्न किया था और यही लोग अब भारत के द्वार पर प्रकट होकर गुप्त और मौखरी साम्राज्य की जड़ें खोखली करने लगे। हूण लोग भयंकर बाढ़ की

१. देखिये Harsha by R. K. Mukarjee, Page 140

भांति भारत पर टूट पड़े। हत्या, लूटपाट तथा अग्निकाण्डों से हूणों ने अपना मार्ग निष्कण्टक बनाया। नगर मलियामेट कर दिये। सुन्दर सुन्दर भवन तोड़ फोड़ कर मिट्टी में मिला दिये। मंदिर और विहार बलपूर्वक भूमिसात् कर दिये। काबुल और स्वात नदियों की वे घाटियां जो कभी भारतीय सभ्यता की केन्द्र रही थीं इतनी भयंकरता से उजाड़ दी गईं कि वे सदा के लिये सभ्यता के क्षेत्र से बाहिर हो गईं और केवल जंगली जातियों के निवास के ही योग्य रह गईं। हूणों के इस आक्रमण से बौद्धधर्म को बड़ा भारी धक्का लगा क्योंकि जो प्रदेश हूणों ने उजाड़े थे वही बौद्धधर्म के प्रधान केन्द्रस्थान थे। इसी आक्रमण के परिणाम स्वरूप अगली शताब्दियों में बौद्धधर्म का गुरुता केन्द्र उत्तर से हट कर फिर से मगध बन गया। बंगाल और बिहार के राजा, विशेषतः पालसम्राट्, हर्षवर्धन के पश्चात् भी सैंकड़ों वर्षों तक बौद्धधर्म को अपनाते रहे। इन्हीं के प्रोत्साहन और दान से बौद्धों के महान् शिक्षा-केन्द्र नालन्दा, विक्रम शिला, जगदाला तथा उदन्तपुरी धर्म का विस्तार करते रहे। इन्हीं में शिक्षा प्राप्त कर भिक्षु लोग सुदूर देशों में प्रचारार्थ जाते रहे। तिब्बत में बौद्धधर्म के सर्वप्रथम उपदेष्टा यहीं से गये थे। आचार्य शान्तिरक्षित, पद्मसम्भव, कमलशील और दीपङ्कर श्रीज्ञान अतिशा इन्हीं विश्वविद्यालयों के आचार्य थे, जिन्होंने तिब्बत से निमंत्रण आने पर वहां जाकर धर्म का प्रचार किया था।

मुसलमानों का आगमन

७१२ ई० में भारत के द्वार पर एक अन्य विदेशी जाति प्रकट हुई। यह जाति पूर्ववर्ती सब जातियों से भिन्न थी। अब तक ग्रीक, पार्थियन, सीदियन, शक, यूची, हूण आदि जिन विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण किया था, उन्होंने कुछ समय भारत में रहने

के पश्चात् यहां की संस्कृति और धर्म को अपना लिया था। वे नाम, भाषा, धर्म, व्यवहार, विचार, रीति रिवाज और वेषभूषा सभी दृष्टियों से यहीं की बन गई थीं। ईसा से दो शताब्दी पूर्व जब 'हेलिओडोरस' नामक एक ग्रीकदूत भारत में भ्रमण करता हुआ विष्णु की स्तुति करता था और 'बेसनगर' में विष्णु की पूजा में गरुड़ स्तम्भ स्थापित कर रहा था, तब यह बात लोगों को बिल्कुल स्वाभाविक प्रतीत होती थी।[1] परन्तु इस समय अरब, तुर्क, और मुगलों के रूप में जो मुसलमान भारत में आये वे यहां के बन कर न रहे। उन्होंने यहां की संस्कृति को अपनाने के स्थान पर समानान्तररूप में अपनी पृथक् संस्कृति स्थापित की। अपने को भारतीय न कहकर विदेशी कहलाने में गौरव समझा। भारतवर्ष की समृद्धि में प्रसन्न न होकर यहां की सम्पत्ति को लूट लूट कर गज़नी और काबुल के राजकोषों को भरने में आनन्द अनुभव किया। परिणाम यह हुआ कि भारत में दो पृथक् संस्कृतियां स्थापित हो गईं और दोनों की खाई इतनी गहरी हो गई है कि बड़े से बड़ा प्रयत्न भी उसे भरने में असमर्थ हुआ है। सब समयों में मुसलमानों के हृदयों में एक विभिन्न धारा बहती रही है। आज भी उनकी यही दशा है। प्रार्थना, प्रबन्ध, कानून, शिक्षा—सभी विषयों में उनके मुख अरब, ईरान और मिश्र की ओर मुड़े हुए हैं।

१३ वीं शताब्दी तक सम्पूर्ण उत्तरीय भारत मुसलमानों के हाथ आ चुका था। हिन्दू राजा पारस्परिक फूट, आरामतल्बी तथा सामाजिक अन्धपरम्पराओं के कारण बढ़ती हुई मुस्लिम शक्ति का सामना न कर सके। हिन्दुओं की पराजय होने से भारत का शासनसूत्र विधर्मी मुसलमानों के हाथ चला गया। मुस्लिम शासकों ने तलवार

१ देखिये India Through the Ages by J. N. Sarkar, Page 68

के बल पर अपने धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। हिन्दुओं और बौद्धों पर भयंकर अत्याचार होने लगे। हिन्दू संस्कृति और शिक्षा के केन्द्र ध्वंस कर दिये गये। ११६७ में मुहम्मद-बिन-बख्तयार खिल्जी ने नालन्दा और बिक्रमाशिला के विश्वविदित विश्वविद्यालयों को आग की भेंट कर दिया। इनकी जली हुई दीवारें आज भी मुसलमानों की क्रूर क्रियाओं का स्मरण करा रही हैं। इन शिक्षा-केन्द्रों में जो भिक्षु रहते थे उन्हें कत्ल कर दिया गया। पुस्तकालय जला दिये गये। इन भयंकर अत्याचारों से तंग आकर भिक्षु लोग हजारों की संख्या में टोलियां बनाकर नैपाल, तिब्बत, बर्मा, स्याम आदि देशों की ओर भागने लगे। भारतीय भिक्षुओं के ये अन्तिम जत्थे थे जो संस्कृतिरक्षा की दृष्टि से उत्तर की ओर बढ़े थे। इसके अनन्तर फिर कभी कोई प्रचारक-मण्डल उधर नहीं गया।

उत्पत्ति स्थान में सर्वनाश

जो धर्म शताब्दियों तक एशिया का प्रचलित धर्म बना रहा, एक दिन उसी का अपने उत्पत्ति स्थान से सर्वनाश हो जाना इतिहास की एक आश्चर्य्यमयी घटना है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—:

(क) मौर्य्यों और कुशानों के पश्चात् बौद्धधर्म को राजकीय संरक्षण उतना नहीं मिला जितना हिन्दूधर्म को। हर्ष और पाल सम्राटों को छोड़ कर प्रायः सभी राजा हिन्दूधर्म को प्रोत्साहन देते रहे। परिणाम यह हुआ कि जो धर्म, राज्य की सहायता पाकर ही देश-देशान्तरों में फैला था, अब उसकी पीठ पर से उन शक्तिशाली सम्राटों का हाथ उठ चुका था। इस समय राजा लोग अपनी शक्ति देशविजय में व्यय कर रहे थे। पारस्परिक युद्धों के कारण उन्हें विदेशप्रचार की ओर ध्यान तक देने का अवकाश भी न था।

(ख) विविध बौद्ध राजाओं द्वारा दिये हुए उपहारों से ज्यों ज्यों विहार और मन्दिर समृद्ध होते गये त्यों त्यों भिक्षुओं का तपस्यामय

जीवन नष्ट होता गया। अशोक, कनिष्क आदि राजाओं द्वारा दिये हुए दान बौद्धधर्म के लिये वर बनने के स्थान पर कालान्तर में अभिशाप बन कर संघ का नाश करने लगे। भिक्षुलोग सादगी, सेवा, तपस्या, लगन आदि गुणों को छोड़ते चले गये, जिनके बल पर ही उन्होने एक दिन एशिया के अधिकांश भाग को अपने धर्म में समाविष्ट किया था। इन गुणों के स्थान पर उनमें विलासिता, छोटी छोटी बातों पर झगड़ना और सम्प्रदायवाद घर करता गया। बौद्धसंघ अनेक टुकड़ों में बंट गया। क्षणिकवाद और शून्यवाद के सूखे विवादों ने उनमें से जीवन को ही नष्ट कर दिया। जिन बुराइयों के विरुद्ध बुद्ध ने क्रान्ति की थी वही वस्तुएं बौद्धधर्म में जागृत हो गईं। मूर्तिपूजा, रथोत्सव, संस्कार, कर्मकाण्ड—ये सब चीजें बौद्ध-धर्म में घर कर गईं थीं। जो विहार विदेशों में प्रचार करने वाले भिक्षुओं के केन्द्र बने हुए थे वे ही पीछे जाकर आरामस्थली बन गये।

(ग) मौर्य्यों के पश्चात् हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, वह निरन्तर बढ़ रही थी। मनुस्मृति और महा-भारत आदि ग्रन्थ लेखबद्ध किये जा रहे थे। दर्शन और सूत्रग्रन्थों का प्रसार हो रहा था। गुप्तों का समय साहित्यिक दृष्टि से सुवर्ण-काल था। विक्रम के नवरत्न एक एक विद्या पर पाण्डित्य प्राप्त कर रहे थे। संस्कृत राष्ट्रभाषा बन चुकी थी। अश्वमेध का पुनराहरण हो रहा था। शंकर और कुमारिल लुप्त हुए वैदिक साहित्य का पुनरुद्धार कर रहे थे। जैन, शैव, वैष्णव आदि प्रतिस्पर्धी धार्मिक लहरों की टक्कर में बौद्धधर्म निरन्तर पिछड़ रहा था। प्रतिदिन हिन्दूधर्म में बड़े बड़े विद्वान्, उत्तम लेखक, श्रेष्ठ महात्मा और गम्भीर कला-विज्ञ पैदा हो रहे थे, जिनके प्रभाव से समाज का उत्कृष्ट अंश

बौद्धधर्म से हटकर हिन्दूधर्म की ओर आकृष्ट हो रहा था। हिन्दूधर्म बौद्धधर्म की अच्छाइयों को लेकर अग्रसर हो रहा था और महायान हिन्दूधर्म से बहुत मिल चुका था। इस अवस्था में साधारण जनता हिन्दूधर्म की ही ओर बढ़ रही थी।

(घ) इन सबसे बढ़कर हूणों और मुसलमानों के आक्रमणों ने बौद्धधर्म की रही-सही शक्ति को भी नष्ट कर दिया। बड़े-बड़े विहार धूल में मिल गये। ऊंचे-ऊंचे मंदिरों का कोई चिह्न ही न रहा। संसार में अपनी उपमा न रखने वाले शिक्षाकेन्द्र राख हो गये। हजारों की संख्या में भिक्षुओं को कत्ल किया गया। बचे हुए विदेशों में भाग गये। इस दशा में बौद्धगृहस्थ कहीं आश्रय न पाकर हिन्दूधर्म को ही एकमात्र अवलम्ब मानकर इसी में आ मिले। इस प्रकार बुद्ध की जन्मभूमि से ही बौद्धधर्म का सर्वनाश हो गया और भारत के लिये विदेशों में संस्कृति-प्रचार शताब्दियों तक एक स्वप्न बना रहा। अपनी पराधीनता के बन्धनों से छुटकारा पाने में ही लगे रहने से भारत को अपने से ज्ञान की ज्योति पाये हुए राष्ट्रों का ध्यान तक न रहा। कबीर, चैतन्य, दादू, तुलसी, नानक, रामदास आदि महात्मा जन-साधारण को जगाने में लगे रहे तथा प्रताप और शिवाजी आदि वीर विदेशी शत्रुओं से टक्कर लेते रहे। इस बीच में विदेश-प्रचार का स्वप्न भी लेने का किसी को अवकाश तक न था। इतने में ही यूरोपियन जातियां भारत में प्रभुत्त्व जमा कर पाश्चात्य शिक्षा और विज्ञान के बल पर भारतीय संस्कृति को नष्ट करने का प्रयत्न करने लगीं।

आशा की झलक

हम जागे, हमने देखा कि हम बहुत पिछड़ गये हैं। इसी समय आर्य्यसमाज, ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज की लहरें हमें सचेत करने लगीं। ऋषि दयानन्द ने शताब्दियों से भुलाये हुए मानवधर्म-

शास्त्र के 'एतद्देशप्रसूतस्य' श्लोक का स्मरण कराया। नष्ट हो रही भारतीय संस्कृति का पुनरुद्धार किया। पश्चिमीय सभ्यता के आक्रमण से मृतप्राय हो रहे भारतीय युवकों में वैदिक संस्कृति की मधुर वृष्टि से नवस्फूर्ति का संचार किया। हिन्दुओं की सूखी नस-नाड़ियों में प्रबल रक्तधारा प्रवाहित कर दी। आज उन्हीं से प्रेरणा पाये हुए बीसियों युवक अपनी सांस्कृतिक पताका लेकर अफ्रीका, योरुप और अमेरिका तक पहुंच रहे हैं। महात्मा गान्धी और टागौर का संदेश सुनने के लिये संसार व्याकुल हो रहा है। पाश्चात्य जगत् फिर से प्राच्य की ओर झुक रहा है। दिखाई देता है कि शीघ्र ही भारत फिर से संसार का गुरु बनेगा और सभी देश इसके सांस्कृतिक झण्डे के नीचे एकत्र होंगे।

द्वितीय-संक्रान्ति

लंका में बौद्धधर्म

द्वितीय-संक्रान्ति

लंका में बौद्धधर्म

भारतवर्ष में सिंहली दूतमण्डल—लङ्का में कुमार महेन्द्र-कुमारी संघमित्रा का लंकाप्रयाण—लङ्का पर तामिल राजाओं के आक्रमण—सिंहली राजाओं का पुनः राज्यारोहण—महासेन-श्रीमेघवर्ण-महानाम—लंका में बुद्धघोष-धातुसेन—लङ्का में फिर से अव्ययवस्था और हिन्दू धर्म का प्रचार-विजयबाहु—पराक्रमबाहु—अराजकता का तृतीय काल-पराक्रमबाहु द्वितीय—पोर्चुगीज़ों का आगमन-डच लोगों का प्रवेश—लङ्का ब्रिटेन के अधीनस्थ राज्य के रूप में-१६ वीं, १७ वीं और १८ वीं शताब्दी में बौद्धधर्म—लङ्का का वर्त्तमान धर्म—भिक्षुओं के कर्तव्य—विहार और उसके पांच पूजनीय अङ्ग—संघ का संगठन—प्राचीन बौद्ध अवशेष—

तृतीय संगीति की समाप्ति पर विदेशों में बौद्धधर्म के प्रचारार्थ जो प्रचारक मण्डल भेजे गये थे उनमें से एक प्रचारक मण्डल लंका गया था। इस मण्डल का नेता सम्राट् अशोक का पुत्र महेन्द्र था। इस प्रकार अशोक के समय में ही उसके पुत्र महेन्द्र द्वारा लंका में बौद्धधर्म का प्रचार हो चुका था। अशोक ने अपने चतुर्थ शिलालेख में धर्म-विजय का वर्णन करते हुए ताम्रपर्णी[1] (लंका) का भी उल्लेख किया है। इसका भी यही अभिप्राय है कि अशोक के जीवन काल में ही लंकानिवासी बौद्धधर्म की दीक्षा

१. जिस देश को आज सीलोन कहा जाता है संस्कृत और पाली साहित्य में उसके ताम्रपर्णी, तम्बपन्नि, सिंहलद्वीप आदि कई नाम मिलते हैं।

ले चुके थे। २४५ ई० पू० में लंका का राजा 'देवानाम्प्रिय तिष्य' था। इस समय भारतवर्ष में सम्राट् अशोक शासन कर रहे थे। अशोक के ही प्रयत्न से लंका में बौद्धधर्म प्रविष्ट हुआ।

भारतवर्ष में सिंहली दूत-मण्डल

जिस समय पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्धसभा के अधिवेशन हो रहे थे, उस समय सभा के प्रधान मोद्गलिपुत्र तिष्य [1] ने सोचा कि अब समय आ गया है जब कि हमें विदेशों में अपने प्रचारक भेजने चाहियें। इसी समय लङ्काधिपति देवानाम्प्रिय तिष्य भी अशोक की सेवा में एक दूत मण्डल भेजने का संकल्प कर रहा था। इस दूतमँडल का नेता महाअरिष्ट [2] था। तिष्य अशोक का घनिष्ठ मित्र था। यद्यपि दोनों ने एक दूसरे को कभी देखा तक न था तो भी इन में परस्पर अमित सौहार्दभाव विद्यमान था। बहुमूल्य उपहारों को लेकर तिष्य का दूतमण्डल १४ दिन पश्चात् भारत की राजधानी पाटलिपुत्र पहुंचा। अशोक ने दूतमण्डल का राजकीय तौर पर खूब स्वागत किया और समान मूल्य के उपहार देकर दूत मण्डल को विदा करते हुए अपने प्रिय-मित्र तिष्य को सन्देश भेजा—"मैं तो बुद्ध की शरण में आ गया हूं, मैं धर्म की शरण में आगया हूं, मैं संघ की शरण में आ गया हूं। मैंने शाक्यपुत्र के धर्म का अनुयायी बनने की प्रतिज्ञा कर ली है। ऐ मनुष्यों के शासक! तुम भी अपने मन को त्रिरत्न की शरण लेने के लिये तय्यार करो।" [3]

---

१. मूलतः ये सब शब्द पाली हैं। किन्तु पाठकों की सुविधा के लिये यहां और आगे भी इनके संस्कृत रूप दिये गये हैं। इनके पाली रूप नीचे दिये गये हैं। इसका पालीरूप 'मोग्गलिपुत्त तिस्स' है।

२. इसका पालीरूप महाअरिट्ठ है।

३. देखिये, The English Translation of Mahavansha by Tounour Page 46

लङ्का में कुमार महेन्द्र

इधर महाअरिष्ट तिष्य को अशोक का सन्देश सुनाने जा रहा था उधर मोद्गलिपुत्र तिष्य लङ्का में प्रचारक भेजने की तय्यारी कर रहा था। पाटलिपुत्र की सभा के उपरान्त राज्याभिषेक के १८ वें वर्ष अशोक ने अपने गुरु मोद्गलिपुत्र तिष्य की आज्ञा से अपने प्रिय पुत्र महेन्द्र को, इष्टिय, शम्बल, उत्तिय, और भद्रशाल [1] इन चार साथियों सहित लङ्का में प्रचारार्थ भेजा। लङ्का जाने से पूर्व महेन्द्र वेदिसगिरि में अपनी माता से मिला। यहां पर भी महेन्द्र ने धर्म का प्रचार किया और अपनी माता के भतीजे के पुत्र 'भन्दु' को धर्म में दीक्षित कर भिक्षु बनाया। भन्दु को साथ लेकर महेन्द्र अपने चार साथियों सहित लङ्का में मिश्रक [2] पर्वत पर पहुंचा। इस समय देवनाम्प्रिय तिष्य अपने ४०००० अनुयायियों के साथ एक हरिण का शिकार करने में लगा हुआ था। यह हरिण भागता हुआ मिश्रक पर्वत के समीप पहुंचा। यहां महेन्द्र अपने साथियों सहित ठहरा हुआ था। तिष्य भी पीछे-पीछे उसी ओर हो लिया। महेन्द्र के पास पहुंच कर हरिण लुप्त हो गया। ऐसा कहा जाता है कि पर्वत के किसी देवता ने ही तिष्य को महेन्द्र के आगमन का परिचय दिलाने के लिये मृगरूप धारण किया था। तिष्य को देख कर महेन्द्र कहने लगा—"तिष्य ! हम भगवान् बुद्ध का सत्य संदेश सुनाने के लिये आपके पास पहुंचे हैं।" राजा ने एक के बाद एक कई प्रश्न पूछे। महेन्द्र ने सबका बड़ी बुद्धिमत्ता से उत्तर दिया। महेन्द्र के उपदेश से प्रभावित होकर तिष्य ने अपने ४०००० साथियों सहित बौद्धधर्म स्वीकार किया। तदनन्तर राजा ने पूछा "महाराज ! क्या जम्बूद्वीप में ऐसे भिक्षु और भी रहते हैं ?" उत्तर

लङ्का में कुमार महेन्द्र

१. इष्टिय = इत्तिय, उक्तिय = उत्तिय, शम्बल = सम्बल, भद्रशाल = भद्दसाल।

२. इसका पालीरूप 'मिस्सक' है।

में महेन्द्र ने कहा—"आज कल भारतवर्ष भिक्षुओं के पीतवस्त्रों से पीला ही पीला दिखाई देता है। वहां बुद्ध के लाखों अनुयायी निवास करते हैं और सैकड़ों विद्वान् बुद्ध, धर्म और संघ—इन तीन रत्नों का अनुसरण करते हैं।" अगले दिन महेन्द्र अपने साथियों सहित राजधानी [1] के पूर्व में पहुंचा। जिस स्थान पर यह ठहरा वहां सर्वप्रथम चैत्य बनाया गया। इसे आज भी दागोबा [2] कहा जाता है। जो मठ महेन्द्र और उसके साथियों के लिये बनाया गया था उसका नाम 'महाविहार' था। यही लङ्का का प्रथम विहार था। यहां पर महेन्द्र ने उपस्थित जनता को उपदेश दिया। इस उपदेश को सुनने के लिये राजमहल की स्त्रियों के साथ राजकुमारी अनुला भी आई हुई थी। लङ्का में बौद्धधर्म के बीजारोपण के अनन्तर अनुला ने राजा से कहा—'राजन्! हमें संघ में प्रविष्ट होने की आज्ञा दीजिये।' राजा ने अनुला का विचार महेन्द्र को कह सुनाया। महेन्द्र ने कहा—'महाराज! भिक्षु स्त्रियों को दीक्षा नहीं दे सकते हैं। भिक्षुकियां ही स्त्रियों को दीक्षित कर सकती हैं। भारतवर्ष की राजधानी पाटलिपुत्र में एक भिक्षुकी रहती है। उसका नाम संघमित्रा है। वह मेरी बहिन है और अत्यन्त विदुषी है। यदि आप सम्राट् अशोक से उन्हें यहां भेजने की प्रार्थना करें तो निःसन्देह वह इन्हें संघ में प्रविष्ट कर सकती है।

राजकुमारी संघमित्रा का लंका-प्रयाण

महेन्द्र के कहने पर तिष्य ने महाअरिष्ट की अध्यक्षता में एक दूतमण्डल फिर से भारत भेजा। इसका उद्देश्य संघमित्रा को आमंत्रित करना तथा बोधिद्रुम की शाखा को लाना था। अशोक ने बहुत सावधानी और सत्कार के साथ बोधिद्रुम की शाखा रवाना की और

---

१. उस समय लंका की राजधानी 'अनुराधपुर' थी।

२. यह शब्द 'सर्वप्रथम चैत्य' अर्थ में प्रयुक्त होता है।

उतने ही आदर से तिष्य ने उसे स्वीकार किया। महावंश में इसके आगमन का वर्णन बहुत सुन्दरता से किया गया है—"सुवर्ण कुठार से बड़े समारम्भ के साथ बोधिद्रुम की शाखा काटी गई। फिर इसे सोने के एक गमले में रखकर जहाज पर धरा गया। जब जहाज चलने लगा तो एक योजन की परिधि तक समुद्र में सब लहरें शान्त हो गईं। चारों ओर पांच रङ्ग के फूल खिले हुए थे। वायु में विविध प्रकार की रागिणियां गूंज रही थीं। असंख्य देवता असंख्यों उपहार भेंट कर रहे थे। परन्तु नागों ने अपने चमत्कार द्वारा बोधिद्रुम की शाखा पर अधिकार करना चाहा। किन्तु संघमित्रा ने सुपर्ण बनकर सबको डरा दिया। सब नागों ने मिलकर उसका सत्कार किया और नागों के राजा ने उसे बहुत से उपहार भेंट किये।"[१] इस शाखा को महाविहार में रक्खा गया। यह 'जयमहाबोधि' के रूप में अनुराधपुर में अब भी विद्यमान है, जो संसार का सबसे पुराना ऐतिहासिक वृक्ष है। इसका दर्शन करने देश-देशान्तरों से तीर्थयात्री आते हैं। (फाहियान जब लंका गया था तब उसने इसके दर्शन किये थे।) बोधिवृक्ष के साथ संघमित्रा भी लंका गई। अनुला और उसकी ५०० सहेलियों ने संघमित्रा द्वारा बौद्धधर्म की दीक्षा ली। संघमित्रा के रहने के लिये भी एक विहार बनवाया, जिसका नाम आगे चलकर 'उपासिका विहार' पड़ा। २०७ ई० पू० में तिष्य की मृत्यु हो गई। अब उसका छोटा भाई—उत्तिय राजा बना। उत्तिय को शासन करते हुए अभी आठ ही वर्ष बीते थे कि महेन्द्र और उसके साथी देश के कोने कोने में बुद्ध का संदेश सुनाते हुए परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। इसके एक ही वर्ष बाद संघमित्रा का देहावसान हुआ। इन दोनों की मृत्यु से उत्तिय को बहुत दुःख हुआ और वह भी साल

---

१. देखिये, Tournour's Mahavansha, Page 77

भर बाद स्वर्गवासी हुआ। उत्तिय ने कुल मिलाकर दस वर्ष शासन किया।

लङ्का पर तामिल राजाओं के आक्रमण

१७७ ई० पू० में जब लंका में सुवर्णपिण्ड तिष्य[१] राज्य कर रहा था, तामिल राजा सेन और गुत्तिक की सम्मिलित सेनाओं ने लंका पर आक्रमण किया। इन्होंने राजा को मारकर स्वयं शासन करना शुरु किया। ये तामिल राजा बहुत सहिष्णु थे। यद्यपि इनका धर्म बौद्ध न था तो भी इन्होंने बौद्धों पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया। इन राजाओं में सबसे मुख्य एलार था।

तामिल राजा एलार

एलार ने ४४ वर्ष तक मित्र और शत्रु दोनों के प्रति समानभाव से शासन किया। इसकी निष्पक्षता के विषय में कहा जाता है कि यह पशुओं तक के प्रति भी न्याय करता था। कथा आती है कि राजा की शय्या के निकट सदा एक घण्टा लटका रहता था। जिसे कोई भी विपद्-ग्रस्त कभी भी बजा कर अपनी प्रार्थना सुना सकता था। एक बार राजकुमार रथ पर चढ़कर घूमने जा रहे थे। एक बछड़ा रथ के पहिये के नीचे आकर कट गया। गौ ने तुरन्त घण्टा बजाया। उसकी प्रार्थना पर ध्यान देते हुए राजा ने उसी पहिये द्वारा अपने प्यारे पुत्र का सिर धड़ से पृथक् करा दिया।[२] एलार का धर्म बौद्ध नहीं था। पर यह बौद्धधर्म के प्रति बड़ा प्रेम रखता था। इसने अनेक चैत्यों का पुनर्निर्माण कराया था और भिक्षुओं को दान भी दिया था। कहते हैं कि एक दिन जब यह एक चैत्य का पुनर्निर्माण करा वापिस लौट रहा था तो इसके रथ से एक स्तूप का कुछ हिस्सा टूट गया। स्तूप के रक्षक तुरन्त राजा के पास जाकर कहने लगे—क्या आपने हमारा स्तूप तोड़ा है? राजा रथ से उतर कर वहीं साष्टांग प्रणाम कर बोला—हां मेरे ही रथ द्वारा आपके धर्मस्थान को क्षति

---

१. इसका पालीरूप 'सुवण्णपिण्ड तिस्स' है।

२. देखिये, Tournour's Mahavansha, Page 85.

पहुंची है। यदि आप चाहें तो इस अपराध के लिये मेरे ही रथ से मेरे गले को काट दें। रक्षक ने उत्तर देते हुए कहा—महाराज! हमारे गुरु हिंसा से सन्तुष्ट न होंगे। यदि आप स्तूप की मरम्मत करा दें तो वे आपको क्षमा कर देंगे। राजा ने १५ पत्थरों[1] को लगाने के लिये १५ सहस्र सुवर्ण मुद्रायें अर्पित कीं।

सिंहली राजाओं का पुनः राज्य-आरोहण

दुष्टग्रामणी[2] ने एलार को कत्ल कर स्वयं राजगद्दी प्राप्त कर ली। सिंहासनारूढ़ होते ही इसे अशोक की तरह अपने किये पर पश्चात्ताप हुआ। इसने सोचा मैंने अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये कितना रक्तपात किया है? इस कलंक को मिटाने के लिये दुष्टग्रामणी ने पवित्र धार्मिक कार्य्य करने शुरु किये। महाविहार में लोहप्रासाद[3] नामक एक विहार बनवाया। जिसकी छत ताम्बे की थी। यह सात मञ्जिल ऊंचा भवन था। ऊपर की चार मंजिलें अर्हतों के लिये थीं और शेष निचली कोटि के भिक्षुओं के लिये बनाई गई थीं। विहार के चारों द्वारों पर हजारों पोशाकें, खाण्ड से भरे पात्र, मक्खन, शहद आदि वस्तुएं धरी रहती थीं। फर्श पर जगह जगह हीरे जड़े हुए थे। स्तम्भ सोने के बने हुए थे, जिन पर देवता, सिंह तथा अन्य पशुओं की मूर्तियां बनी हुई थीं। विहार के ठीक मध्य में हाथी-दांत का एक सिंहासन था। सिंहासन के एक ओर सोने का सूर्य, दूसरी ओर रजत-निर्मित चन्द्र और तीसरी ओर हीरों के बने नक्षत्र जगमगाते थे। सिंहासन में स्थान स्थान पर हीरे और मोतियों के मेल से गुलदस्ते बने हुए थे।[4] इसके बाद दुष्टग्रामणी ने

१. स्तूप के १५ ही पत्थर टूटे थे।

२. दुठ्ठगामनि

३. लोहपासाद

४. देखिये, Tournour's Mahavansha, Page 133

महास्तूप अथवा जिसे रत्नमाल्य[1] भी कहते हैं, उसका निर्माण कराया। यद्यपि आक्रान्ताओं ने धन-लोलुपता के कारण इस पर अनेक बार आक्रमण किये तो भी यह आज तक खड़ा है। महावंश को पढ़ने से पता चलता है कि रत्नमाल्य स्तूप के पूर्ण होने से पूर्व ही दुष्ट-ग्रामणी की मृत्यु हो गई थी। स्तूप की आधारशिला रखते समय दूर दूर से भिक्षु लोग आये थे। कुछ भिक्षु काश्मीर और अलसन्द[2] से भी गये थे। इन दो कार्य्यों के अतिरिक्त दुष्टग्रामणी ने दक्षिणगिरि, कलकनविहार, कुलम्बाल, पतङ्गवालि, विलङ्गवीथि, दुर्बलवापितिष्य, दूरतिष्यकवापि, अभयगिरि और दीर्घवापि आदि अनेक विहारों का निर्माण कराया था। साथ ही इसने चौरासी सहस्र[3] मन्दिरों को उपहार भी दिये थे।

महासेन दुष्टग्रामणी के पश्चात् बहुत से राजा लंका के सिंहासन पर बैठे। ये सब राजा बौद्ध थे। इनके समय में भी बौद्ध मन्दिरों और विहारों का निर्माण पूर्ववत् जारी रहा और बौद्धधर्म लगातार उन्नति करता गया। अब महासेन राजा हुआ। इसने २७ वर्ष तक शासन किया। इस समय भारतवर्ष में समुद्रगुप्त राज्य कर रहा था। महासेन के दो मंत्री थे। इनका नाम शोण और संघमित्र था। इनकी प्रेरणा से महासेन ने लोहप्रासाद विहार में आग लगवा दी। पीछे से इसे बहुत दुःख हुआ। दुःख-शमनार्थ महासेन ने मणिहार, गोकर्ण, इककाविल और कलन्द नाम से चार विहार बनवाये।

१. इसे लका में 'रुवनवलि स्तूप' कहते हैं।

२. यह सिन्धु नदी के तट पर एक ग्रीक नगर था।

३. बौद्धसाहित्य में '८४ सहस्र' एक मुहावरा सा प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय 'बहुत' से है। यही प्रथा अशोक आदि अन्य बौद्ध सम्राटों के साथ भी देखने में आती है।

सिंचाई के लिये मणिहार, महामणि, कोकवाट, महागलक, चिरश्वापी, कालपाषाणवापी आदि सोलह सरोवरों का निर्माण कराया। पर्वत[1] नाम से एक नहर खुदवाई। इस प्रकार पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कृत्य करके महासेन परलोकगामी हुआ।

श्री मेघवर्ण

महासेन के पश्चात् श्रीमेघवर्ण राजा हुआ। महावंश में इसे द्वितीय मान्धाता कहा गया है। राजा बनते ही मेघवर्ण ने लोह-प्रासाद का पुनर्निर्माण कराया। फिर अपने राज्यारोहण के प्रथम वर्ष कार्तिक मास के सातवें दिवस महेन्द्र की स्वर्णमूर्ति बनवाकर पूर्ण सजधज से उसका जलूस निकाला। इस दिन आम्रस्थल[2] नगर की सब सड़कें घुटनों तक फूलों से भरी हुई थीं। उन पर से होकर जलूस ने नगर की प्रदक्षिणा की। आठवें दिन आम्रस्थल के स्थविराम्र[3] मन्दिर में मूर्ति को स्थापित किया गया। राज्याभिषेक के नौवें वर्ष कलिङ्ग से एक राजकुमार और राजकुमारी बुद्ध का दांत लेकर मेघवर्ण की राजसभा में उपस्थित हुई। राजा ने बहुत आदर से दन्त-धातु को स्वीकार किया। उसे स्वर्णपात्र में रखकर ऊपर से मन्दिर चिना गया तथा प्रतिवर्ष उत्सव मनाने की प्रथा प्रचलित की। आज कान्डि के मालिगाव मन्दिर में जो दांत विद्यमान है उसके विषय में कहा जाता है कि वह यही है। मेघवर्ण ने कुल मिलाकर अठारह विहार बनवाये। कुछ सरोवरों का भी निर्माण कराया जो सदा जल से भरे रहते थे। बोधिद्रुम की शाखा पर एक नये त्यौहार का प्रवर्त्तन किया। इस प्रकार २७ वर्ष तक धर्मपूर्वक शासन करने के उपरान्त श्री मेघवर्ण स्वर्गवासी हुआ।

---

१. इसका पालीरूप 'पब्बत' है।

२. इसका पालीरूप 'अम्बठल' है।

३. इसका पालीरूप 'थेरम्ब' है।

महानाम मेघवर्ण के बाद कई राजा और हुए, फिर महानाम सिंहासनारूढ हुआ। महानाम अपनी बहिन की सहायता से राजा बना था। इसकी बहिन पूर्ववर्ती राजा बुद्धदास की पत्नी थी। रानी ने अपने पति को कत्ल कर भाई को राजा बनाया। बुद्धदास के समय महानाम भिक्षु था और विहार में रहा करता था। बुद्धदास की मृत्यु होते ही उसने भिक्षु-वस्त्र फेंक दिये और राजसिंहासन हथिया लिया। राजा बन कर महानाम ने पहली रानी से विवाह कर लिया। इसने बाईस वर्ष शासन किया। इसके समय बुद्धघोष नामक एक भारतीय पंडित लंका पहुंचा।

लङ्का में बुद्धघोष बुद्धघोष महानाम के समय लंका पहुंचा था। महांवंश में बुद्धघोष का जीवन चरित्र दिया हुआ है। इसके अनुसार उसकी प्रारम्भिक कथा इस प्रकार है—"यह जाति से ब्राह्मण था। इसका जन्म बुद्धगया के समीप हुआ था। यह तीन वेदों का ज्ञाता था और बहुत विद्वान् था। गया के पास ही यह एक विहार में रहा करता था और जोर-जोर से बोल कर पुस्तकों का पाठ करता था। पास में ही 'रैवत' नामक एक भिक्षु रहता था। वह इसकी ध्वनि पर मुग्ध था और इसे संघ में प्रविष्ट करना चाहता था। एक दिन रैवत ने इसके पास जाकर अभिधम्म का एक श्लोक पढ़ कर सुनाया। ब्राह्मण ने पूछा—'यह किसका श्लोक है?' उत्तर में रैवत ने कहा—'यह भगवान बुद्ध का वचन है।' रैवत की प्रेरणा से ब्राह्मण संघ में दीक्षित हुआ। क्योंकि इसका घोष इतना पूर्ण था जितना बुद्ध का, इस लिये इस का नाम 'बुद्धघोष' रक्खा गया और संसार में यह ब्राह्मण इसी नाम से विख्यात हुआ। रैवत ने बुद्धघोष को आज्ञा दी कि तुम लंका जाकर बौद्धसाहित्य का विस्तृत अध्ययन करो तथा त्रिपिटक का पाली में अनुवाद करो। लंका

जाने से पूर्व बुद्धघोष ने ज्ञानोदय और अट्ठसालिनी—ये दो पुस्तकें लिखी थीं। लंका पहुंच कर बुद्धघोष ने पहिले तो महाविहार में रह कर अध्ययन किया और फिर त्रिपिटक की टीकाओं का[1] पाली भाषा में अनुवाद करने के लिये आज्ञा मांगी। यह सिद्ध करने के लिये कि मैं यह कार्य्य कर सकता हूं बुद्धघोष ने 'विसुद्धिमग्ग' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ रचा। यह ग्रन्थ बहुत सन्तोषजनक समझा गया। इस के बाद 'ग्रन्थाकार' विहार में अनुवाद-कार्य्य आरम्भ किया। अट्ठ-कथाओं का अनुवाद करके बुद्धघोष भारत लौट आया।

बुद्धघोष के स्वदेश लौटने के कुछ ही समय उपरान्त ४७६ ई० में धातुसेन लङ्काधिपति हुआ। राजा बनते ही धातुसेन ने धम्मा-शोक की तरह त्रिपिटक पर विचार करने के लिये एक सभा बुलाई इस से ज्ञात होता है कि इस समय लङ्का में धार्मिक ग्रन्थों के विषय में विवाद था और महाविहार के त्रिपिटक को सब लोग नहीं मानते थे। महावंश में धातुसेन को कट्टर बौद्ध कहा गया है। इसने बोधि-द्रुम को पानी देने के लिये एक उत्सव का आयोजन किया। अठारह विहार बनवाये। 'अम्बमालक'[2] मन्दिर में महेन्द्र की मूर्ति के उपलक्ष में एक उत्सव रचाया। मैत्रेय की मूर्ति तथा मन्दिर स्थापित किया। बुद्धकी मूर्ति में आंखों के स्थान पर हीरे जड़वाये। अभयगिरि में बोधिसत्त्व के बहुत से चित्र बनवाये। ४६७ में ई० धातुसेन को इस के पुत्र काश्यप ने कत्ल कर दिया। धातुसेन

इसके बाद लंका का इतिहास पारस्परिक झगड़ों का इतिहास है। इस अव्यवस्था के बीच निर्बल पक्ष ने अपनी सहायता के लिये तामिल राजाओं को निमन्त्रित किया। ये राजा हिन्दूधर्मानुरागी थे। लङ्का में फिर से अव्यवस्था और हिन्दूधर्म का प्रचार

१. अट्ठकथायें जो प्राचीन सिंहल भाषा में लिखी हुई थीं।

२. यहां महेन्द्र की अन्तिम क्रिया की गई थी।

अब से बौद्धधर्म के स्थान पर हिन्दूधर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ। पवित्र दन्तधातु भी बौद्धों के हाथ से निकल कर तामिल राजाओं के पास चली गई। इस समय लङ्का की राजधानी भी एक न रही। कभी अनुराधपुर, कभी रोहण और कभी खदरग्राम, समय समय पर बदलती रही। अव्यवस्था, अराजकता और पतन की यह दशा अधिकाधिक भयंकर होती गई। अन्तत: १०६५ई० में विजयबाहु अपने को सम्पूर्ण लंका का अधिपति बनाने में सफल हुआ।

विजयबाहु

१०६५ ई० में विजयबाहु राजा बना। लंका के राजाओं में इसका बहुत महत्त्व है। राज्यशक्ति को केन्द्रित कर विजयबाहु ने अपना ध्यान धर्म और देश की ओर लगाया। विहार, मन्दिर और पुस्तकालय बनाने में इसकी बहुत रुचि थी। राजा कवियों का बहुत आदर करता था। जो लोग अच्छी कवितायें बनाते थे उन्हें पारितोषिक दिया जाता था। वह स्वयं भी अच्छा कवि था। तामिल लोगों के समय बौद्धधर्म में भारी विकृति आ गई थी। उसे दूर करने के लिये उपसम्पन्न भिक्षुओं की आवश्यकता थी। ऐसी दशा में बर्मा से भिक्षु बुलाये गये। इनके द्वारा बौद्धधर्म की विकृत दशा को सुधारा गया। इस प्रकार ५५ वर्ष शासन करके विजयबाहु दिवंगत हुआ।

पराक्रमबाहु

११६४ ई० में पराक्रमबाहु राजा हुआ। राजा बनते ही पराक्रमबाहु ने राज्य की सब सीमाओं पर रक्षार्थ सैनिक तैनात कर दिये। अब इसने सोचा कि मेरा यह मुख्य कर्त्तव्य है कि मैं अपने राज्य को समृद्ध बनाऊं। यह सोचकर इसने अपने मंत्रियों को सम्बोधन कर कहा—"मेरे राज्य की अधिकांश भूमि देवमातृक है। जिसमें कृषि वर्षा के पानी से होती है। केवल थोड़ा सा प्रदेश नदियों और सरोवरों के जल पर आश्रित है। देश में बहुत सी पहाड़ियां

और जंगल हैं। बरसाती नदियां खूब बहती हैं। इन्हें समुद्रों में स्वतन्त्र बहने न दिया जाये किन्तु खेती के लिये इनका उपयोग किया जाये। इसलिये तुम लोग सोना और बहुमूल्य पत्थरों की खानों को बचा रक्खो और शेष सारी भूमि को चावलों के खेतों में परिणत कर दो। इस बात को याद रक्खो कि शासकों का कर्त्तव्य राज्य प्राप्त करके प्रजा की उपेक्षा कर आनन्द लूटना नहीं है। इस लिये तुम सब अपनी शक्तियों को देश की समृद्धि में जुटा दो।······ धैर्य्यधारी मनुष्यों के लिये संसार में कोई भी कार्य्य असम्भव नहीं है। देखो, राम ने वानरों की सहायता से अगाध समुद्र में भी पुल बांध दिया था।"[1] पराक्रमबाहु ने जगह जगह बांध बंधवाये। सरोवरों की मरम्मत करवाई। पराक्रमसागर नाम से एक सागर बनवाया। सागर के बीचोंबीच एक चट्टान पर चैत्य खड़ा किया। इस प्रकार कठोर परिश्रम द्वारा पराक्रमबाहु ने एक इंच टुकड़ा भी निरर्थक न छोड़ा। अपने राज्य को सब प्रकार से सुव्यवस्थित करके राजा ने मंत्रियों को फिर से कहा—मुझसे पहिले के सब राजा मूर्ख थे। वे सुव्यवस्था के शत्रु थे। उन्होंने राज्य और धर्म दोनों का नाश किया। क्योंकि उन्होंने इन दोनों का उपयोग परोपकार में न करके स्वार्थपूर्ति में किया। पराक्रमबाहु के राज्य में पशुहत्या बिल्कुल बन्द थी। विहारों के विवादों को दूर करने के लिये एक सभा बुलाई गई थी। ३३ वर्ष शासन करने के पश्चात् पराक्रमाबहु भी संसार छोड़कर चल बसा।

पराक्रमबाहु की मृत्यु के ३० वर्ष उपरान्त लंका की दशा फिर खराब हो गई। तामिल राजाओं ने लंका का बहुत सा प्रदेश जीत अराजकता का तृतीय काल

१. देखिये, Tournour's Mahavansha, Page 123.

लिया। इस समय के बाद से कभी भी तामिल लोग लंका से पूर्णरूप से नहीं हटाये जा सके। अन्ततोगत्वा लंका का स्वतंत्र राज्य ही नष्ट हो गया। राज्य के पतन के साथ-साथ बौद्धधर्म का भी ह्रास होता गया। इतना होने पर भी लंका का राष्ट्रधर्म बौद्धधर्म था और उसका वहां बहुत आदर था।

पराक्रम बाहु द्वितीय

१२४० ई० में पराक्रमबाहु द्वितीय राजा बना। इसने ३५ वर्ष शासन किया। अब तामिल लोगों से वह दांत छीन लिया गया जो अब तक उनके पास था। इस समय बड़ा भारी उत्सव मनाया गया।[1]

पोर्चुगीजों का आगमन

१५०५ ई० में पोर्चुगीज लोग लंका पहुंचे। लंका के राजा और पोर्चुगीजों में अपनी अपनी महत्ता के लिये भयंकर लड़ाइयां लड़ी गईं। अन्ततः पोर्चुगीज विजयी हुए। सारा समुद्रीय किनारा इनके हाथ आ गया। केवल बीच का पहाड़ी भाग ही स्वतन्त्र बच रहा। पोर्चुगीजों ने रुपये के लोभ और अत्याचार के भय से लंका निवासियों को ईसाई बनाना आरम्भ किया। इन उपायों से कुछ लोग तो ईसाई मत में प्रविष्ट हो गये किन्तु शेष अपने धर्म पर पर दृढ़ रहे। १५६७ में जब लंका के अधिकांश निवासियों ने पोर्चुगीजों की आधीनता स्वीकृत कर ली तब यह आज्ञा दे दी गई कि यदि कोई चाहे तो अपने धर्म्म और प्रथाओं पर स्थिर रहे।

डच लोगों का प्रवेश

१६०२ ई० में पहली बार डच लोगों ने लंका में प्रवेश किया। कान्डि के राजा ने इनका स्वागत किया जिससे इनकी सहायता पाकर पोर्चुगीजों को भगाया जा सके। १६३८ से १६५८ तक पोर्चुगीजों और डचों में भयंकर मारकाट होती रही। अन्ततः डच लोग सफल हुए। प्रारम्भ में डचों ने भी पोर्चुगीजों की भांति बलपूर्वक इसाईयत का प्रचार किया, पर पीछे से उन्होंने लोगों पर दबाव

---

१. देखिये, महावंश, ८२ वां अध्याय।

डालना छोड़ दिया। क्योंकि डच लोग प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय को मानने वाले थे और रोमन कैथोलिक धर्म के साथ उनकी सहानुभूति न थी।

लङ्का, ब्रिटेन के आधीन

१७६५ में ब्रिटिश लोगों ने डच लोगों से लंका छीन लिया। परन्तु 'कान्डि' का राज्य १८१५ तक स्वतन्त्र रहा। १८१५ में कान्डि भी ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बन गया। वर्त्तमान समय में सम्पूर्ण लङ्का ब्रिटेन के आधीन है।

१६वीं, १७वीं और १८ वीं शताब्दी में बौद्धधर्म

जिस समय योरुपियन जातियां लंका में अपनी शक्ति का प्रसार कर रही थीं उस समय लंका में बौद्धधर्म की दशा कैसी थी? यह एक विचारणीय प्रश्न है। १६ वीं, १७ वीं, और १८ वीं–ये तीन शताब्दियां बौद्धधर्म के लिये बड़ी घातक सिद्ध हुई। तीन सौ वर्ष तक लंका विविध धर्मों का क्रीड़ास्थल बना हुआ रहा। उत्तर में हिन्दुधर्म का प्रचार था। तामिल राजा राजसिंह ने शैवधर्म को राष्ट्रधर्म बना दिया था। समुद्रीय तट पर इसाईयत फैल रही थी। कुछ देशी राजा बौद्धधर्म की रक्षा में जुटे हुए थे। इन में कान्डी का राज्य प्रमुख था। १७ वीं शताब्दी का एक मनोरंजक विवरण प्राप्त होता है, जिस में इस देश की तात्कालिक दशा का सुन्दर वर्णन किया गया है। यह विवरण राबर्ट नॉक्स नामक एक अंग्रेज का लिखा हुआ है। इसे कान्डी के राजा ने १६६० से १६८० तक कैद किया था। वह लिखता है—"इनका परमेश्वर Buddo (बुद्ध) है जिसको प्राप्त कर मनुष्य निर्वाण प्राप्त कर लेता है। यहां दो प्रकार के भिक्षु हैं। एक प्रमुख और दूसरे संघ के साधारण सदस्य।"[1]

इस समय विमलधर्मसूर्य्य राज्य कर रहा था। इसका शासन काल १६७६ ई० से १७०१ तक है। इसने धर्म में आये विकार

---

१. देखिये, Eliot's Hinduism and Budhism, Page 35

को दूर करने के लिये भरसक प्रयत्न किया और विद्वान् भिक्षु बुलाने के लिये डच लोगों की सहायता से एक दूतमण्डल अराकान भेजा। परन्तु इसके लिये जो प्रयत्न किये गये वे बहुत अपर्य्याप्त थे। १७४७ ई० में कीर्त्तिश्रीराजसिंह [1] राजा बना। इसने १७४७ से १७८०ई० तक राज्य किया इसने भी सुधार की प्रक्रिया जारी रक्खी और अयोध्या [2] के राजा धार्मिक [3] के पास डच जहाज द्वारा एक दूतमण्डल भेजा। धार्मिक ने उपालि के नेतृत्व में १० भिक्षुओं का एक मण्डल लंका भेज दिया। राजासिंह ने इसका बहुत आदर किया। इन भिक्षुओं ने जो संघ स्थापित किया उसे राजा ने बिना किसी ननुनच के स्वीकार कर लिया।

लङ्का का वर्त्तमान धर्म

इस समय लङ्का में तीन धर्म हैं। हिन्दूधर्म, बौद्धधर्म और इसाईधर्म। अप्रासंगिक होने के कारण यहां इसाईधर्म पर विचार नहीं किया जायेगा। लङ्का में हिन्दुओं के बहुत से मन्दिर विद्यमान हैं। बदुल्ला और रतनपुर में हिन्दुओं के विशाल मन्दिर खड़े हैं। सीलोन की $\frac{1}{4}$ जनता तामिलभाषी हिन्दू है। उत्तरीय जिलों में द्राविड़ियन आकृति के मन्दिरों की भरमारु है। कान्डि में दांत वाले मन्दिर के समीप ही दो हिन्दू देवालय भी विद्यमान हैं। बहुत से बौद्धमन्दिरों में भी हिन्दू देवताओं की मूर्त्तियां हैं। कई मन्दिरों के द्वारों पर ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और कार्तिकेय की मूर्तियां बनी हुई हैं।

दूसरा धर्म बौद्धधर्म है। बौद्ध दो प्रकार के हैं। एक भिक्षु और दूसरे गृहस्थी। प्राचीन समय में भिक्षुओं में ऊंच-नीच

---

१. इसका पालीरूप 'कित्ति स्री राजसिंह' है।

२. स्याम की राजधानी है।

३. इसका पालीरूप 'धम्मिक' है।

का भाव न था। गौतम बुद्ध का आदेश यही है कि धर्म का द्वार सब जातियों के लिये खुला हुआ है। धर्म का सम्बन्ध केवले उच्च कुल के साथ नहीं है। जो कोई भी धर्ममन्दिर में आश्रय लेना चाहे उसे किसी प्रकार की रुकावट नहीं है। परन्तु आगे चल कर एक समय ऐसा आया जब लंका के बहुत से भाग पर तामिल राजाओं का आधिपत्य स्थापित हो गया। इनका धर्म हिन्दू था। इन्होंने बौद्ध भिक्षुओं पर अत्याचार करने शुरु किये। भिक्षु अपनी रक्षा के लिये मातृभूमि को छोड़ कर भिन्न–भिन्न देशों में भाग गये। कितने ही स्याम चले गये, कुछ–एक ने बर्मा की राह ली और बहुतों ने दूसरे देशों में आश्रय पाया। उपसम्पन्न [1] भिक्षुओं का सर्वथा अभाव हो गया। उस समय भारतवर्ष में भी बौद्धधर्म का दीपक बुझ चुका था। तब कीर्ति श्री–राजसिंह ने १७५० ई० में एक डच जहाज पर, जो स्याम जा रहा था कुछ दूत इस उद्देश्य से भेजे ताकि वे स्याम के राजा से प्रार्थना करें कि कुछ उपसम्पन्न भिक्षु लंका भेजे जायें। उस समय स्याम देश का राजा धार्मिक था। धार्मिक ने दस भिक्षुओं को सारा त्रिपिटक, सुवर्ण निर्मित बुद्ध की मूर्त्ति और कुछ उपहार देकर मंत्रियों के साथ लंका विदा किया। लंका पहुंच कर भिक्षुओं ने यह राजनियम बनवाया कि आगे से केवल 'गोवि' जाति के लोग ही भिक्षु बन सकेंगे। 'अगोवि' लोगों को भिक्षु बनने का कोई अधिकार नहीं है। इसलिये संघ किसी आगोवि को भिक्षु न बनाये। आगे के सब राजाओं ने इस नियम का पालन किया। उस समय सिंहलियों का अपना राज्य

---

१. 'उपसम्पन्न' भिक्षु उसे कहा जाता है जो अन्यों को प्रवज्या देकर भिक्षु बना सके। इनके बिना कोई भिक्षु नहीं बन सकता और बहुत से बौद्धकार्य्य भी नहीं हो सकते।

था। इस लिये अगोवि लोग कुछ न बोल सके। किन्तु जब लंका पर ब्रिटिश झण्डा फहराने लगा तो अगोवि लोगों ने आन्दोलन किया कि बुद्ध ने सबको भिक्षु बनने का अधिकार दिया है। इस लिये हम भी भिक्षु बनेंगे। कुछ अगोवि बर्मा गये और वहां के आचार्यों से प्रवज्या लेकर भिक्षु बन गये। वहां से लौट कर वे अन्य अगोवियों को भी भिक्षु बनाने लगे। धीरे-धीरे अगोवियों की शक्ति बढ़ती गई। स्थान-स्थान पर इनके भी विहार बन गये। अगोवि गृहस्थी इनकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने लगे। अगोवि और गोवि भिक्षुओं में भेद स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। गोवि भिक्षु अपनी भौंएं कटाये रखते हैं और अगोवि नहीं कटाते।

भिक्षुओं के कर्त्तव्य

भिक्षुओं को निम्न दस व्रतों का पालन करना आवश्यक होता है:—

क. हिंसा न करना.
ख. चोरी न करना.
ग. ब्रह्मचारी रहना.
घ. असत्य न बोलना.
ङ. मादक द्रव्यों का सेवन न करना.
च. विकाल भोजन (मध्याह्न १२ बजे के बाद) न करना.
छ. नाच, गान, बाजा न सुनना.
ज. चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों का सेवन न करना.
झ. उच्चासन पर शयन न करना.
ञ. सोना, चांदी न लेना.

जो व्यक्ति इन नियमों को पालने में असमर्थ होता है उसे भिक्षु नहीं बनाया जाता। वर्षाकाल की प्रत्येक पूर्णिमा और अमावस्या को सब भिक्षु उपोसथागार में एकत्र होते हैं। मुख्य भिक्षु विनय

में प्रदर्शित नियमों का पाठ करता है। जिसने कोई व्रत भङ्ग किया हो उसे सभा में स्वीकार करना पड़ता है। इस सभा में भिक्षुओं के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं होता। इस क्रिया को बौद्ध-परिभाषा में 'उपोसथ' कहा जाता है।

गौतम बुद्ध ने कहा है कि-भिक्षु गृहस्थपुरुष की अपेक्षा सदा श्रेष्ठ होता है। इसलिये भिक्षु को कभी गृहस्थ से नीचे आसन पर नहीं बैठना चाहिये और उसे अपनी ओर से पहिले अभिवादन भी नहीं करना चाहिये। लंका के भिक्षु इस सिद्धान्त का पूर्णरूपेण पालन करते हैं। बड़े बड़े राजपुरुष भी भिक्षुओं की पादवन्दना करके भूमि पर बैठते हैं।

लंका में भिक्षु प्रतिदिन भिक्षापात्र लेकर गृहस्थ के घर जाते हैं। स्त्रियां पहिले ही द्वार पर उनकी प्रतीक्षा में खड़ी रहती हैं। जब भिक्षु आता है तो वे भिक्षापात्र में भोजन डाल, नमस्कार कर चली जाती हैं। गृहस्थी तब तक भोजन नहीं करते जब तक वे किसी भिक्षु को भिक्षा न दे देवें। भिक्षु भोजन ले जाकर गुरु के सम्मुख रख देते हैं और फिर सब मिल कर भोजन करते हैं।

यद्यपि अहिंसा बौद्धों का आवश्यक व्रत है तथापि लंका के भिक्षु मांस भक्षण को निषिद्ध नहीं मानते। यदि उन्हें दूसरे द्वारा मारे हुए पशु का मांस मिल जाये तो उसे खा लेने में वे पाप नहीं मानते हैं। किन्तु वे उसी मांस का सेवन करते हैं जो अदृष्ट, अश्रुत और अपरिशंकित हो अर्थात् यदि पशुहत्या उसके लिये उसके सामने न हुई हो, उसके सुनने में यह न आया हो कि यह पशु मेरे लिये मारा गया है या उसे सन्देह न हुआ हो। भिक्षुओं में पान खाने और चुरट पीने की बहुत आदत है। यदि कोई व्यक्ति उनके विहार में जाये तो उसके सम्मुख यही दो वस्तुएं आतिथ्य के लिये रक्खी जायेंगी।

विहार और उसके पांच पूजनीय अङ्ग

लंका में सैकड़ों विहार पाये जाते हैं। केवल कोलम्बो में ही २४ विहार हैं। प्रत्येक विहार में गुम्बजाकार एक चैत्य होता है, जिसके नीचे किसी मुक्त भिक्षु की अस्थियां दबी हुई होती हैं। प्रत्येक विहार में एक पीपल का वृक्ष अवश्य होता है। इसके नीचे गृहस्थों को उपदेश दिया जाता है। प्रत्येक विहार में प्रतिमागृह अवश्य होता है, जिसमें बुद्ध की मूर्ति स्थापित रहती है। दोनों समय भिक्षु इसके सम्मुख बैठकर बुद्ध के उपदेशों का पाठ करते हैं। ये पांच अङ्ग अर्थात्—चैत्य, अस्थि आदि, पीपल का वृक्ष, प्रतिमागृह, और बुद्ध प्रतिमा—ये पांच वस्तुएं सिंहलियों की विशेष पूजनीय हैं।

संघ का सङ्गठन

लङ्का में बौद्धधर्म के अस्तित्व का प्रधान कारण संघ की सत्ता है। जिस समय लंका का स्वतन्त्र राज्य था उस समय भिक्षुओं का अपना प्रधान होता था उसे 'संघराज' कहा जाता था, उसके कार्य्य में राजा किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करता था। वह वंश-क्रमानुगत न होकर बहुमत द्वारा चुना जाता था। संघराज के ऊपर 'धर्ममहासंघ सभा' होती थी। इसकी सम्मति से विशेष अवसरों पर कार्य किया जाता था।

प्राचीन बौद्ध अवशेष

कल्याणी विहार—कोलम्बो से आठ मील की दूरी पर प्राचीन कल्याणी विहार विद्यमान है। ईसा से २०३ वर्ष पूर्व देवानांप्रिय तिष्य ने कल्याणी नदी के किनारे इसका निर्माण कराया था। इसके अधिकारी भी उसने स्वयं नियुक्त किये थे। अधिकार-प्राप्त भिक्षुओं के नाम बुद्धरक्षित, धर्मरक्षित, संघरक्षित आदि थे। बुद्धरक्षित की कथा अत्यन्त मनोरञ्जक है। उसे संक्षेप में यहां दिया जाता है। तिष्य का भाई उत्तिय था। उसका रानी से अनुचित सम्बन्ध था। जब राजा को इस बात का पता चला तो उसने भाई के वध की

आज्ञा निकाल दी। उक्तिय डर कर कहीं भाग गया। एक दिन राजा ने विहार के अधिकारी को भोजन का निमंत्रण दिया। उक्तिय ने एक व्यक्ति को भिक्षुवस्त्र पहिरा कर, रानी के नाम पत्र देकर अधिकारी के साथ भोजन करने भेज दिया। भोजन के उपरान्त भिक्षु पत्र को वहीं फेंक गया। अचानक यह राजा के हाथ पड़ गया। पत्र का लेख बुद्धरक्षित के लेख से मिलता था। पत्र पढ़कर राजा क्रोध में आ गया और कहने लगा कि विहार का अधिकारी भी मेरी स्त्री से पाप में फंसा हुआ है। राजा ने बुद्धरक्षित को खौलते हुए तेल में डलवा दिया। अपने को सर्वथा निर्दोष बताते हुए तथा बुद्ध, धर्म और संघ का स्मरण करते हुए बुद्धरक्षित ने प्राण त्याग दिये। कल्याणी विहार में बुद्ध की एक अठारह फीट लम्बी लेटी हुई मूर्ति पड़ी है। इसी विहार में विभीषण की छः हाथ ऊंची मूर्ति खड़ी है। यह मूर्ति सन्तानोत्पत्ति के लिये प्रसिद्ध है। लंका निवासियों का यह विश्वास है कि इसकी पूजा से निःसन्तान की भी सन्तान हो जाती है। यह विश्वास सम्भवतः इसलिये प्रचलित हुआ कि पराक्रमबाहु राजा की कोई सन्तान न थी। तब संघराज राहुल ने विभीषण की पूजा की। कहते हैं कि इसके बाद राजा के पुत्र उत्पन्न हो गया। कल्याणी नदी के दूसरे पार तिष्य राजा द्वारा बनवाया हुआ एक विहार और है। इस समय यह बहुत टूटा-फूटा है।

समन्तकूट—जिसे Adam's Peak कहा जाता है उसके समीप ही एक बौद्ध-मन्दिर बना हुआ है। उसमें एक पादचिह्न अंकित है। मुसलमान और ईसाई इसे आदम का पैर बताते हैं और कहते हैं कि जब हज़रत आदम स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरे तो उन्होंने अपना प्रथम चरण यहां रक्खा था किन्तु बौद्ध लोग इसे 'बुद्धपाद' कहते हैं।

इनका कथन है कि जब भगवान् बुद्ध लंका पधारे तो उन्होंने अपना प्रथम चरण यहां धरा था। यह उन्हीं का पादचिह्न है। प्रति वर्ष चैत्र मास में बौद्ध लोग इस स्थान की यात्रा करते हैं।

अनुराधपुर—लंका की प्राचीन राजधानी अनुराधपुर के समीप लंका का सर्वप्रथम चैत्य खड़ा दिखाई देता है। इसी विहार में महेन्द्र और उसके साथी आकर ठहरे थे। विहार का घेरा आध मील है। यह लंका का सबसे बड़ा चैत्य है। ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को यहां मेला लगता है, जिसमें लाखों नर-नारी सम्मिलित होते हैं, क्योंकि इसी दिन कुमार महेन्द्र अनुराधपुर पहुंचे थे।

कान्डि—कान्डि का सिंहली नाम 'सैखण्ड' है। संस्कृत में इसे 'श्रीखण्ड' कहते हैं। अंग्रेजी राज्य से पूर्व कान्डि ही लंका की राजधानी थी। महात्मा बुद्ध का जो पवित्र दाँत लंका लाया गया था, वह कान्डि ही के एक मन्दिर में सुरक्षित है। यह मन्दिर कान्डि के एक विहार में तालाब के किनारे विद्यमान है। मन्दिर के द्वार पर यह श्लोक लिखा हुआ है:—

सर्वज्ञवक्त्रसरसीरुह राजहंसं—
कुन्देन्दुसुन्दररुचिं सुरवृन्दवन्द्यम्।
सद्धर्मचक्रसहजं जनपारिजातं—
श्रीदन्तधातुममलं प्रणमामि भक्त्या ॥[1]

इस दन्तधातु की सिंहली राजाओं ने प्राणों से भी बढ़ कर रक्षा की है। दाँत वाले मन्दिर की तीन चाबियां हैं। एक सीलोन के गवर्नर के पास, दूसरी कान्डि के महानायक के पास और तीसरी

१. देखिये, फाहियान, जगमोहनवर्मा कृत, पृष्ठ ८८.

एक बौद्ध गृहस्थ के पास रहती है। आषाढ पूर्णिमा को मन्दिर खोला जाता है। बड़े समारोह के साथ स्वर्णपात्र में दाँत को हाथी पर रख कर उसका जलूस निकाला जाता है। कान्डि के दन्तमन्दिर की दीवारों पर जो चित्र बने हुए हैं उन्हें पन्द्रह भागों में विभक्त किया जा सकता है। वे निम्न प्रकार हैं:—

(१) प्रथम विभाग में कुछ लोग पीपल काट रहे हैं और पीपल काटने वालों का दण्ड भी यहीं दिखाया गया है। इनके टुकड़े टुकड़े कर धधकती आग में डाले जा रहे हैं।

(२) दूसरे विभाग में धर्म–मन्दिर की वस्तुएं चुराने वालों को छिन्न–भिन्न कर इधर–उधर फेंका जा रहा है।

(३) तीसरे में अपने को बड़ा समझनेवालों को पहाड़ की चोटी से गिराया जा रहा है।

(४) चौथे में माता-पिता की आज्ञा न माननेवाली सन्तानें आग की लपटों में खड़ी जल रही हैं।

(५) पांचवें में चोरी करने वालों को जलाया जा रहा है।

(६) छठे वर्ग में अत्यधिक कर लेनेवाले राजा और राज-कर्मचारियों को पैने बरछों द्वारा मारा जा रहा है।

(७) सातवें वर्ग में झूठ बोलनेवालों को नीचे पड़े नोकीले शस्त्रों पर पहाड़ की चोटी से गिराया जा है। ये शस्त्र इनके शरीर के आर पार निकल गये हैं।

(८) आठवें में हत्यारों को बरछों से छेदा जा रहा है।

(९) नवें वर्ग में व्यभिचारियों को लोहे के गरम लाल लाल वृक्ष पर चढ़ाया जा रहा है। वे चढ़ते हुए रोते, चिल्लाते तथा बिलखते हैं।

(१०) दसवें में पियक्कड़ों के मुह में खौलता हुआ पानी डाला जा रहा है ।

(११) ग्यारहवें में पर-पुरुष-गामिनी स्त्रियों के मांसको कौवे चील आदि नोच रहे हैं ।

(१२) बारहवें में आत्महत्या करनेवालों के टुकड़े कर जलते तवे पर फेंके जा रहे हैं ।

(१३) तेरहवें वर्ग में पशुहत्या करनेवालों को विविध जन्तु काट-काट कर चबा रहे हैं । कोई सिर चबा रहा है, कोई छाती खा रहा है, कोई-हाथ काट रहा है और कोई टांग घसीट रहा है । जिन जिन पशुओं की मनुष्य ने हत्या की थी वही उसे खा रहे हैं ।

(१४) चौदहवें में धार्मिक कार्य्य के लिये रुपया इकट्ठा करके स्वयं खा जाने वाले लोगों को काट काट कर भूना जा रहा है ।

(१५) पन्द्रहवें वर्ग में हलाल करके पशुहत्या करनेवालों को उसी प्रकार धीरे धीरे मारा जा रहा है ।

इस प्रकार पाठकों ने देखा कि मन्दिर की दीवारों पर विविध पापों का दण्डविधान अंकित है। बौद्धधर्म में पंद्रह महापाप समझे जाते हैं और यहां उनका दण्डविधान बताया गया है । यह दण्ड-विधान हिन्दुओं के दण्ड-विधान से बहुत मेल खाता है । इस प्रकार ईसा से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व कुमार महेन्द्र ने लंका में जिस बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था, वह अब तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आता है । आज लंका-निवासियों को भारतीय भिक्षु से दीक्षा लिये हुए दो सहस्र वर्ष से भी अधिक समय बीत चुका है तिस पर भी वे अपने धर्म पर पूर्ववत् स्थिर हैं और उसकी उन्नति में सतत प्रयत्नवान् हैं ।

तृतीय-संक्रान्ति

खोतन में बौद्धधर्म का प्रचार

तृतीय-संक्रान्ति

खोतन में बौद्धधर्म का प्रचार

खोतन राज्य की स्थापना— अर्हंत वैरोचन द्वारा खोतन में बौद्धधर्म का प्रवेश— विजयवीर्य— विजयजय— विजयधर्म— विदेशी आक्रमणकारी— विदेशी यात्रियों का आगमन—सुङ्युन्—ह्नेन्त्साङ्—खोतन के भिक्षुओं का देशत्याग मङ्गोलों का प्रभुत्व—वर्त्तमान अवस्था—खोतन में प्राप्त अवशेष-प्राचीन खोतन नगर- गोश्रृङ्ग विहार- करकीरतिम- तोपातिम- दम्दान यूलिक- सोमोजोह विहार- रवक- होको विहार- निय नगर- एन्देर- उलाधमजर- अर्ककुदुकतिम- अक्सिपिल-रवक विहार।

भगवान् बुद्ध के निर्वाण पद को प्राप्त करने के चार सौ वर्ष उपरान्त[1] और धर्माशोक की मृत्यु के १६५ वर्ष बाद ५३ ई० पू० खोतन के राजा विजयसम्भव के शासनकाल के पांचवें वर्ष अर्हत

१. भगवान् बुद्ध की मृत्यु के २३४ वर्ष पश्चात् खोतन राज्य की स्थापना हुई। स्थापना के १६५ वर्ष उपरान्त विजयसम्भव राजा बना। विजयसम्भव के राज्यारोहण के ५वें वर्ष अर्हत वैरोचन ने बौद्धधर्म का प्रचार किया। इस प्रकार २३४+१६५+५=४०४ वर्ष।

खोतन में बौद्धधर्म का प्रचार

वैरोचन ने पहले पहल खोतन[1] में बौद्धधर्म का प्रचार किया। इस समय भारत में मौर्य्यों का शासन समाप्त हो चुका था। मौर्य्यों के बाद कण्व आये। कण्व राजा भूमिमित्र को शासन करते हुए जब १० वर्ष हो चुके थे तब काश्मीर से अर्हत वैरोचन नामक एक भिक्षु खोतन गया। इसने राजा को बौद्धधर्म की दीक्षा दी। 'ली' भाषा और 'ली' लिपि का प्रचार किया।

खोतन में बौद्धधर्म के प्रचार की कथा अत्यन्त मनोरञ्जक है। लंका की भांति वहां कोई प्रचारक मण्डल नहीं गया था अपितु सम्राट् अशोक ने धर्मविजय की जिस प्रक्रिया को प्रारम्भ किया था वह उसके साथ ही समाप्त न हुई, पर उसके बाद भी जारी रही। इसी भावना से प्रेरित होकर वैरोचन अपनी मातृभूमि को अन्तिम नमस्कार कर खोतन-निवासियों को महात्मा बुद्ध का सन्देश सुनाने चल पड़ा। चीनी और तिब्बती विवरणों में खोतन विषयक बहुत से कथानक संगृहीत हैं जिनसे वहां बौद्धधर्म-प्रचार के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इन्हें पाठकों के मनोरञ्जनार्थ यहां दिया जाता है।

खोतन राज्य की स्थापना

ह्वेन्-त्साङ् अपने यात्रावृत्तान्त में खोतन का वर्णन करते हुए लिखता है—"प्राचीन समय में यह देश निर्जन पड़ा था। इसी समय वैश्रवण देवता यहां निवास के लिये आये।

१. चीन के तक्लामकान मरुस्थल के दक्षिणीय सिरे पर युरङ्काश नदी की 'तारीम' घाटी के एक हरे-भरे मैदान को खोतन नाम से पुकारा जाता है। यह प्रदेश 'यारकन्द' से २०० मील दक्षिणपूर्व में स्थित है। अत्यन्त प्राचीन समय से यह तारीम घाटी के हरे भरे प्रदेशों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। युरङ्काश और कराकाश इन दोनों नदियों द्वारा इस प्रदेश की सिंचाई होती है। ये दोनों नदियां आगे चलकर 'खोतन' नद के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। विशेष जानकारी के लिये संलग्न मानचित्र देखिये—:

खोतन राज्य की स्थापना

इधर सम्राट् अशोक का ज्येष्ठ पुत्र कुनाल जब तक्षशिला का गवर्नर था तो कर्मचारियों ने उसकी आंखें निकाल लीं। इस घटना से अशोक अत्यन्त दुःखी और कुपित था। उसने कर्मचारियों को आज्ञा दी कि उत्तर में—हिमाच्छादित प्रदेश में—बसे हुए लोगों को वहां से हटा कर वीरान घाटी में बसाया जाये (अशोक का विश्वास था कि इस घटना में उनका हाथ है। इस लिये उसने यह आज्ञा दण्डस्वरूप दी थी) इस प्रकार निर्वासित किये हुए लोग खोतन में आकर बस गये। इन्होंने अपने में से एक को राजा चुन लिया। इसी समय चीनी सम्राट् ने अपने पुत्र को देश से निकाल दिया। वह जाकर खोतन के पूर्वीभाग में अपने साथियों सहित बस गया। उसके अधीनस्थ लोगों ने भी उसे अपना राजा मान लिया। कुछ दिन व्यतीत होने पर, एक दिन दोनों राजा शिकार करते हुए मरुभूमि में मिले। एक दूसरे से प्रश्नोत्तर के अनन्तर दोनों में अपनी २ महत्ता के लिये झगड़ा उठ खड़ा हुआ। कुछ समय तक गाली गलौज करने के उपरान्त निश्चित दिन रणक्षेत्र में मिलने का वचन देकर दोनों राजा अपने अपने राज्य में लौट गये। स्वदेश लौट कर दोनों ने अपने योद्धाओं को संग्राम के लिये तय्यार किया। निश्चित दिन दोनों सेनाओं में संघर्ष हुआ। युद्ध में पश्चिम प्रदेश का राजा परास्त हुआ और मार दिया गया। विजयी होकर पूर्ववर्त्ती राज्य के राजा ने देश के बीचोंबीच अपनी राजधानी बनाई और उसकी अच्छी तरह किलाबन्दी की। अपने राज्यको सुदृढ़ बनाने के लिये कई एक नये नगर बसाये तथा जनता में शान्ति स्थापित की। यद्यपि राजा बूढ़ा हो चुका था पर उसके कोई पुत्र न था। वंशोच्छेद के डर से राजा ने वैश्रवण के मन्दिर में जाकर पुत्रोत्पत्ति की याचना की। देवता ने प्रसन्न होकर उसे एक पुत्र दिया। राजा

बच्चे को लेकर महल में चला गया। उसने बहुत आश्चर्य से देखा कि बच्चा मां का दूध नहीं पीता है। बच्चे के पोषण की विधि पूछने के लिये वह फिर से देवमन्दिर में गया। मन्दिर में घुसते ही पृथ्वी ने माता के स्तन की आकृति धारण कर ली। बच्चे ने उससे दूध पी लिया। भूमि द्वारा पलने से लड़के का नाम 'कुस्तन' (कु, भूमि है स्तन जिसका) पड़ा। राजा ने प्रसन्न होकर वैश्रवण का मन्दिर बनवाया। उसे बहुत सी भेंट दी। यही कारण है कि वैश्रवण का मन्दिर खूब सजा हुआ है और उसमें प्रतिदिन नियमितरूप से पूजा होती है। क्योंकि इस देश के प्रथम राजा का पालन भूमि के स्तन से हुआ था इस लिये इस देश का नाम भी कुस्तन हुआ।"[1]

परन्तु तिब्बतीय विवरण खोतन राज्य की उत्पत्ति का वर्णन कुछ विचित्र ढंग से करते हैं। उनके अनुसार खोतन की स्थापना इस प्रकार हुई—"बुद्ध काश्यप के दिनों में कुछ ऋषि लोग खोतन गये। उनके साथ खोतन निवासियों ने बुरा व्यवहार किया। इस लिये ऋषि लोग वापिस लौट आये। यह सुन कर नागों को बहुत दुःख हुआ। उन्होंने सारे देश को झील रूप में परिणत कर दिया। जब शाक्यमुनि इस संसार में विद्यमान थे तो वे अपने बहुत से साथियों के साथ ली-युल[2] गये। वहां जाकर उन्होंने झील को अपनी प्रकाशमयी किरणों से घेर लिया। इस प्रकाश से ३६३ कमल फूल

---

१. देखिये, Budhist Records of the western world, Vol II, Page 309–11

२. तिब्बती विवरणों में खोतन का नाम 'ली–युल' दिया हुआ है। ली–युल का अर्थ है 'Country of li' 'ली = कांसे का देश। इसे 'कंसदेश' भी कहा जाता है।

उत्पन्न हुए। प्रत्येक कमल के मध्य में एक-एक दीपक जगमगा रहा था। इसके अनन्तर सब प्रकाश एक स्थान पर एकत्र हो गया। इस प्रकाश ने बाईं ओर से दाईं ओर तीन वार झील के चारों ओर चक्कर लगाया और फिर जल में विलीन हो गया।"

"तदनन्तर बुद्ध शाक्य मुनि ने आर्य्य शारिपुत्र और वैश्रवण से कहा कि समङ्ग सरण पर्वत की भाँति इस काली झील को काट डालो। इस पर आर्य्य शारिपुत्र ने अपने दण्ड के सिरे से और वैश्रवण ने अपने मृदङ्ग के अग्रभाग से झील खोल दी। इस घटना के पश्चात् भगवान् बुद्ध गोशीर्ष [1] पर्वत के मन्दिर में मनुष्य जाति के कल्याणार्थ सात दिन और रहे। इस स्थान पर इस समय एक छोटा सा चैत्य बना हुआ है।"

"भगवान् बुद्ध की मृत्यु के २३४ वर्ष पश्चात् धर्माशोक भारत का सम्राट् बना। पहले तो इसने बहुत से प्राणियों की हत्या की पर पीछे से अर्हत 'यश' के द्वारा बौद्धधर्म की दीक्षा ग्रहण की और अतीत में किये पापों को स्वीकार कर भविष्य में कोई भी पाप न करने का व्रत लिया। इस समय झील सूख चुकी थी। किन्तु खोतन अभी आवासित न हुआ था।"

"धर्माशोक के राज्याभिषेक के तीसवें वर्ष रानी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसके विषय में भविष्यद्वक्ताओं ने बताया कि बालक में बड़प्पन के बहुत से चिन्ह विद्यमान हैं और यह पिता के जीते हुए ही राजा बन जायेगा। यह सुनकर राजा को भय हुआ कि यह तो मुझे गद्दी से उतार देगा। उसने आज्ञा दी कि बालक को देश से निकाल दिया जाये। बच्चे को छोड़ने पर पृथ्वी, माता के स्तन की

---

१. ह्वेन्-त्सांङ् के अनुसार गोशीर्ष, गोशृङ्ग है।

आकृति धारण करके इसका पालन करती रही। भूमि के स्तन द्वारा पलने से इसका नाम 'कुस्तन' पड़ा।"

"इस समय ग्या (चीन) में एक बोधिसत्त्व शासन करता था। उसके ९९९ पुत्र थे। उसने वैश्रवण से प्रार्थना की कि मुझे एक पुत्र और दिया जाये जिससे पूरे एक हजार हो जायें। वैश्रवण ने देखा कि कुस्तन का भविष्य बहुत उज्वल है। इसलिये वह इसे चीन ले गया और बोधिसत्त्व को भेट कर दिया। चीनी सम्राट् ने इसका सम्यक्तया पालन-पोषण किया। एक दिन कुस्तन चीनाधिपति के पुत्रों से लड़ पड़ा। झगड़ते हुए उन्होंने कुस्तन से कहा कि तू चीनी सम्राट् का पुत्र नहीं है। यह सुनकर इसे बहुत दुःख हुआ। जब कुस्तन को पता चला कि मैं सचमुच ही चीनाधिपति का पुत्र नहीं हूं तो इसने सम्राट् से अपनी मातृभूमि की खोज में जाने की आज्ञा मांगी। राजा ने कहा—तू मेरा पुत्र है। यह तेरी मातृभूमि है। तू दुःखी मत हो। बारम्बार समझाने पर भी कुस्तन न माना और अपना राज्य पृथक् स्थापित करने की इच्छा प्रकट की। उसने १० सहस्र सैनिक एकत्र कर राज्य की खोज में पश्चिम की ओर प्रस्थान किया। घूमता-घामता वह 'मैस्कर' पहुंचा।"

"इधर धर्माशोक के मंत्री 'यश' का प्रभाव इतना बढ़ चुका था कि उसके सम्बन्धी राजा बनने के इच्छुक थे। इसलिये वह भी ७ हज़ार साथियों सहित पृथक् राज्य स्थापित करने के लिए पूर्व तथा पश्चिम के देशों को देखता हुआ 'उथेन' नदी के किनारे पहुंचा।"

"उधर कुस्तन के अनुयायियों में से दो व्यापारी स्थान देखते हुए 'तोला' नामक स्थान पर पहुंचे। इस शून्य प्रदेश को देख कर वे बहुत प्रसन्न हुए और सोचने लगे कि यह स्थान राजकुमार कुस्तन के योग्य

है। इसके अनन्तर ये मंत्री 'यश' के शिविर में पहुंचे। इन व्यापारियों द्वारा कुस्तन का परिचय पाकर यश ने राकुजमार के पास सन्देश भेजा—'आप राजपरिवार के हैं और मैं भी एक ऊंचे घराने का हूं। अच्छा हो कि हम आपस में मिल जायें और इस निर्जन देश को बसा लें। आप राजा बनें और मैं आप का मंत्री।' इस संदेश को प्राप्त करते ही कुस्तन अपने समग्र साथियों सहित यश से मिला। राजा और मन्त्री यह निश्चय न कर सके कि अपना घर कहां बनायें ? इसलिये इन की सेनाएं बंट गईं और परस्पर लड़ने लगीं। इतने में वैश्रवण और श्रीमहादेवी[1] प्रकट हुए। राजकुमार और मंत्री ने दोनों देवों के लिए उस स्थान पर मन्दिर बनवा दिये और उन्हें अपना अधिष्ठातृदेव मान कर इनका सम्मान किया।"

"इस प्रकार राजकुमार कुस्तन और यश में फिर से समझौता हो गया। कुस्तन राजा बना और यश उसका मंत्री। कुस्तन के चीनी साथी उथेन नदी के निचले भाग में और यश के अनुयायी नदी के ऊपरले भाग में बस गये।"

"खोतन के निवासी आधे भारतीय और आधे चीनी हैं। इस लिये यहां के निवासियों की भाषा न तो भारतीय है और न चीनी ही। लिपि भारतीय लिपि से बहुत मिलती है और लोगों का स्वभाव चीनियों से। धर्म और पवित्र भाषा भारत से मेल खाती है।

"जिस समय कुस्तन चीन छोड़ कर नया राज्य स्थापिन करने के लिये निकला था उस समय उसकी आयु १२ वर्ष थी। जब उसने खोतन की स्थापना की तब वह १९ वर्ष का था। यदि ठीक-ठीक

---

१. हारीति

गणना की जाये तो भगवान् बुद्ध के निर्वाणकाल से २३४ वर्ष पश्चात् खोतन की स्थापना हुई" ॥ [1]

उपरोक्त दोनों कथानकों से निम्न परिणाम निकलते हैं:—

(क) अशोक से बहुत वर्ष पूर्व कुछ ऋषि (धर्मप्रचारक) खोतन गये थे। परन्तु वहां के निवासियों ने उनका स्वागत न कर अपमान किया, जिससे उन्हें वापिस लौटना पड़ा।

(ख) किन्हीं दैवीय कारणों से खोतन में भयंकर जल-विप्लव हुआ और वहां की जनसंख्य बिलकुल नष्ट हो गई।

(ग) पानी सूखने पर अशोक का मंत्री यश और राजकुमार कुस्तन स्थान ढूंढते हुए खोतन पहुंचे। देश को जनशून्य देख कर और स्थान की सुंदरता से मुग्ध होकर दोनों ने उसे बसा लिया।

(घ) इन्हीं कथानकों से एक परिणाम और निकलता है और वह यह है कि खोतन एक भारतीय उपनिवेश था। जिन लोगों ने उसे बसाया वे भारतीय थे। उनके देवता वैश्रवण और श्री महादेवी थे। उनके मन्दिरों की मूर्तियां भी इन्हीं देवताओं की थीं।

अर्हत वैरोचन द्वारा खोतन में बौद्धधर्म का प्रवेश

खोतन के इस भारतीय उपनिवेश में बौद्धधर्म किस प्रकार प्रचलित हुआ इसका बर्णन चीनी यात्रियों के विवरणों में बहुत सुंदरता से किया गया है। प्रथम कथानक ह्वेनुत्साङ् के यात्रा वृत्तान्त में पाया जाता है। कथा इस प्रकार प्रारम्भ होती है—"खोतन नगर के दक्षिण में १० ली [2] की दूरी पर किसी प्राचीन राजा ने अर्हत वैरोचन के सम्मान में एक विहार बनवाया था। यह अर्हत वैरोचन ही था जिसने पहले पहल इस देश में बुद्ध की शिक्षायें प्रचलित की थीं। जिन दिनों यहां बुद्ध का सन्देश न पहुंचा था, अर्हत

---

१. देखिये, Rock-Hill's, Life of the Budha. Page 232-37

२. ली, यह एक चीनी माप है जो ⅕ मील से कुछ अधिक होता है।

वैरोचन काश्मीर से खोतन गया और एक काष्ठ-खण्ड पर ध्यान-मग्न हो गया। जब राजा को अर्हत के आगमन का समाचार मिला वह तुरन्त उससे मिलने आया। अर्हत ने राजा को बौद्धधर्म का सार कह सुनाया। राजा ने कहा यदि आप मुझे भगवान् बुद्ध के दर्शन करा दें तो मैं इस नये धर्म का अनुगामी बनने को उद्यत हूं। अर्हत ने उत्तर दिया यदि आप एक विहार बनवायें तो मैं आपकी इच्छापूर्ति कर सकता हूं। अर्हत की प्रार्थना पर राजा ने विहार बनवा दिया। भिक्षु लोग इकट्ठे हो गये। परन्तु विहार में कोई घंटा न था। अब राजा ने अर्हत को अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिये कहा। शीघ्र ही आकाश से बुद्ध भगवान् हाथ में घन्टा लिये हुए नीचे उतरे। यह देख राजा को अर्हत की शिक्षाओं में विश्वास हो गया। उसने बुद्ध के चरणों में अपना सिर रख दिया और बौद्ध-धर्म के प्रचारार्थ प्रयत्न करने लगा।"[1]

दूसरा कथानक सुङ्-युन् के लेखों में मिलता है। इसके अनु-सार—"पूर्व इसके कि एक व्यापारी वैरोचन नामक भिक्षु को खोतन लाया, यहां का राजा बौद्धधर्म को नहीं मानता था। जब व्यापारी ने जाकर राजा से कहा कि मैं अपने साथ एक श्रमण लाया हूं तो राजा एकदम श्रमण के दर्शनार्थ चल पड़ा। श्रमण ने राजा को सम्बोधन कर कहा—मुझे बुद्ध भगवान् ने इसलिये भेजा है कि आप धार्मिक कृत्य करने के लिये एक विहार बनवायें। राजा ने कहा मैं ऐसा कर सकता हूं यदि आप मुझे भगवान् का साक्षात्कार करा दें। यह सुनकर वैरोचन ने घण्टा बजाया। आकाश से राहुल, बुद्ध के रूप में नीचे उतरे। राजा उनके चरणों में गिर पड़ा। प्रसन्न होकर राजा ने वहां एक विहार बनवाया।"[2]

---

१. देखिये, Budhist Records of the westen world, Vol II, Page 312-13

२. देखिये, Budhist Records of the western world, Travels of Sungyun.

उपर्युक्त दोनों कथानकों का सार यह है कि—अर्हत वैरोचन काश्मीर से खोतन गया वहां जाकर उसने बौद्धधर्म का प्रचार किया। राजा उससे प्रभावित होकर बुद्ध का भक्त बन गया और कुछ समय पश्चात् उसने एक विहार बनवाया जो खोतन का सर्वप्रथम बौद्ध-विहार था।

तिब्बतीय विवरणों से ज्ञात होता है कि खोतन राज्य की उत्पत्ति के १६५ वर्ष उपरान्त ५८ ई० पू० में विजयसम्भव खोतन का राजा हुआ।[1] यह कण्व राजा भूमिमित्र का समकालीन था। राज्याभिषेक के ५वें वर्ष काश्मीर से अर्हत वैरोचन नामक भिक्षु खोतन पहुंचा। इसके चमत्कारों से प्रभावित होकर राजा ने 'सरमा' नामक विहार बनवाया और स्वयं भी बौद्धधर्म की दीक्षा ली। वैरोचन ने ही खोतन में 'ली' भाषा और 'ली' लिपि तथा महायानधर्म को प्रवृत्त किया था। इस प्रकार वैरोचन ही वह प्रथम प्रचारक था जिसने खोतन में बौद्धधर्म प्रचलित किया और विजयसम्भव खोतन का प्रथम बौद्धसम्राट् था।

विजयवीर्य्य

विजयसम्भव के पश्चात् सात राजाओं तक खोतन में किसी विहार का निर्माण नहीं हुआ और न बौद्धधर्म का अधिक विकास ही हुआ। आठवां राजा विजयवीर्य्य था इसने दो विहार बनवाये। एक तो 'गन्त्सिर चैत्य' और दूसरा 'गोश्रृङ्ग विहार'। गन्त्सिर चैत्य की कथा इस प्रकार है—:"एक दिन राजा ने गन्त्सिर नामक स्थान पर स्वर्णमय और रजतमय प्रकाश देखा। इसे देखकर उसके मन में विचार उठा कि महात्मा बुद्ध ने भविष्यद्वाणी की

१. देखिये, Rockhill's Life of the Budha, Page 237

थी कि यहां एक विहार बनेगा । तदुपरान्त राजा ने अपने सलाहकार बुद्धभूति की सलाह से गन्त्सिर चैत्य बनवाया।"[1]

विजयवीर्य्य के पश्चात् दो राजाओं तक फिर बौद्धधर्म का विशेष विकास नहीं हुआ। ११वां राजा विजयजय था। इसने चीनी राजकुमारी से विवाह किया था जिसने अपने नाम पर 'लु-शी' विहार बनवाया था। इसी के समय खोतन में पहले पहल रेशम के कीड़े लाये गये थे। ह्वेन्-त्साङ् अपने यात्रावृत्तान्त में विहार का वर्णन करते हुए लिखता है—"राजधानी से ५ या छः ली दक्षिण पूर्व में एक विहार है। इसका नाम लु-शी[2] है। इसे एक प्राचीन राजा की रानी ने बनवाया था। प्राचीन समय में इस देश के निवासियों को शहतूत और रेशम के कीड़ों के विषय में कुछ भी ज्ञान न था। जब इन्हें पता चला कि चीन में शहतूत और रेशम के कीड़े होते हैं तो राजा ने एक दूतमण्डल चीन भेजा परन्तु चीनी सम्राट् ने अपने राज्य में पहरे लगा दिये जिससे दूतमण्डल को न तो इनके विषय में कुछ पता ही लगने पाया और न कोई कीड़ा ही ले जाया जा सका। अब खोतन के राजा ने चीनी सम्राट् की अधीनता स्वीकृत करते हुए प्रस्ताव किया—अच्छा हो यदि आप अपनी लड़की का विवाह मुझसे कर दें। सम्राट् ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। तदनन्तर खोतन के राजा ने सन्देश देकर एक दूतमण्डल चीनी राजकुमारी के पास भेजा। सन्देश में कहा गया था—हमारे देश में न तो रेशम है और न रेशम के कीड़े ही। यदि आप अपने साथ रेशम के कुछ कीड़े ले आयें तो बहुत उत्तम हो और तब आप अपने लिये रेशम के कपड़े भी बनवा सकेंगी। यह सुनकर राज-

विजयजय

---

१. देखिये, Rockhill's Life of the Budha, Page 231-8

२. लु-शी का अर्थ है Stag pierced

कुमारी ने शहतूत-वृक्ष के कुछ बीज तथा थोड़े से रेशम के कीड़े अपने सिर के पहरावे में छिपा लिये। चीनी सीमान्त पर रक्षकों ने राजकुमारी की अच्छी तरह से तलाशी ली परन्तु सिर छूने का किसी को साहस न हुआ। खोतन पहुंच कर राजकुमारी का बहुत स्वागत हुआ। जहां इसे ठहराया गया वहां आगे चलकर लु-शी विहार बना। यहीं पर राजकुमारी ने बीज और कीड़े छोड़ दिये।.........कुछ समय उपरान्त यह आज्ञा पत्थर पर उत्कीर्ण कराई गई कि कोई भी व्यक्ति रेशम के कीड़ों को न मारे। जब कीड़ा निकल जाये तो रेशम इकठ्ठा किया जाये। यदि कोई व्यक्ति इस आज्ञा का उल्लङ्घन करेगा तो वह दैवीय रक्षा से वञ्चित रहेगा। तब से लेकर अब तक इस देश में कीड़े हैं और इन्हें कोई भी व्यक्ति नहीं मारता है।"[1] इस प्रकार ह्वेन्-त्साङ् के लेख से भी इस बात की पुष्टि होती है कि विजयजय ने चीनी राजकुमारी से विवाह किया था और इसके द्वारा खोतन में प्रथम बार रेशम के कीड़े लाये गये थे।

विजयधर्म

विजयजय के तीन लड़के थे। बड़ा लड़का भिक्षु बन अपना नाम 'धर्मानन्द' रख कर भारत चला आया था। दूसरा लड़का विजयधर्म राज्य का स्वामी बना। जब धर्मानन्द स्वदेश लौटा उस समय तक विजयधर्म राज्य कर रहा था। खोतन पहुंकर धर्मानन्द ने 'महासंघिक' सम्प्रदाय का प्रचार किया। इस समय खोतन में महासंघिक सम्प्रदाय के ८ विहार थे। विजयधर्म के बाद उसका छोटा भाई डन्-डरस् राजा बना। इसने भारत से 'मंत्रसिद्धि' नामक भिक्षु को विहार बनवाने के लिये बुलवाया था। मंत्रसिद्धि ने सर्वास्तिवादिन् सम्प्रदाय का प्रचार किया। 'संगतीर' नामक एक विहार बनवाया। तदनन्तर विजयधर्म का लड़का विजयसिंह राजा

१. देखिये, Budhist Records of the western world, Page 318-19

हुआ। इसके समय गह्जग[1] के राजा ने खोतन पर आक्रमण किया परन्तु विजयसिंह ने उसे बुरी तरह परास्त किया और बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने पर छोड़ दिया। विजयसिंह ने काश्घर की राजकुमारी से विवाह किया। इससे बौद्धधर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली।

विदेशी आक्रमणकारी

१४ वें राजा विजयकीर्त्ति के समय विदेशी आक्रमणकारियों ने खोतन पर आक्रमण किया। खोतन जीत लिया और लोगों पर तरह तरह के अत्याचार किये। बहुत से विहार जला दिये और आज्ञा निकाल दी कि कोई नया विहार न बनाया जाये। ये आक्रमणकारी टंगुत्स, जॉन जॉन और श्वेतहूण लोग थे। किन्तु खोतन फिर से स्वतन्त्र होगया। इससमय खोतन में बौद्धधर्म की दशा कैसी थी इसका परिचय विदेशी यात्रियों के वर्णनों में मिलता है।

विदेशी यात्रियों का आगमन

४०४ ईसवी में चीनी यात्री फहियान कूचा से खोतन पहुंचा। यह खोतन का वर्णन इस प्रकार करता है—"देश बहुत समृद्ध है। लोग खूब सम्पन्न हैं। जनसंख्या बढ़ रही है। यहां के सब निवासी बौद्ध हैं और मिल कर बुद्ध की पूजा करते हैं। प्रत्येक घर के सामने एक स्तूप है। छोटे से छोटे स्तूप की ऊंचाई पच्चीस फीट है। संघारामों में यात्रियों का खूब स्वागत किया जाता है। राज्य में बहुत से भिक्षु निवास करते हैं। इन में अधिकांश महायान सम्प्रदाय के हैं। अकेले गोमति विहार[2] में ही महायान सम्प्रदाय के तीन सहस्र

---

१. तारानाथ का इतिहास पृष्ट ६३ के अनुसार गह्जग, काश्घर है। स्टाईन ने भी ncient Khotan नामक पुस्तक के Vol I में खोतन का इतिहास देते हुए लिखा है कि ६ठी शताब्दी में खोतन इतना शक्तिशाली था कि काश्घर तक १३ राज्य इसकी आधीनता स्वीकृत करते थे। इस लिये सम्भव है कि गह्जग, काश्घर ही हो।

२. यहां पर फाहियान ठहरा था

भिक्षु निवास करते हैं, तथा घन्टा बजने पर भोजन करने के लिये भोजनालय में प्रविष्ट होते हैं और चुपचाप अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। भोजन करते हुए ये परस्पर बात चीत नहीं करते और न बांटने वाले के साथ ही बोलते हैं। प्रत्युत हाथ से ही 'हां' और 'न' का इशारा कर देते हैं। इस देश में चौदह बड़े बड़े संघाराम हैं। वसन्त ऋतु के प्रथम दिवस मूर्तियों को स्नान कराया जाता है और नगरों को खूब सजाया जाता है। फिर चौदह विहारों की मूर्तियां तीस फीट ऊंचे, चार पहिये वाले रथों पर चढ़ा कर नगर-द्वार के बाहिर ले जाई जाती हैं। गोमति विहार की मूर्तियां जुलूस में सब से आगे रहती हैं क्योंकि राजा इस विहार का बहुत आदर करता है। जब जुलूस नगर द्वार से सौ कदम दूर रह जाता है राजा अपने सिर से मुकुट उतार लेता है और नंगे पैर चल कर मूर्तियों पर फूल तथा उपहार चढ़ाता है। तदनन्तर महल तथा नगर की अन्य स्त्रियां नगर-द्वार के ऊपर से फूल बखेरती हैं।"

"प्रत्येक रथ दूसरे से भिन्न होता है। प्रत्येक संघाराम का दिन निश्चित है जिस दिन उसकी मूर्तियों का जुलूस निकाला जाता है। वसन्त ऋतु के प्रथम दिन से चौदहवें दिन तक निरन्तर जुलूस निकलते रहते है। जलूस समाप्त होने पर राजा और रानी महल में लौट जाते हैं।"[1]

"राजधानी से सात या आठ ली पश्चिम में एक संघाराम है। इसे नव-विहार कहा जाता है। इसके बनने में अस्सी वर्ष व्यतीत हुए हैं। केवल वेदी बनने में ही तीन राजाओं का शासन समाप्त हो गया है। इसके स्तूप की ऊंचाई २५० फीट है। इस पर बहुत से चित्र उत्कीर्ण हैं। स्तूप के पीछे एक भवन है। यह बहुत ही

१. यह त्यौहार भारतीय रथयात्रा उत्सव से मिलता है।

सुन्दर है। शहतीर, स्तम्भ, द्वार, खिड़कियां और चौखट सब पर सोना मढ़ा हुआ है।"[1]

५१९ ई० में सुङ्-युन् खोतन पहुंचा। यह लिखता है—"इस देश का राजा सिर पर मुर्गे की आकृति का मुकुट धारण करता है। उत्सवों के समय राजा के पीछे तलवार और धनुष उठाने वालों के अतिरिक्त विविध वाद्य-उपकरणों को बजाने वाले भी चलते हैं। यहां की स्त्रियां पुरुषों की भांति घोड़ों पर चढ़ती हैं। मुर्दे जलाये जाते हैं। हड्डियों पर स्तूप खड़ा किया जाता है। मृतपुरुष के सम्बन्धि शोक मनाने के लिये अपने सिर के बाल कटा देते हैं और मुंह पर घाव कर लेते हैं। जब राजा मरता है तो उसका शव नहीं जलाया जाता उसके शरीर को कफन में लपेट कर गाड़ दिया जाता है। तदनन्तर उस पर चैत्य चिना जाता है, जिससे समय समय पर वहां धार्मिक कृत्य किये जा सकें।"[2] सुङ्-युन्

६४४ई० में ह्वेन्-त्साङ् चीन लौटते हुए मार्ग में खोतन ठहरा था। यहां उसने ८ मास बिताये थे। इस लम्बे अरसे में चीनी यात्री ने खोतन के रीति रवाजों और प्रथाओं का अच्छा अध्ययन किया था। ह्वेन्-त्साङ् खोतन का वर्णन करते हुए लिखता है "यहां का जलवायु अनुकूल है। परन्तु कभी कभी आंधियां चलती हैं, जो अपने साथ धूल के बादल ले आती हैं। लोग बहुत सभ्य और न्यायप्रिय हैं। अतिथियों का खूब सत्कार करते हैं। अध्ययन और कलाओं में इनकी बहुत रुचि है। ये लोग अपने भाग्य से सन्तुष्ट रहते हैं।" ह्वेन्-त्साङ्

१. देखिये, Budhist Records of the western world, Travels of Fa-hian, Page XXV to XXVII

२. देखिये, Budhist Records of the western world, Travels of Sung-yun, Page L XXXVII to L XXVIII

"यह देश गाने के लिये बहुत प्रसिद्ध है। यहां के निवासी नाच-गान में बहुत प्रवीण हैं। अधिकांशतः श्वेत रेशम धारण किया जाता है। इनकी वाक्य रचना भारतीयों से बहुत मिलती है, यद्यपि वर्णमाला कुछ भिन्न है। पर भेद बहुत हलका है। बौद्धधर्म का बहुत आदर है। यहां पर लगभग १०० संघाराम हैं। इन में कुल मिला कर पांच हजार भिक्षु निवास करते हैं जिन में से अधिकांश महायान धर्म को मानने वाले हैं।"

"युद्ध में राजा बहुत दिलचस्पी लेता है। बुद्ध में इसकी अगाध श्रद्धा है। यह अपने को वैरोचन का वंशज बताता है।"[१] खोतन राज्य की उत्पत्ति का वही वर्णन किया गया है जो पहले उद्धृत किया जा चुका है। तत्पश्चात् खोतन के तत्कालीन विहारों और मन्दिरों का वर्णन है। उनका संक्षिप्त वर्णन वहां दिया जाता है जिससे यह ज्ञात हो सके कि ह्वेन्-त्साङ् के समय वहां बौद्धधर्म का कितना अधिक उत्कर्ष था।

"राजधानी से बीस ली दक्षिण-पश्चिम में गोश्रृङ्ग पर्वत की दो चोटियां हैं। दोनों के साथ लम्बी लम्बी पर्वतमालायें हैं। इस पर्वत पर एक मूर्त्ति है जिससे समय समय पर प्रकाश-किरणें विक्षिप्त होती हैं। यहीं पर तथागत ने देवों के मङ्गल के लिये श्रेष्ठधर्म का उपदेश दिया था और खोतन राज्य की स्थापना के सम्बन्ध में भविष्यद्वाणी की थी।"

"राजधानी से दस ली दक्षिण-पश्चिम में 'दीर्घ-भवन' नामका विहार है। इस में बुद्ध की एक खड़ी हुई मूर्ति है। यह मूर्ति

१. देखिये, Bndhist Records of the western world, Vol 11 Page 309

कूचा[1] से यहां लाई गई थी।"

"राजधानी से सौ ली पश्चिम में 'भगई' नामक नगर है। यहां पर बुद्ध की सात फीट ऊंची बैठी हुई मूर्ति है। मूर्ति बहुत सुन्दर है। देखते ही दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। इसके सिर में बहुमूल्य हीरे जड़े हुए हैं। जिनसे चारों ओर बड़ा उज्वल प्रकाश फैलता है।"

"राजधानी से पांच या छः ली पश्चिम में 'समज्ञा'(सो-मो-जोह) नामक विहार है। विहार के मध्य में सौ फीट ऊंचा एक स्तूप है।"

"राजधानी के दक्षिणपूर्व में लु-शी विहार है। इसे चीन की उस राजकुमारी ने बनवाया था जो अपने साथ चीन से रेशम के कीड़े लाई थी।"

"राजधानी से तीन सौ तीस ली पूर्व की ओर जाने पर एक नगर आता है जिसे 'पीमो' कहा जाता है। यहां बुद्ध की चन्दन निर्मित एक खड़ी हुई मूर्ति है। इसकी ऊंचाई २० फीट है। इसके चारों ओर से हर समय प्रकाश किरणें निकलती रहती हैं। ऐसा कहा जाता है कि जिनको कोई रोग होता है वे इस पर स्वर्णपत्र चढ़ाते हैं और नीरोग हो जाते हैं। जो लोग सच्ची भावना से और सच्ची श्रद्धा से प्रार्थनायें करते हैं उनकी सब इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं। लोगों का कहना है कि:—जब भगवान् बुद्ध जीवित थे। तब कौशाम्बी के राजा उदयन ने इसे बनवाया था। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् मूर्ति आकाश मार्ग से 'हो-लो-लोकिआ' पहुंची। यहां के लोग बहुत समृद्ध और नास्तिक थे। मूर्त्ति ने अनेक चमत्कार दिखाये परन्तु किसी ने भी उसका आदर नहीं किया।"

---

१. यह ईसवी सन् से पूर्वीय तुर्किस्तान में एक शक्तिशाली राज्य था। 'हॉन' वंशीय विवरणों में इस राज्य का वर्णन है।

"इसी नगर में एक अर्हत रहता था। इसने झुककर मूर्ति को प्रणाम किया। अर्हत की विचित्र आकृति और पहरावे को देखकर नगरनिवासी भयभीत हो गये। उन्होंने राजा को अर्हत के आगमन का समाचार सुनाया। राजा ने आज्ञा दी कि इसे रेत और मिट्टी में दबा दिया जाये। जब उसे रेत में दबाया जा रहा था तो एक मनुष्य का हृदय पसीज गया। उससे यह दृश्य देखा न गया। उसके हृदय में इस मूर्ति के प्रति बड़ी प्रतिष्ठा थी और वह सदा इसकी पूजा करता था। मरते समय अर्हत ने उससे कहा—आज से सात दिन तक रेत और मिट्टी की वर्षा होगी जिससे सारा नगर दब जायेगा और कोई जीता न बचेगा। तुम्हें इससे बचने का उपाय करना चाहिये। यह कहकर अर्हत ने प्राणत्याग दिये।"

"उस व्यक्ति ने नगर में जाकर अपने संबन्धियों को यह समाचार सुनाया पर उन्होंने उसकी बात पर ध्यान न देकर उसकी हंसी उड़ाई। अगले ही दिन अचानक भयंकर आन्धी आई। इससे पूर्व गन्दी मिट्टी की वर्षा हुई और साथ ही बहुत से बहुमूल्य पदार्थ भी गिरे। तब लोगों ने उस समाचारदाता का ध्यान किया। किन्तु वह आदमी तो सुरंग खोदकर उसमें छिप गया था क्योंकि उसे भावी विपत्ति का ज्ञान था। सातवें दिन रात्रि के समय सारा नगर रेत तथा मिट्टी से भर गया। अब वह सुरंग से निकल कर पूर्व में गया और 'पीमो' में बस गया। उस के पहुंचते ही वह मूर्ति भी वहां प्रकट हुई। उस व्यक्ति ने वहां मूर्त्ति की पूजा की। व्यक्ति को आगे जाने का साहस न हुआ।

"इस समय हो-लो-लोकिया नगर रेत का पर्वत बना हुआ है। समीपस्थ देशों के राजाओं और दूरस्थ मनुष्यों ने कई बार इस पर्वत को खोदने का प्रयत्न किया है किन्तु ज्यों ही वे इस स्थान पर पहुंचे

भयंकर आन्धी चलने लगी और आकाश में काली-काली घटायें घिर आईं। इसलिये वे अपने प्रयत्न में सफल न हुए।"[1]

ह्वेन्-त्साङ् के यात्रा वृत्तान्त के अनुसार इस समय खोतन का राजा बौद्ध था और अपने को वैरोचन का वंशज बतलाता था। परन्तु यह राजा कौन था? इसका कुछ पता नहीं चलता। चीन के थाङ् कालीन विवरणों से ज्ञात होता है कि ६३५ ई० में खोतन के राजा वी-शी-वू-मी ने चीनी दरबार में उपहार भेजे थे। ६३६ ई० में इसने अपना पुत्र चीन भेजा जो कि राजकीय सेना का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। इसने ६४६ ई० तक शासन किया। ऐसा प्रतीत होता है कि ह्वेन्-त्साङ् के समय यही राजा राज्य कर रहा था।

खोतन के भिक्षुओं का देशत्याग

तिब्बती विवरणों के अनुसार—"बुद्ध शाक्य मुनि के निर्वाण प्राप्त करने के पंद्रह सौ वर्ष (१००७ ई० में) पश्चात् ली-युल का राजा बौद्ध नहीं था। उसने जनता पर भयंकर अत्याचार किये जिन से भयभीत होकर लोगों ने त्रिरत्न में विश्वास छोड़ दिया। भिक्षुओं को दान देना बन्द कर दिया। परिणामतः भिक्षु लोग बागों और खेतों में काम करने लगे।"

"प्रत्येक आगामी वर्ष पहले खराब आने लगा बीमारियां उठ खड़ी हुईं। अकाल वायुएं और वर्षायें बरसने लगीं। असमय में ही धुन्ध, कीड़े और पक्षी पैदा हो गये जिनसे फसलें नष्ट हो गईं। बौद्धधर्म के विद्वेषी मंत्रियों ने पहले राजाओं द्वारा बनाये हुए भिक्षु आश्रमों पर कब्जा कर लिया। ऐसी दशा में भिक्षु लोग 'सर-मा' विहार में इकट्ठे हुए। बहुत विवेचना के उपरान्त वसन्त ऋतु के

---

१. देखिये, Budhist records of the western world, Vol II Page 322-24

अन्तिम मास के पन्द्रवें दिवस की सायंकाल को उन्होंने खोतन छोड़ने का निश्चय कर लिया।"

"वर्षा ऋतु व्यतीत होने पर उन्होंने तिब्बत की ओर प्रस्थान किया। चार–पांच दिन बाद वे तिब्बत के 'सल–बी' नगर में पहुंचे। वहां के निवासियों ने राजा को कहला भेजा कि खोतन से भिक्षुओं का बड़ा सा जत्था आया है आप आज्ञा दीजिये कि उनके लिये क्या किया जाये ?"

"इस समय तिब्बत में उस राजा का सातवां उत्तराधिकारी शासन कर रहा था जिसके समय तिब्बत में पहले पहल बौद्धधर्म का प्रचार हुआ था। इसने चीनी राजकुमारी कङ्-शो से विवाह किया था। राजा और रानी दोनों ही कट्टर बौद्ध थे।"

"रानी ने समाचार पाते ही राजा से प्रार्थना की कि वह भिक्षुओं को राजधानी में निमन्त्रित करे। राजा ने इसे स्वीकार कर लिया और भिक्षुओं के आगमन पर उनके निवासार्थ सात विहार बनवाये।"

"इसी समय रानी को छोटी माता निकल आई और उस से उस की मृत्यु होगई। धीरे धीरे इस रोग ने महामारी का रूप धारण कर लिया और मत्री, उसके लड़के तथा बहुत से लोगों में यह रोग फैल गया। अब एक सलाहकार ने राजा से कहा—इन भिक्षुओं के आगमन से पूर्व हमारा देश बहुत सम्पन्न और समृद्ध था। परन्तु इनके आ जाने से विविध कष्ट हम पर आ पड़े हैं। कङ्–शो मर गई है, मंत्री और उसके लड़के की अवस्था चिन्तनीय है। इस लिये कृपा कर इन भिक्षुओं को निकाल कर बाहिर कीजिये। इस पर राजा ने यह आज्ञा दी कि मेरे राज्य में एक भी भिक्षु न रहे।"

"तिब्बत से निकाले जाने पर सब के सब भिक्षु पश्चिम में गान्धार की तरफ चल पड़े। इसी समय भारतीय भिक्षु भी मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित होकर गान्धार की ओर भाग रहे थे। गान्धार पहुंच कर दो वर्ष तक ये शान्ति पूर्वक रहे परन्तु तीसरे वर्ष गान्धार के बौद्धराज की मृत्यु हो गई। इसकी मृत्यु के पश्चात् गान्धार इसके दो लड़कों में बंट गया। इनमें से एक बौद्ध था और दूसरा जैनी। इन दोनों में परस्पर संघर्ष हुआ। हजारों श्रमणों ने जैनी राजा पर आक्रमण किया। परिणामतः जैनी राजकुमार मारा गया। और बौद्ध राजकुमार सिंहासनारूढ़ हुआ। पांच मास उपरान्त श्रमणों ने इसे भी कत्ल कर दिया और एक भिक्षुको राजा बनाया। इसने दो वर्ष तक शासन किया।" [1]

तुर्कों का इतिहास पढ़ने से पता चलता है कि १००० ई० में तुर्क आक्रान्ता यूसुफ कादरखाँ ने खोतन पर आक्रमण किया। खोतन जीत लिया गया। तिब्बती विवरणों में जिनके आक्रमणों का उल्लेख है वे यही तुर्क लोग हैं। इन्हीं के द्वारा सताये हुए भिक्षु खोतन छोड़ कर तिब्बत भाग गये। वहां से भी निकाले जाने पर गान्धार गये। इन तुर्कों का धर्म इस्लाम था। इनके द्वारा खोतन में बौद्धधर्म के स्थान पर इस्लाम का प्रचार हुआ। १००० ई० से ११२५ई० तक तुर्क लोग शासन करते रहे। ११२५ई० से १२१८ई तक का इतिहास अज्ञात है।

मङ्गोलों का प्रभुत्व

१२१८ ई० में खोतन चंगेजखां के मङ्गोल साम्राज्य का हिस्सा बन गया। १२ वीं सदी में मङ्गोल सरदार चंगेजखां के नेतृत्व में एशिया में मङ्गोल नाम से एक नई शक्ति उठ खड़ी हुई थी। इसने योरुप और एशिया के बहुत से भाग को अपने आधीन कर लिया

१. देखिये, Rockhill's. Life of the Budha, Page 240-45

था। मङ्गोलिया से लेकर आस्ट्रिया तक एक विशाल मङ्गोल साम्राज्य स्थापित हो चुका था। १२१८ ई० में खोतन भी मङ्गोल साम्राज्य में मिला लिया गया। चंगेजखाँ के कुछ समय पश्चात् कुबलेईखां उत्तराधिकारी हुआ। इसके समय १२७१ में मारकोपोलो [1] चीन जाता हुआ मार्ग में खोतन ठहरा। यह लिखता है—"यहां के सब निवासी मुहम्मद के अनुयायी हैं और कुबलेईखां को अपना राजा मानते हैं।" [2] इसके उपरान्त कई सौ वर्षों तक यह इस्लामी क्रिया-शीलता का प्रधान केन्द्रस्थान बना रहा। १८०४ ई० में इसने काश्घर के 'याकूब बेग' तथा चीनी प्रभुत्व के विरुद्ध 'डंगन–क्रान्ति' में बहुत भाग लिया।

१८७८ ई० में चीन की कृषक सेना ने खोतन पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया और अब यह चीन के सिन्क्याङ् प्रान्त का भाग बन गया है। खोतन नगर इसका मुख्य केन्द्र है। यहां का शासन उस काल का प्रतिबिम्ब है जब कि सिंचाई ही आर्थिक संगठन का आधार होती है।

खोतन में प्राप्त बौद्ध अवशेष

आज से आधी शताब्दी पूर्व किसी को स्वप्न में भी यह

१. यह इटली मे 'वेनिस' का रहने वाला था। १२९८ मे जब वेनिस और जिनेवा मे लड़ाई हुई तो जो कैदी पकड़े गये थे उन में से एक मारको–पोलो भी था। इस घटना से पूर्व यह विविध देशों की यात्रा कर चुका था। कैद में रहते हुए यह 'रस्टिशिलआनो, को अपनी यात्राओं का वृत्तान्त सुनाया करता था। पीछे से इसी व्यक्ति ने 'मारको पोलो का यात्रा वृत्तान्त' नामक ग्रन्थ लिखा। १४ वीं और १५ वीं शताब्दी में इस ग्रन्थ का बहुत आदर था।

२. देखिये, Stien's, Ancient Khotan, Vol II. Mercoo Polo.

विचार न आया होगा कि तुर्किस्तान की वह भूमि जिस में चारों ओर रेत ही रेत पड़ी दिखाई देती है उस में से एकाएक बड़े बड़े विहारों, स्तूपों और मन्दिरों के अवशेष प्राप्त होंगे। सहस्रों हस्त लिखित पुस्तकें, चित्र तथा लिखी हुई तख्तियां मिलेंगी और प्राचीन नगर, किले और गुहायें उपलब्ध होंगी, जो इस बात को प्रमाणित करेंगी कि किसी अतीतकाल में खोतन बौद्ध संस्कृति का महान् केन्द्र था।

पिछले कुछ वर्षों से विदेशी यात्रियों द्वारा खोतन में जो अन्वेषणायें हुई हैं उन से हम इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि आज से कई सौ वर्ष पूर्व खोतन में बौद्धधर्म बहुत उन्नति पर था। वहां सैंकड़ों विहार थे, जिनमें हजारों भिक्षु निवास करते थे। इन भिक्षुओं में से कई एक बौद्धधर्म के धुरन्धर विद्वान् थे। 'बुद्धसेन' ऐसे ही पण्डितों में से था। अपने समय में इसकी कोटी का दूसरा विद्वान् न था। शिक्षा के अतिरिक्त व्यपारिक दृष्टि से भी खोतन का बहुत महत्त्व था। काशघर से चीन जाने वाले तथा चीन से भारत आने वाले काफिले, व्यापारी और यात्री खोतन होकर ही आया-जाया करते थे। फाहियान, सुङ्युन, ह्वेन-त्साङ् और मारकपोलो ने इसी मार्ग का अनुसरण किया था। परन्तु शोक! किसी दैवीय विपत्ति के कारण शिक्षा और सभ्यता का वह महान् केन्द्र निर्जन हो गया। आकाश को चूमने वाले विहार, तारों से बातें करने वाले स्तूप, बुद्धकी प्रतिमाओं से विभूषित मन्दिर तथा सहस्रों हस्तलिखित ग्रन्थों से युक्त पुस्तकालय सब एक साथ रेतीले टीलों के गर्भ में समा गये। इस सर्वतोमुख विनाश के परिणाम-स्वरूप आज से पचास वर्ष पूर्व खोतन की अत्युन्नत सभ्यता की कोई कल्पना भी न कर सकता था।

खोतन में बौद्धधर्म का प्रचार

वर्त्तमान समय में खोतन में जो गवेषणायें हुई हैं उनसे खोतन की प्राचीन संस्कृति पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस दिशा में सबसे सफल प्रयत्न अर्ल स्टाईन ने किया है। इस अध्याय के अगले इतिहास का आधार स्टाईन द्वारा की हुई खोजों को ही बनाया गया है।[1] अब खोतन की खुदाई में प्राप्त हुए बौद्ध अवशेषों का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है—:

प्राचीन खोतन नगर

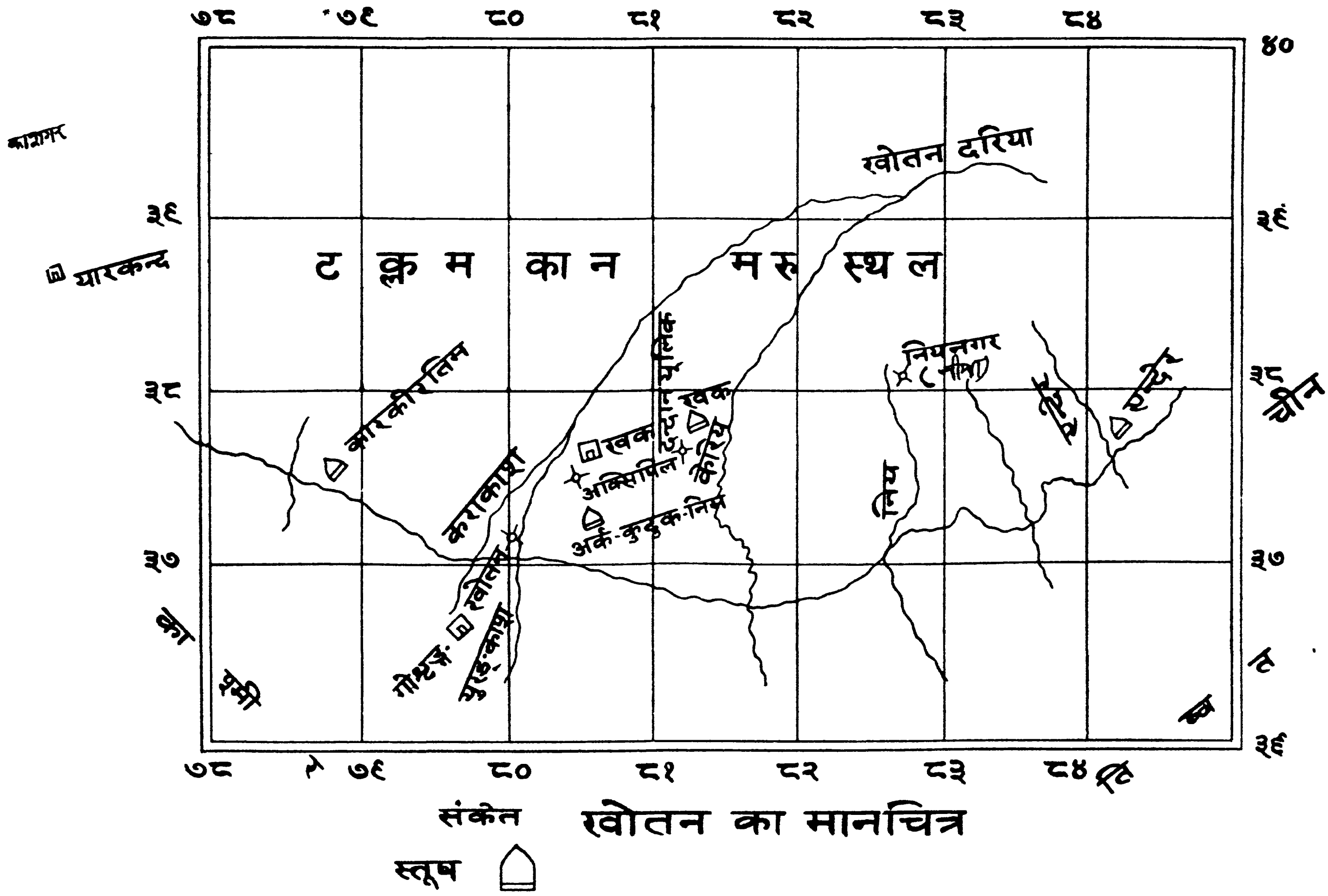
युरङ्काश नदी के पश्चिमीय किनारे पर योतकन नामक नगर विद्यमान है। यहां पर प्राचीन समय के भग्नावशेष प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। गम्भीर अन्वेषण से ज्ञात हुआ है कि इसी स्थान पर खोतन देश की प्राचीन राजधानी खोतन नगर विद्यमान था। यहां से मध्यकालीन भारतीय राजाओं के आठ सिक्के उपलब्ध हुए हैं। इनमें से छः काश्मीर के राजाओं के हैं और शेष दो सिक्के काबुल के हिन्दु राजा "सामन्तदेव" के हैं।[2] यहां से मिट्टी का बना हुआ एक छोटा सा बर्त्तन मिला है। इसके सिरे पर एक बन्दर बैठा हुआ है जो सितार बजा रहा है। एक अन्य बर्तन के दोनों ओर दो स्त्रियों की मूर्तियां बनी हुई हैं। ये गन्धर्वियों की मूर्तियां हैं। मिट्टी के बने हुए वैश्रवण के सिर मिले हैं। घन्टे की आकृति की एक मोहर भी प्राप्त हुई है। एक अन्य मोहर पर गौ का चित्र बना हुआ है। पीतल की बनी एक बुद्ध मूर्ति भी मिली है। इसका दायां हाथ

---

१. इस विषय पर स्टाईन के निम्न ग्रन्थ है—.

Ancient Khotan I & II Vol.
Serindia I, II, III & IV Vol.
Innermost Asia I, II, III & IV Vol.

२. देखिये, Collection of Antiquities from Central Asia By A. F. Rudoll Hoernle, Page 28



टक्लमकान मरुस्थल
खोतन दरिया
यारकन्द
कारकीरतिम
कराकाश
खोतन
गोशृङ्ग
युरुङ्-काश
खवक
अक्सिपिल
केरिय
अर्क-कुदुक-तिम
नियजनगर (नीया)
निय
चीन
संकेत
स्तूप

खोतन का मानचित्र

ऊपर की ओर है और अंगुलियां ऊपर उठाई हुई हैं।[1] एक दीवार पर 'मार' और उसकी स्त्री द्वारा भगवान् बुद्ध को प्रलोभित करने का दृश्य दिखाया गया है। एक आले में बोधिसत्त्व की मूर्ति विराजमान है। इसका दाहिना स्कन्ध तथा छाती नंगी है। देह पर चीवर पहरा हुआ है। दायां हाथ पृथ्वी की ओर झुका हुआ है।[2] समीप ही तीन स्त्रियों की मूर्त्तियां हैं। इनमें से एक मूर्ति नागिनी की है। सामने 'मार' का भयावह चित्र है। इसने हाथ में वज्र पकड़ा हुआ है और मुंह बुद्ध की ओर फेरा हुआ है।

गो-शृङ्ग विहार

ह्वेन्-त्साङ् के यात्रावृत्तान्त के अनुसार खोतन नगर से बीस ली दक्षिण-पश्चिम में गोशृङ्ग पर्वत स्थित था। इस पर्वत की घाटी में प्राचीन समय में एक विहार था जिसका नाम पर्वत के नाम पर ही गोशृङ्ग था। विहार में बुद्ध की एक मूर्त्ति थी जिसके सिर के चारों ओर से प्रकाश निकलता था। प्राचीन समय में भिक्षु लोग विहार में आकर विश्राम पाते थे और बौद्धधर्म की शिक्षा ग्रहण करते थे। यह विहार वर्त्तमान कराकाश नदी के किनारे स्थित था। इसके समीप ही कोह-मारी पर्वत (वर्त्तमान गोशृङ्ग) में एक दोमञ्जिली गुहा प्राप्त हुई है। यह ३६ फीट लम्बी १० फीट ऊंची और १४ फीट चौड़ी है। गुहा के बीच से भोजपत्रों पर खरोष्ट्री लिपि में लिखा हुआ 'धम्मपद' ग्रन्थ मिला है।

कर-कीर-तिम

'दुवा' नदी से कुछ दूर 'करकीरतिम' के पश्चिम में एक स्तूप खड़ा दिखाई देता है। स्तूप के समीप ही किसी समय एक विहार था। इस विहार की सत्ता ह्वेन्-त्साङ् के यात्रा विवरण से भी सूचित होती है। ह्वेन्-त्साङ् खोतन नगर जाने से पूर्व सात दिन तक इसी

---

१. 'अभयमुद्रा'

२. 'भूमिस्पर्शमुद्रा'

विहार में ठहरा था। उस समय इसमें भगवान् बुद्ध की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्त्ति विराजती थी। चीनी यात्री अपने विवरण में विहार का वर्णन इन शब्दों में करता है—"प्राचीन समय में काश्मीर में एक अर्हत रहता था। उसका एक शिष्य था जो मरणासन्न पड़ा था। शिष्य ने अपने गुरु से चावल की रोटी मांगी। अर्हत ने योगज-दृष्टि से देखा कि खोतन में चावल अच्छे होते हैं और चमत्कार द्वारा वहां जाकर चावल की रोटी ले आया। रोटी खाकर मृत्यु से पूर्व शिष्य ने प्रार्थना की कि आगामी जन्म में मैं खोतन में उत्पन्न होऊं। परिणामतः अगले जन्म में वह खोतन का राजकुमार होकर पैदा हुआ। राजा बनकर उसने विजय यात्रा प्रारम्भ की। इसी प्रकरण में उसने हिमाच्छादित पर्वतों को पार कर काश्मीर पर आक्रमण किया। काश्मीर के राजा ने सामना करने के लिये अपने सैनिकों को तय्यार किया। यह देख अर्हत ने राजा को सेना का प्रयोग करने से मना किया और कहा मैं उसे रोक दूंगा। तदनन्तर अर्हत ने खोतन के राजा के समीप जाकर उसे धर्म का उपदेश देना आरम्भ किया। पहले तो राजा ने उपदेश बिना सुने ही सेना सहित आगे बढ़ना चाहा परन्तु जब अर्हत ने उसे वे वस्त्र दिखाये जिसे वह पूर्व-जन्म में अर्हत के शिष्य रूप में पहरा करता था तब उसने आक्रमण करने का विचार त्याग दिया। राजा ने उस मूर्त्ति को अपने साथ ले लिया जिसकी पूजा वह पूर्वजन्म में किया करता था। मूर्त्ति लेकर राजा वापिस लौट गया। जब मूर्ति इस स्थान पर पहुंची तो वह आगे न बढ़ सकी इस पर राजा ने वहीं मूर्त्ति के चारों ओर एक संघाराम बनवाया और भिक्षुओं को इकट्ठा कर मूर्त्ति के सिर पर रत्नजटित मुकुट रक्खा।"[1]

---

१. देखिये, Budhist Records of the western world, Vol II, Page 314-15

दन्दान-यूलिक

सुगजयोर नदी के किनारे 'तोपा-तिम' नामक स्थान पर एक स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह पृथ्वी की सतह से २६१/२ फीट ऊंचा है। तोपा–तिम

'दन्दान-यूलिक' तो प्राचीन अवशेषों से भरा पड़ा है। किसी समय यह घना आबाद था। तब यहां ऊंचे ऊंचे मन्दिर मस्तक उठाये अभिमान से खड़े थे। परन्तु आज वे हजारों टुकड़ों में टूट चुके हैं। जो खण्डहर खड़े हैं उनमें मन्दिरों की सत्ता स्पष्टतया दिखाई देती है। एक बौद्धमन्दिर निकला है, इसमें बुद्ध की बैठी और खड़ी हुई अनेक मूर्त्तियां हैं। दीवारों पर बने हुए चित्र भारतीय पद्धति की नकल हैं। भित्तियों पर बोधिसत्त्व के नाना प्रकार के चित्र बने हुए हैं। कहीं ध्यानमुद्रा दशा में, कहीं न्यायमुद्रा दशा में, कहीं अभयमुद्रा दशा में बने हुए चित्र महात्मा बुद्ध को निर्दिष्ट कर रहे हैं। मन्दिर की प्रधानमूर्ति के नीचे भिन्न भिन्न आकृति के काष्ठ-चित्र मिले हैं। इनमें सबसे बड़ा १६१/२ इंच लम्बा और ५५/८ इञ्च चौड़ा है। इस पर पांच चित्र बने हुए हैं। बीच का चित्र किसी बौद्ध देवता का है जिसने अपने चारों हाथों में वज्र, कमल, दण्ड और कुल्हाड़ी पकड़ी हुई है। सबसे छोटी लकड़ी पर गणेश का चित्र है। इसके हाथ में अंकुश है। सिर के आगे सूंड बनी हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि खोतन में गणेश की पूजा भी प्रचलित थी। गणेश का एक अन्य चित्र 'एन्देर' के ध्वंसावशेषों में प्राप्त हुआ है। यहां से गान्धार पद्धति की बुद्ध की जो मूर्त्तियां प्राप्त हुई हैं उन में इसके मोटे मोटे बाल भारतीय कला का स्मरण कराते हैं। भारत में इस तरह की मूर्त्तियां मगध में प्राप्त हुई हैं। दन्दान-यूलिक के खण्डहरों में वैश्रवण की मूर्त्तियां भी मिली हैं। खोतन-निवासी इसकी बहुत पूजा करते थे। वे इसे 'धनपति' कहते थे। चार लोकपालों दन्दान-यूलिक

में इसकी गणना करते थे। यही कारण है कि इन्हीं अवशेषों में वैश्रवण की मूर्त्ति लोकपालों के मध्य में खड़ी हुई प्राप्त हुई है। मन्दिर की दीवार पर एक नारी की मूर्त्ति बनी हुई है। यह एक सरोवर के किनारे खड़ी हुई है। मूर्त्ति की ऊंचाई १८ इञ्च है। इसके सिर पर भारतीय पगड़ी के ढंग की कोई वस्तु बंधी हुई है। गले में आभूषण है। नारी नीचे एक छोटी नर-मूर्ति की ओर देख रही है। उसे यह जल से बाहर निकाल रही है। बाईं ओर एक दूसरा मनुष्य तैरता हुआ तालाब से निकल रहा है। तालाब में विविध प्रकार के कमल खिले हुए हैं। कुछ का रङ्ग नीला है और शेष का लाल। यह दृश्य भारतीय कला का प्रतिबिम्ब जान पड़ता है। पूर्वीय दीवार पर लाल-भूरी पोशाक पहने हुए महात्मा बुद्ध बैठे हैं। उनके बाईं ओर एक युवा पुरुष खड़ा है। उसका दायां कंधा नंगा है। दायें हाथ में पुस्तक के पन्ने हैं। उन पर उसकी आंखें संलग्न हैं। सम्भवतः यह किसी बौद्ध विद्वान् का चित्र है। इससे आगे एक वृद्ध का चित्र है। यह शिष्यों को पढ़ा रहा है। इसने भी बौद्ध तरीके से चीवर धारण किया हुआ है। इसी मन्दिर में लकड़ी की दो पतली-पतली तख्तियों के बीच स्थापित एक भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थ मिला है।

इन्हीं अवशेषों में से एक हस्त-लिखित ग्रन्थ भी मिला है। यह ११ इंच लम्बा और ५ इंच चौड़ा है। इसकी लिपि ब्राह्मी और भाषा संस्कृत है। इस पर तिथि भी दी हुई है। यह 'मूनामजी' मास की १७ तिथि को लिखा गया था।[1] ब्राह्मी लिपि में ताल-पत्रों पर लिखे हुए छः लेख भी यहां से उपलब्ध हुए हैं। ये सब आठवीं शताब्दी[2] के हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पत्र और काष्ठ-लेख

१. देखिये, Stien's, Ancient Khotan, Page 265

२. ७८१ ई० से लेकर ७९० ई० तक

भी प्राप्त हुए हैं। १३¾ इंच लम्बी और ६ इंच चौड़ी लकड़ी की तख्ती और मिली है। यद्यपि इस पर कोई लेख लिखा हुआ नहीं है तो भी इस पर ऐसे अनेक चिह्न विद्यमान हैं जो इस बात के प्रमाण हैं कि कभी यह लिखने के काम में लाई जाती थी। ऐसा जान पड़ता है कि कागज़ का आविष्कार होने से पूर्व खोतन निवासी लकड़ी की तख्तियों पर ही लिखा करते थे। भारतवर्ष में अब तक भी लिखने के लिये तख्तियों का प्रयोग किया जाता है।

अभी तक तो लकड़ी की तख्तियों पर या वृक्षों के पत्तों पर लिखे हुए लेखों का ही वर्णन किया गया है परन्तु 'दन्दान यूलिक' के अवशेषों में ही एक लेख ऐसा भी मिला है जो बहुत पतले कागज़ पर लिखा हुआ है। कागज़ इतना पतला है कि जब उसे पहली बार उठाया गया तो पकड़ते ही दो टुकड़े हो गया। यह लेख १०¾ इंच लम्बा और ७½ इंच चौड़ा है।

योतकन नगर के पश्चिम में पांच या छः ली की दूरी पर समझा (गो-मो-जोह) विहार है इसे खोतन के किसी प्राचीन राजा ने एक अर्हत के चमत्कारों से प्रभावित होकर उसके सम्मान में बनवाया गया था। फाहियान के समय तक यह विद्यमान था। वह लिखता है "-इस विहार में बुद्ध का बहुत सुन्दर मन्दिर बना हुआ है। विहार के समीप ही एक १०० फीट ऊंचे स्तूप के नीचे बुद्ध की बहुत सी हड्डियां रक्खी हुई हैं।"[१] सो-मो जोह विहार

दन्दान-यूलिक से उत्तर की ओर 'रवक' नामक स्थान है। यहां छोटे स्तूपों के सैकड़ों ध्वंसावशेष पड़े दिखाई देते हैं। इन्हीं टुकड़ों में दो टुकड़ों में टूटा हुआ एक काष्ठलेख मिला है लकड़ी की यह रवक

१. देखिये, Budhist records of the western world Travels of Fahien, Page XXVII

तख़्ती १½ इञ्च चौड़ी है। इस पर पांच पंक्तियां ब्राह्मी लिपि में लिखी हुई हैं।

हो-को विहार

हो–को भवन स्थान पर प्राचीन विहार के जर्जरित मकान मिले हैं। इन टूटे हुए भवनों में से एक में दो काष्ठचित्र प्राप्त हुए हैं। इन में से बड़ा २७ इंच लम्बा और ५ इंच चौड़ा है इसमें कमलपुष्प पर पद्मासनस्थ बोधिसत्त्व के दस चित्र चित्रित हैं। दूसरा १३¼ इंच लम्बा और ८ इंच चौड़ा है। इसके दोनों ओर चित्र बने हुए हैं। प्रत्येक और ध्यानमुद्रा अवस्था में बैठे हुए बुद्ध के छः चित्र हैं। ताल-पत्रों पर लिखे हुए भी कुछ ग्रन्थ मिले हैं। इनकी लिपि ब्रह्मी है। भाषा संस्कृत है। ये सब बौद्ध ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ आठवीं शताब्दी के हैं। इस विहार के अवशेषों में एक आज्ञा-पत्र भी मिला है। यह आज्ञा आठवें मास की २७ तिथि को दी गई थी। वर्ष की संख्या नहीं दी हुई है। आज्ञा इस प्रकार है—"मन्दिर के सब नौकर तीन दिन के लिये घास काटने पर लगाये जायें। इनमें से केवल एक भृत्य निरीक्षक का कार्य्य करे।"[1]

यहीं से एक अन्य काष्ठ लेख मिला है। इस पर 'शिव' का चित्र बना हुआ है। शिव जी तकिये के सहारे एक पर दूसरा पैर धर कर बैठे हुए हैं। इनके तीन नेत्र हैं। सिर पर चन्द्रकला है। शरीर का रंग गूढ़ा नीला है। मस्तक में तृतीय नेत्र है। नीचे के हिस्से पर चीते की खाल पहनी हुई है। दो बैल वाहन के लिये सामने बैठे हुए हैं।

एक काष्ठचित्र और प्राप्त हुआ है। इस पर बोधिसत्त्व का चित्र है। बोधिसत्त्व एक सिंहासन पर बैठा हुआ है। बायें हाथ में नील

१. देखिये, Stion's, Ancient khotan, Ho-Ko Vihar

कमल है शरीर पर कृष्ण वस्त्र धारण किया हुआ है। दायां कन्धा नंगा है। शरीर का रङ्ग गुलाबी है।

'निय' नदी के निकास से कुछ दूर एक प्राचीन नगर के अवशेष प्राप्त हुए हैं। खण्डहरों के बीच से बहुत से काष्ठ-लेख और काष्ठ-लेखों के टुकड़े उपलब्ध हुए हैं। इन पर खरोष्ट्री लिपि में संस्कृत श्लोक लिखे हुए हैं। अवशेषों में से विविध प्रकार की तख्तियां भी मिली हैं। इन पर लम्बाई में समानान्तर पांच पंक्तियां लिखी हुई हैं। तख्ती को पकड़ने के लिये मूठ लगा हुआ है। कईयों का मूठ गोल है और कईयों का पञ्चभुज। फाईल रखने के लिये या पुस्तक सम्भालने के लिये आज भी छोटी छोटी फट्टियां प्रयुक्त की जाती हैं। वाचनालयों में आज भी इनका उपयोग किया जाता है। ऐसी ही बहुत सी फट्टियां निय नगर के अवशेषों में मिली हैं। यह ३० इंच लम्बी और १½ इंच से २ इंच तक चौड़ी हैं। कुछ आयताकार तख्तियां भी मिली हैं। इनकी लम्बाई ६ इंच से लेकर १६ इंच तक है। चौड़ाई के भाग में दोनों ओर ¾ इंच हाशिया छुटा हुआ है। लेख लम्बाई में समानान्तर पंक्तियों में लिखा हुआ है। इनकी लिपि खरोष्ट्री और भाषा संस्कृत है। इन पर संवत्सर, मास, दिवस आदि संस्कृत शब्द लिखे हुए हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि कभी इन पर तिथि भी लिखी हुई थी जो अब मिट गई है। काष्ठलेखों के अतिरिक्त कागज़ पर लिखा हुआ एक भी लेख यहां से नहीं मिला है। यहां एक स्तूप भी अपने जीर्ण-शीर्ण शरीर को लिये खड़ा है। कई दीवारों पर गान्धार पद्धति से बुद्ध के चित्र बने हुए हैं। एक कुर्सी मिली है। इसकी टांगों पर राक्षसों की आकृतियां बनी हुई हैं। राक्षसों के सिर शेरों के सदृश हैं। यह कुर्सी भारतीय सिंहासन की नकल है। एक अन्य कुर्सी की टांगों पर राक्षस और राक्षसियों की मूर्तियां उत्कीर्ण

निय नगर

हुई हैं। छाती से नीचे का भाग पक्षी के समान है और टांगें घोड़े के सदृश हैं। इस प्रकार के चित्र सांची स्तूप पर बहुत हैं। गन्धर्व और किन्नरों के चित्र वहां ऐसे ही दिखाये गये हैं।

चमड़े के टुकड़ों पर लिखे हुए भी कुछ लेख मिले हैं। इनकी लिपि खरोष्ट्री है। काष्ठलेखों में स्याही का प्रयोग किया गया है। ये लेख दो तख्तियों में रस्सियों द्वारा बांधकर रक्खे हुए हैं। इनके ऊपर मोहरें लगी हुई हैं। परन्तु इनके अक्षर अस्पष्ट हैं। केवल काष्ठ लेखों पर ही मोहरें लगी हुई हैं, चमड़े के लेखों पर न। एक मोहर पर एक पुरुष के सिर का चित्र है जो कि शक राजा 'मेनस' से मिलता है।

एन्देर — एन्देर नदी के समीप ही प्राचीन 'एन्देर' नगर के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। अवशेषों के बीच एक अत्यन्त टूटा-फूटा स्तूप मिला है। स्तूप के पार्श्व में ही रेत में दबा हुआ एक मन्दिर निकला है। मन्दिर के चारों कोनों पर प्लास्तर की बनी मूर्तियां खिले हुए कमल-फूलों पर खड़ी हैं। ये चार मूर्तियां चार लोकपालों की हैं। मन्दिर के मध्य में एक वेदी है। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि यहां कभी बुद्ध की चार मूर्तियां स्थित थीं। यहां से रत्नजटित कुछ आभूषण मिले हैं। इनमें हार, अनन्त आदि आभूषण सम्मिलित हैं। वज्राकृति के भी कुछ आभूषण यहां से प्राप्त हुए हैं। संस्कृत में लिखा एक बौद्ध ग्रन्थ रेत में दबा पाया गया है। यह गुप्तकालीन है। तिब्बती भाषा में लिखा हुआ 'शालिस्तम्ब सूत्र' मीला है। भूर्जपत्र पर लिखे हुए ब्राह्मी ग्रन्थों के टुकड़े प्राप्त हुए हैं। सूती कपड़े का एक टुकड़ा मिला है यह भारत से गया समझा जाता है। मन्दिर में जो तख्तियां मिली हैं उन पर गणेश के चित्र बने हुए हैं। गणेश जी बैठे हुए हैं। उनकी चार भुजायें हैं। प्रत्येक में अंकुश



ऊपर के बौद्धमन्दिर के ध्वंसावशेषों का दूसरा दृश्य



खोतन मे प्राप्त एक बौद्धमन्दिर के ध्वसावशेष दृश्य म —१

पकड़ा हुआ है। सिर पर पीले रङ्ग का मुकुट है। नीचे पीली धोती है, और पैर नंगे हैं।

खोतन के ठीक मध्य में 'उजुन-ताति' नगर स्थित था। इसके निर्जन होने की कथा ह्वेन्-त्साङ् के यात्रा वृत्तान्त में लिखी जा चुकी है।[1] इस से ३ मील दक्षिण में 'उलाघ-मजर' नामक स्थान पर पुराने अवशेषों का ढेर लगा हुआ है। यहां प्राचीन समय में एक विशाल बौद्ध मन्दिर था। सुङ्-युन् ने अपने यात्रा-विवरण में इसका वर्णन किया है। इससे यही परिणाम निकलता है कि उस समय तक यह मन्दिर विद्यमान था।[2] उलाघ मजर

हंगुप नगर से ८ मील दूर 'अर्क-कुदुक-तिम' की पुरानी बस्ती है। यहां एक स्तूप है। यह जर्जरित अवस्था में है। यहां से कुछ सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर खरोष्ट्री और चीनी अक्षर उत्कीर्ण हैं। अर्क-कुदुकतिम

अर्क-कुदुक-तिम के पश्चिमोत्तर में आठ मील की दूरी पर युरङ्काश नदी से लगभग १२ मील पर 'अक्सिपिल' के प्राचीन ध्वंसावशेष विद्यमान हैं। प्राचीन समय में यहां एक किला था। किले से दक्षिण-पश्चिम में एक बौद्धमन्दिर के चिह्न दिखाई देते हैं। मन्दिर की दीवार पर बुद्ध की 'अभयमुद्रा' दशा की छोटी-छोटी मूर्त्तियां बनी हुई है। सैंकड़ों भग्न मूर्त्तियां जहां-तहां बिखरी पड़ी हैं। श्वेत संगमरमर की एक मोहर मिली है। मोहर पर बैल की मूर्त्ति बनी हुई है। अक्सिपिल

अक्सिपिल से उत्तर की ओर रेत में दबे हुए बहुत से मकान मिले हैं। येही प्राचीन 'रवक' विहार के अवशेष हैं। यहां पर एक रवक विहार

१. ह्वेन्-त्साङ् के विवरण में 'पीमो' का वर्णन देखिये।

२. देखिये, Budhist records of the western world, Travels of Sung-yun, Page LXXXIX

स्तूप भी प्राप्त हुआ है। स्तूप पर लाल रंग की बुद्ध और बोधिसत्त्व की बहुत सी पूर्ण आकार (Life-size) की मूर्त्तियां बनी हुई हैं। बुद्ध के अर्धभग्न सिर और धड़ भी बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं। विहार की दक्षिण-पश्चिम दीवार पर 'अभयमुद्रा' अवस्था की बुद्धकी पूर्णाकार मूर्त्ति बनी हुई है । यह ३ फीट ऊंची है। इनके अतिरिक्त बीसियों मूर्त्तियां दीवारों पर बनी हुई हैं। विहार के मुख्य द्वारों के दोनों ओर एक एक द्वारपाल खड़ा है। द्वारपालों के पैरों के समीप ही 'यशोधरा' की मूर्ति प्राप्त हुई है।

जिन खोजों का ऊपर वर्णन किया गया है उनके अतिरिक्त बहुत सी अन्य ज्ञात होती हुई भी छोड़ दी गई हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे भारतीय इतिहास के उज्ज्वल अध्याय का अंश नहीं हैं परन्तु यहां तो उन सब में से दो चार का ही वर्णन किया गया है। अन्य भी न जाने कितनी मूर्त्तियां, स्तूप, विहार, चित्र तथा ग्रन्थ अभी तक रेत के गर्भ में हमारे सांस्कृतिक उज्ज्वल इतिहास को छिपाये पड़े हैं। खोतन के उस सूखे हृदय में अब भी न जाने कितना सांस्कृतिक रस भरा पड़ा है ? परन्तु उसे ग्रहण करने के लिये बीसियों जीवनों की आहुतियां चाहियें।

चतुर्थ-संक्रान्ति

चीन-शाक्यमुनि के चरणों में

चतुर्थ-संक्रान्ति

चीन-शाक्यमुनि के चरणों में

मिङ्ती का स्वप्न—चीन में भारतीय धर्म—चिन वंश—कुमारजीव और उसके साथी—प्रतिक्रिया—प्रतिक्रिया का उत्तर—गुणवर्मन् और उसके साथी—बौद्धधर्म का समृद्धिकाल—भिक्षु परमार्थ—याङ्-नी—छठी शताब्दी के बौद्धपण्डित—थाङ् वंश—भारत में ह्येन्-त्साङ् और ईच-चिङ्—चीन में भारतीय तिथिक्रम—प्रतिक्रिया का अन्त—तृतीय प्रतिक्रिया—सुङ् वंश का अभ्युदय—भारतीय पण्डितों का अन्तिम जत्था—मङ्गोल सरदारों का बौद्धधर्म के प्रति प्रेम—मिङ् वंश—मंचू शासन—प्रजातन्त्र की स्थापना—वर्त्तमानकाल में बौद्धधर्म की दशा—मन्दिर और विहार—प्रवज्या—उपसम्पदा—भिक्षुओं का रहन सहन—पूजाविधि—प्राचीन बौद्ध अवशेष—ता-श्यान्-यु-सु विहार—चिङ्-लुङ्-सु विहार—हुई-का-सु विहार—सहस्र बुद्धों वाले गुहा मन्दिर—लुङ्-तुङ् गुहामन्दिर—युन-कङ् गुहायें—लुङ्-मैन गुहायें—शि-खु-सु गुहायें—उपसंहार।

पहिले कहा जा चुका है कि महात्मा बुद्ध के जीवनकाल में बौद्धशिक्षायें सुदूर देशों में प्रचलित न हुई थीं। उस समय तो वे सम्पूर्ण भारत में भी न फैल सकी थीं। अजातशत्रु आदि कई राजा बुद्ध के अनुयायी बन चुके थे परन्तु बौद्ध प्रचारकों द्वारा विदेशों में बौद्धधर्म का प्रचार मौर्य्यसम्राट् अशोक से पूर्व न हुआ था। अशोक द्वारा राजकीय सहायता मिलने से बौद्धधर्म भारत की प्राकृतिक सीमाओं को पार कर एशिया, योरुप और अफ्रीका तीनों महा-

द्वीपों में फैल गया। तदनन्तर कुशान राजा कनिष्क ने बौद्धधर्म के प्रचारार्थ भारी प्रयत्न किया। इसी के समय पेशावर में चतुर्थ बौद्ध-सभा बुलाई गई। जिस समय पश्चिम-भारत में कुशान राजा राज्य कर रहे थे उस समय तक चीन में बौद्धधर्म का प्रचार प्रारम्भ हो चुका था।

मिङ्ती का स्वप्न

चीन में बौद्धधर्म किस समय और किस प्रकार प्रविष्ट हुआ, इस पर अनेक विद्वानों ने भिन्न भिन्न तरीके से विचार किया है। परन्तु इस ग्रन्थ में चीनी इतिहास का आधार चीनी विवरणों को ही बनाया गया है। चीनी पुस्तक 'को—वैन्—फिङ्—चौ' से ज्ञात होता है कि चीन के 'हान' वंशीय राजा मिङ्ती ने ६५ ई० में १८ व्यक्तियों का एक दूतमण्डल भारत भेजा जो लौटते हुए अपने साथ बहुत से बौद्ध ग्रन्थ तथा दो भिक्षु ले गया।[1] इस प्रकार चीनी विवरण के अनुसार मिङ्ती के शासनकाल में ही चीन में प्रथम बार बौद्धधर्म प्रविष्ट हुआ। परन्तु प्रश्न पैदा होता है कि यह दूतमण्डल भेजा क्यों गया? इसका उत्तर चीनी पुस्तकें इस प्रकार देती हैं—"हान वंशीय राजा मिङ्ती ने अपने शासन के चौथे वर्ष स्वप्न में १२½ फीट ऊंचे एक स्वर्णीय पुरुष को देखा। उसके सिर से सूर्य्य की भांति तीव्र प्रकाश निकल रहा था। राजा की ओर आता हुआ वह दिव्य पुरुष महल में प्रविष्ट हुआ। स्वप्न से बहुत अधिक प्रभावित होकर राजा ने मंत्री से इस स्वप्न का रहस्य पूछा। मंत्री ने उत्तर दिया—आप जानते हैं कि भारतवर्ष में एक बहुत विद्वान् पुरुष रहता है जिसे बुद्ध कहा जाता है।[2] यह पुरुष निश्चय से वही था। यह सुनकर राजा ने

१. देखिये, Edkin's Chinese Budhism, Page 88

२. मंत्री के उत्तर से ज्ञात होता है कि उसे महात्मा बुद्ध के विषय में पहले से ही ज्ञान था, क्योंकि इसने उस दिव्य पुरुष को पहिचान लिया साथ ही उसका पता भी बताया।

अपने सेनापति तथा १७ अन्य व्यक्तियों को महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का पता लगाने के लिये भारत भेजा। ११ वर्ष पश्चात् स्वदेश लौटते हुए यह दूतमण्डल अपने साथ बुद्ध की एक प्रतिमा, कुछ बौद्धग्रन्थ तथा काश्यपमातङ्ग और धर्मरत्न नामक दो भिक्षुओं को लाया। दूतमण्डल के आगमन पर राजा ने नगर के पश्चिम-द्वार के समीप एक मन्दिर बनवाया। इसमें बहुत सम्मानपूर्वक बुद्ध की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई। इस मन्दिर का नाम (लोयङ्) श्वेताश्व रखा गया, क्योंकि दोनों भिक्षु श्वेत घोड़ों पर चढ़कर चीन पहुंचे थे। राजा ने मंत्री तथा प्रजा दोनों को आज्ञा दी कि वे बुद्ध के प्रति मान प्रदर्शित करें।[1]

चीन में बौद्धधर्म के प्रवेश की यह कथा तद्देशीय १३ अन्य ग्रन्थों में भी पाई जाती है।[2] बिल्कुल यही कथानक तिब्बती ग्रन्थ 'तबु- चीन में भारतीयधर्म

१. देखिये, Indian Teachers in China, Page 5
२. उन तेरह ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं —:
क. Sseuche eul tchang king
ख. Ap. Hong ming Tsi
ग. Koung Hong ming Tsi, K. I. 6b
घ. Koung Hong ming Tsi, K, 9
ङ. Heou Han Chou, K. 118, 5b
च. Heou Han ki, K. 10, 5b
छ. Tsi Chen Tcheou San pao T'ong Lou
ज. Tch'ou San Tsang k'i Tsi, K. 2, 5a-6 (The Oldest Catalogue of Budhist Books)
झ. Kao Seng Tchouan, K. 1, 1a
ञ. Chouei King Tchou, K. 16, 17 b (Six century)
ट Lo-Yang k'ie-Lan ki
ठ. Han fa nei Tchouan (Six century)
ड. Wei Chou (official history of 'Wei' Dynasty)
'Indian Teachers in China' Page 32

था-शैल्थ्यी-मीलन्' में भी इसी प्रकार संगृहीत है। इन सब ग्रन्थों के अनुसार चीन में बौद्धधर्म का सर्वप्रथम उपदेष्टा 'काश्यपमातङ्ग' था। मातङ्ग इसका नाम था और क्योंकि यह कश्यप गोत्र में उत्पन्न हुआ था इसलिये यह काश्यप मातङ्ग नाम से प्रसिद्ध था। यह मगध का रहने वाला था। जिस समय चीनी दूतमण्डल भारत आया तब यह गान्धार में था। दूतमण्डल की प्रेरणा पर यह चीन जाने को उद्यत होगया। उस समय गान्धार से चीन जाने वाला मार्ग खोतन और गौबी के मरुस्थल में से होकर जाता था। मार्ग की सैंकड़ों विपत्तियों को सहता हुआ काश्यपमातङ्ग चीन पहुंचा। चीन पहुंचने पर राजा ने इसके निवासार्थ 'लोयङ्' नामक विहार बनवाया। मिङ्ती द्वारा भारतीय पण्डितों के प्रति पक्षपात दिखाने पर कन्फ्यूशस और ताऊ धर्म वालों ने बौद्धधर्म के विरुद्ध आवाज़ उठाई। इस पर तीनों धर्मों की परीक्षा की गई। इस परीक्षा में बौद्धधर्म सफल हुआ। मिङ्ती पर बौद्धधर्म की सत्यता का इतना हृदयग्राही प्रभाव पड़ा कि उसने भारतीय पण्डित द्वारा बौद्धधर्म की दीक्षा ही ले ली। लोयङ् विहार में रहकर मातङ्ग ने चीनी भाषा सीखी। उसे सीखकर उसने बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद करना आरम्भ किया। मातङ्ग बहुत विद्वान् था परन्तु उसने अपनी विद्वत्ता का प्रकाश दूसरों पर कभी नहीं किया। बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार करते हुए मातङ्ग ने अन्तिम श्वास चीन में ही लिये।

काश्यप मातङ्ग के साथ जो दूसरा भिक्षु गया था उसका नाम धर्मरक्ष था। यह मगध का रहनेवाला था। धर्मरक्ष 'विनय' तथा अन्य बौद्धशास्त्रों का बहुत विद्वान् था। चीनी दूतमण्डल द्वारा निमंत्रण मिलने पर यह मातङ्ग के साथ चीन को चल पड़ा और वहां जाकर उसी के साथ लोयङ् विहार में रहा। मातङ्ग की मृत्यु शीघ्र ही हो गई थी।

उसके पश्चात् धर्मरत्न ने प्रचार-कार्य्य जारी रक्खा। इसने कम से कम ५ पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

इस प्रकार चीन में बौद्धधर्म के जड़ पकड़ते ही भारतीय पण्डित इस ओर आकृष्ट हुए और बहुत बड़ी संख्या में चीन जाने लगे। प्रथम जत्थे में आर्य्यकाल, श्रमण सुविनय, स्थविर चिलुकाक्ष आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। दूसरी शताब्दी के अन्त होने से पूर्व ही महाबल चीन गया। इसने लोयङ् विहार में रह कर संस्कृतग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। तीसरी शताब्दी में धर्मपाल चीन गया और अपने साथ कपिलवस्तु से एक संस्कृत ग्रन्थ भी ले गया। २०७ ई० में इसका अनुवाद किया गया। तदुपरान्त 'महायान इत्युक्तिसूत्र' का अनुवाद हुआ। २२२ ई० में धर्मकाल चीन पहुंचा इसने देखा कि चीनी लोग विनय के नियमों से सर्वथा अपरिचित हैं। ये नियम 'प्रातिमोक्ष सूत्र' में संगृहीत थे। धर्मकाल ने प्रातिमोक्ष का अनुवाद करना आरम्भ किया। २५० ई० में इसका पूर्णतया अनुवाद हो गया। विनय पिटक की यह प्रथम ही पुस्तक थी जो अनूदित की गई थी। २२४ ई० में विघ्न और तुहयान—ये दो पण्डित, चीन गये और अपने साथ 'धम्मपद' सूत्र ले गये। दोनों ने मिलकर इसका अनुवाद किया। तीसरी शताब्दी समाप्त होते होते कल्याणरत्न, कल्याण और गोरक्ष चीन पहुंचे। ये भी अनुवादकार्य्य में जुट गये। इस प्रकार तीसरी शताब्दी तक निरन्तर भारतीय पण्डितों का प्रवाह चीन की ओर प्रवृत्त रहा। इस बीच में ३५० बौद्धग्रन्थ चीनी भाषा में अनूदित किये जा चुके थे। जनता में बौद्धधर्म के प्रति पर्याप्त अनुराग पैदा हो गया था और बहुत से लोग बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण में आ चुके थे।

चिन वंश

तृतीय शताब्दी के अन्त में हान वंश की शक्ति ढीली पड़ गई और सारा चीन वी, वू, शू—इन तीन राज्यों में विभक्त हो गया।

इस समय लोयङ्, 'वी' राज्य की राजधानी था। श्वेताश्व विहार में अनुवाद कार्य्य अब भी जारी था। पांच भारतीय विद्वान् निरन्तर संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद कर रहे थे। 'वू' राज्य की राजधानी नानकिङ् में भी पांच अनुवादक विद्यमान थे। अव्यवस्था की इस दशा के पश्चात्, २६५ ई० में राजगद्दी चिन वंश के अधिकार में चली गई। चिन वंशीय राजाओं के समय सारा चीन एक छत्र के नीचे आ चुका था। इसकाल में बौद्धधर्म ने खूब उन्नति की। ३८१ ई० में चिन राजा 'हैउ-वु' ने नानकिङ् में एक बौद्ध मन्दिर बनवाया। उधर उत्तरीय चीन में बड़े बड़े विहारों का निर्माण हुआ और जनता के ९/१० भाग ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया।[1]

कुमारजीव और उसके साथी

चीनी विवरणों से ज्ञात होता है कि ४०५ ई० में भारतीय पण्डित कुमारजीव अनुवाद कार्य्य में बड़े मनोयोग से लगा हुआ था। यह अपने समय का बहुत बड़ा विद्वान् था। इसका पिता काश्मीर के राजा का मंत्री था। वह अपनी दशा से असन्तुष्ट होकर भिक्षु बन कूचा चला गया। कूचा के राजा ने उसे राजगुरु के पद पर नियुक्त किया। इस पद पर कार्य्य करते हुए राजकुमारी 'जीव'[2] उसकी ओर आकृष्ट हो गई और दोनों में विवाह सम्बन्ध स्थापित हो गया। राजकुमारी से एक लड़का पैदा हुआ जिसका नाम माता और पिता दोनों के नाम के आधार पर 'कुमारजीव' रखा गया। ७ वर्ष की आयु में कुमारजीव ने एक भिक्षु से सूत्र ग्रन्थ पढ़े। ६ वर्ष की अवस्था में यह काश्मीर चला गया। वहां इसने आचार्य्य बुद्धदत्त से शिक्षा प्राप्त की। ३ वर्ष उपरान्त जब यह काश्गर गया तो वहां अभिधर्म का अध्ययन किया। अब कूचा के राजा ने कुमारजीव

१. देखिये, Chinese Budhism, Page 89.

२. कूचा की राजकुमारी, जिस से उसका विवाह हुआ था।

को अपने देश में बुला भेजा। राजा की ओर से बड़ी धूमधाम से इसका स्वागत हुआ। जिस समय कुमारजीव कूचा रहता था चीनी सेनाओं ने यहां पर आक्रमण किया। चीनी सेनापति को आज्ञा दी गई थी कि वह उस पण्डित को अपने साथ अवश्य लाये जिसकी ख्याति सब पड़ोसी राज्यों में फैली हुई है। चीनी राजा का अभिप्राय कुमारजीव से ही था, क्योंकि इसीके पाण्डित्य की धूम इस समय सब पड़ोसी राज्यों में मची हुई थी। चीनी सेनाओं ने कूचा जीत लिया। जो कैदी पकड़े गये उनमें कुमारजीव भी था। जब यह चीनी दरबार में लाया गया तो राजा ने बड़े आदर से इसका अभिनन्दन किया और अपने राज्य में बौद्धधर्म का प्रचार करने की प्रेरणा की। राजा की प्रार्थना पर कुमरजीव ने अनुवाद कार्य्य आरम्भ किया। १२ वर्ष में इसने १०० पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद कर डाला। कुमारजीव प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था, इसलिये इसने बौद्ध—साहित्य में आश्चर्य्यजनक परिवर्त्तन कर दिया। इसने अनुवाद में पुराने ढर्रे का अनुसरण न करके नवीन और प्रभावोत्पादक विधि आविष्कृत की। इसलिये इसके द्वारा किये गये अनुवाद मौलिक रचना जैसे जान पड़ते हैं। ये अनुवाद आज तक पढ़े जाते हैं। कुमारजीव की भाषा ह्वेन्—त्साङ् की भाषा से भी श्रेष्ठ समझी जाती है। जापान में विद्यार्थियों से प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि कुमारजीव और ह्वेन्—त्साङ् में से किसकी भाषा अधिक अच्छी है? और इसका उत्तर यही चाहा जाता है कि कुमारजीव की भाषा अधिक अच्छी है। इसके द्वारा लिखी हुई अश्वघोष और नागार्जुन की जीवनियां बहुत ही मनोरञ्जक हैं। इसके द्वारा खींचा हुआ स्वर्ग का चित्र चीन में बहुत पसन्द किया जाता है। इसने न केवल

अनुवाद ही किये थे प्रत्युत अपने द्वारा प्रारम्भ किये हुए कार्य्य को स्थिर रखने के लिये अच्छे कार्य्यकर्त्ता भी तैयार किये थे। धर्मरत्न, संघभट्ट, गौतमसंघदेव, धर्मप्रिय और बुद्धभद्र—ये भारतीय पण्डित कुमारजीव के सहयोगी थे। इन्होंने इसकी मृत्यु के पश्चात् भी अनुवाद-कार्य्य जारी रक्खा। ऐसा प्रसिद्ध है कि कम से कम, एक हज़ार चीनी कुमारजीव के शिष्य थे। इन में से कुछ अपने लेखों द्वारा प्रसिद्ध हुए। 'फ़ाहियान' इन सब में मुख्य था। जिस समय कुमारजीव अनुवाद करने में व्यग्र था, उस समय फ़ाहियान पर्वतों और झीलों को पार कर बुद्ध की जन्मभूमि—भारत में तीर्थ-स्थानों की यात्रा कर रहा था। जब यह स्वदेश लौटा तब तक इसका गुरु जीवित था। चीन पहुंच कर फ़ाहियान ने अपना यात्रा-वृत्तान्त लिखा। इस में बौद्ध देशों की समृद्धि का सजीव चित्र खींचा गया था।

कुमारजीव का एक सहकारी 'विमलाक्ष' भी था। यह काश्मीर का रहने वाला था। यह 'विनय' का महान् पण्डित था। इसने दो पुस्तकों का अनुवाद किया था, जिनमें से अब केवल एक ही उपलब्ध होती है। इसका नाम 'दशाध्याय विनयनिदान' है। जब कुमारजीव का प्रभाव बढ़ रहा था उस समय भारतीय पण्डितों का एक और जत्था चीन पहुंचा। इसमें बुद्धयशस्, धर्मयशस्, धर्मक्षेम, बुद्धजीव और धर्ममित्र आदि पण्डित थे। इन्होंने लगभग २० वर्ष तक अनुवाद कार्य्य किया।

प्रतिक्रिया

४२० ई० में चिन वंश का पतन हो गया और चीनी साम्राज्य फिर से कई खण्डों में विभक्त हो गया। उत्तर में तातार लोगों ने अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया। ये तातार लोग ही आगे चलकर 'वी' वंश के नाम से विख्यात हुए। दक्षिण में 'सुङ्' वंश शासन करने

लगा। इन दोनों वंशों के राजा बौद्धधर्म के कट्टर शत्रु थे। इन्होंने मूर्त्तिनिर्माण तथा मन्दिररचना को नियम-विरुद्ध घोषित कर दिया। बौद्धधर्म के प्रति रुचि रखने वालों पर भीषण अत्याचार होने लगे। जनता को चेतावनी दी गई कि बौद्धों को आश्रय देनेवाले भी दण्डित किये जायेंगे। ४२६ ई० में एक नियम बना, इसके अनुसार बौद्धमूर्त्तियां और पुस्तकें नष्ट कर दी गईं, भिक्षु मार डाले गये, बुद्ध की पूजा करना और मूर्त्ति बनाना भयंकर अपराध गिना जाने लगा। बौद्धधर्म के प्रति इस बढ़ते हुए रोष को रोकने के लिये तातार नृपति के बड़े लड़के 'सङ्-वन्-ति' ने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु कुछ फल न निकला।

प्रतिक्रिया का उत्तर

पिता की मृत्यु के पश्चात् सङ्-वन्-ति राजा हुआ। राजा बनते ही इसने प्रतिक्रिया का उत्तर देने के लिये ४५१ ई० में प्रत्येक नगर में एक-एक बौद्ध मन्दिर खड़ा किया। लगभग ५० पुरुषों को प्रव्रज्या दिलाकर भिक्षु बनाया। बौद्धधर्म के प्रति इस प्रेम को देखकर भारत और मध्य एशिया के सभी राजाओं ने बधाई देने के लिये अपने अपने दूतमण्डल चीनी सम्राट् की सेवा में भेजे। इस समय एक दूतमण्डल लंका से भी पहुंचा था। वह अपने साथ जो पत्र ले गया था उसमें लिखा था "यद्यपि हमारा देश इतनी दूर है कि वहां तक पहुंचने में ३ वर्ष लगते हैं। परन्तु बौद्धधर्म के प्रति अगाध प्रेम हमें यहां तक खींच लाया है।"[1] इस समय चीन में एक नवीन जीवन दिखाई देता था। उत्तर में वी वंशीय राजा बुद्ध की एक ३५ फीट ऊंची मूर्त्ति बनवाने में संलग्न था। ठीक उसी समय दक्षिण में सुङ् वंशीय राजा एक बहुत शानदार बौद्धमन्दिर बनवा

---

[1] देखिये, Chinese Budhism, Page 94

रहा था। बौद्धधर्म के प्रति इस बढ़ते हुए उत्साह को देखकर भारतीय पण्डितों का प्रवाह फिर से चीन की ओर प्रवृत्त हुवा।

गुणवर्मन् और उसके साथी

अब चीन में एक नया प्रचारक पहुंचा। यह प्रचार-कार्य्य में अत्यन्त निपुण था। चीन जाने से पूर्व इसने जावा-निवासियों को बौद्ध बनाया था। इस प्रचारक का नाम गुणवर्मन् था। गुणवर्मन् काश्मीर के राजघराने में पैदा हुआ था। यद्यपि इसके पूर्वपुरुष बहुत काल तक शासन करते रहे थे परन्तु गुणवर्मन् की उत्पत्ति के समय इसका पिता संघानन्द निर्वासित हुआ जंगल में रहता था। जब यह १८ वर्ष का हुआ तो एक ज्योतिषी ने कहा "३० वर्ष की अवस्था में कुमारजीव किसी राज्य का शासन करेगा। यह दक्षिण की ओर जायेगा और इसका खूब स्वागत होगा।" २० वर्ष की आयु में कुमारजीव संसार से विरक्त होकर संन्यासी बन गया। धर्मशास्त्रों का यह इतना पण्डित था कि तत्कालीन लोग इसे 'त्रिपिटक—भदन्त' कहते थे। जब यह ३० वर्ष का हुआ तो काश्मीर का राजा निःसन्तान मर गया। उसका मन्त्रीमण्डल गुणवर्मन् को राजा बनाने के लिये तय्यार होगया। परन्तु इसने अस्वीकार कर दिया और तुरन्त काश्मीर छोड़कर लंका चला गया। लंका में बौद्धधर्म का प्रचार करने के उपरान्त यह जावा गया। इसके पहुंचने से एक दिन पूर्व जावानरेश की माता को स्वप्न आया कि एक भिक्षु तीव्रगामी नौका पर चढ़कर जावा आया है। ठीक उससे अगले दिन गुणवर्मन् जावा पहुंचा। जावा के राजा ने अपनी माता द्वारा प्रेरित होकर इससे बौद्धधर्म की दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के उपरान्त राजा ने प्रजा को सम्बोधन कर कहा "आप सब गुणवर्मन् का आदर करें, निर्धनों को दान दें, हिंसा न करें और महात्मा बुद्ध के बताये नियमों का पालन करें।" तदनन्तर सारा राज्य बौद्धधर्मानुगामी हो गया। जावा

के धर्मपरिवर्त्तन से गुणवर्मन् की ख्याति सब ओर फैल गई। इस प्रसिद्धि से चीनी लोगों का ध्यान भी इधर आकृष्ट हुआ। ४२४ ई० में चीनी राजा सङ्-वन्-ति ने प्रजा को प्रेरणा की कि वह किसी प्रकार गुण-वर्मन् को चीन ले आये। परिणामतः कुछ भिक्षु गुणवर्मन् को लाने के लिये जावा पहुंचे। भिक्षुमण्डल के पहुंचने से पूर्व ही गुणवर्मन् एक व्यापारी जहाज पर चढ़कर चीन को चल पड़ा था। ४३१ ई० में गुणवर्मन् चीन की राजधानी 'नानकिङ्' पहुंचा। राजा स्वयं इससे मिलने आया। स्वागत करने के पश्चात् राजा ने भिक्षु से कहा—"आपका शिष्य बनकर मैं सदैव भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं का अनु-सरण करना चाहता हूं। मैं हिंसा न करूंगा। हे स्वामिन्! कृपा कर आप मुझे समय समय पर निर्देश देते रहें।" राजा ने गुणवर्मन् के निवास के लिये जेतवनविहार[1] में प्रबन्ध कर दिया। अब गुणवर्मन् ने धर्म प्रचार प्रारम्भ किया और 'सद्धर्म पुण्डरीक' की कथा आरम्भ की। इसका सबसे मुख्य कार्य भिक्षुकियों का संगठन था। यद्यपि पिछले ५०० वर्षों से चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार हो रहा था परन्तु अब तक स्त्रियों का कोई संघ स्थापित न हुआ था। इस समय स्त्रियों को भी संघ का सदस्य बनाने के लिये आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। ६७ वर्ष की आयु में बहुत शानदार कृत्य करके गुणवर्मन् ने चीन में ही अपनी इहलीला को समाप्त किया। यह कोई महान् अनुवादक न था। अनुवाद तो इसने केवल १० ही किये। परन्तु गुणवर्मन् की महत्ता अनुवादक की दृष्टि से न होकर उपदेष्टा के रूप में है। इसने लोगों की आध्या-त्मिक उन्नति के लिये अनथक प्रयत्न किया था।

१. श्रावस्ती में भी इसी नाम से एक विहार था। उसीके अनुकरण पर यह नाम रक्खा गया था।

गुणवर्मन् के पहुंचने के ४ ही वर्ष उपरान्त 'गुणभद्र' मध्य भारत से चीन गया। यह महायान सम्प्रदाय का इतना विद्वान् था कि लोगों ने इसका नाम ही 'महायान' रख दिया था। ४३५ ई० में चीन पहुंच कर गुणभद्र ने संस्कृत पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद करना आरम्भ किया। इसने कुल मिला कर ७८ अनुवाद किये। वर्त्तमान समय में इनमें से केवल २८ ही उपलब्ध होते हैं। ४६८ ई० में ७५ वर्ष की आयु में गुणभद्र का देहान्त हो गया। ४८१ ई० में 'धर्मजालयशस्' नामक एक पण्डित और चीन पहुंचा। यह भी मध्यभारत से गया था। इसने 'अमितायुष सूत्र' का अनुवाद किया था। छठी शताब्दी के बिल्कुल आरम्भ में 'धर्मरुचि' चीन गया। इसके अनन्तर 'रत्नमति' और 'बोधिरुचि' चीन गये। बोधिरुचि ने शीघ्र ही चीनी भाषा सीख कर अनुवादों द्वारा प्रचार-कार्य्य प्रारम्भ किया। २७ वर्ष में इसने ३० पुस्तकों का अनुवाद किया, इसी समय बनारस से 'गौतमप्रज्ञारुचि' नामक एक पण्डित और पहुंचा। इसने ३ ही वर्ष में १८ पुस्तकों का अनुवाद कर दिया। अल्प काल की दृष्टि से इसका कार्य्य अन्य पण्डितों से अधिक आश्चर्य्यजनक है।

बौद्धधर्म का समृद्धि-काल

इस प्रकार भारतीय पण्डितों का एक के पश्चात् दूसरा दल चीन पहुंच रहा था और ये वहां जाकर संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद कर जनता में बौद्ध साहित्य को प्रचलित करने के लिये जीतोड़ प्रयत्न कर रहे थे। चीन में भारतीयों की संख्या दिनों दिन बढ़ रही थी। तत्कालीन चीनी विवरणों से ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी के आरम्भ में ३ हजार से अधिक भारतीय चीन में निवास कर रहे थे। इनके निवासार्थ चीनी राजाओं ने कितने ही सुन्दर विहारों का निर्माण कराया था। इनमें से बहुत से तो लोयङ्[1] में ही रहते थे।

१. वर्त्तमान 'हो-नान्-फू'

यहां पहुंच कर इन्होंने बौद्धधर्म का बड़े जोश और उत्साह से प्रचार किया। ५१८ ई०में उत्तरीय चीन के राजा ने 'सुङ्युन्' को बौद्ध ग्रन्थ लाने के लिये भारत भेजा।

गान्धार और काश्मीर का पर्य्यटन कर १७५ ग्रन्थों के साथ यह स्वदेश लौट गया। इस समय दक्षिणीय चीन में 'सुङ्' वंश समाप्त होकर 'लेङ्' वंश शासन कर रहा था। वू-ती इस वंश का प्रथम सम्राट् था। आरम्भ में यह कन्फ्यूशस धर्म का अनुयायी था, पर पीछे से एक भिक्षु के साहचर्य्य से इसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। इसने नानकिङ् में एक विशाल विहार का निर्माण कराया। उसे बहुत से उपहार भेंट किये। पशुबलि बिल्कुल बन्द कर दी। यहां तक कि कपड़ों पर सल्मे सितारे से पशुओं के चित्र काढ़ना भी रोक दिया। इसी के समय ५१८ ई० में त्रिपिटक की प्रथम चीनी आवृत्ति प्रकाशित हुई। इस के दो ही वर्ष बाद ५२०ई० में 'बोधिधर्म' भारत से क्वान्तुन्[1] गया। वहां इसने वू-ती से बहुत देर तक वार्तालाप किया। राजा की किसी बात से असन्तुष्ट होकर बोधिधर्म उत्तरीय चीन में लोयङ् चला गया। वहां इसने शेओ-लिन् के मन्दिर में ९ वर्ष व्यतीत किये। इस दीर्घ काल में यह निरन्तर दीवार की ओर मुंह करके समाधि में बैठा रहा जिस से यह 'भित्ति-द्रष्टा' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। ऐसा भी कहा जाता है कि बैठे बैठे इसकी टांगें गिर गईं और यह जंघा-शून्य गुदे की भांति बन गया। जब वू-ती को इस घटना का पता लगा उसने बोधिधर्म को लाने के लिये दूत भेजे परन्तु उन्हें इस कार्य्य में सफलता न मिली। यद्यपि इस धर्मोपदेष्टा ने ९ वर्ष मूक तपस्या में बिताये थे तथापि इसका चीनियों पर गहरा प्रभाव पड़ा था। बहुत से चीनी

१. यह दक्षिणीय चीन में एक नगर था। वर्त्तमान 'कैन्टन्' ही क्वान्तुन् है।

भिक्षु तपस्वी बनने के लिये बोधिधर्म का अनुकरण करने पर उतारू हो गये थे। कहा जाता है कि इन भिक्षुओं में से एक ने सोचा—"धर्म के लिये लोग नाना प्रकार की यंत्रणाएं झेलते हैं। कोई अपनी हड्डियां तोड़ देता है, कोई अस्थियों में से मज्जा निकाल देता है, कोई प्यासे के लिये बाहुओं में से रुधिर दे देता है, कोई बालों में कीचड़ मढ़ लेता है, और कोई भूखे शेरों की पेटपूर्ति के लिये अपने को पहाड़ पर से गिरा देता है। परन्तु मैं, धर्म के लिये क्या सह सकता हूं?" इस समय इसके चारों ओर भीषण तुषार-पात हो रहा था। यह उसमें निश्चल खड़ा था। यहां तक कि इसके घुटने भी बर्फ से ढक गये। इसी समय बोधिधर्म वहां प्रकट हुआ। उसने भिक्षु से पूछा—'तुम यह कष्ट क्यों उठा रहे हो?' इस पर भिक्षु ने रोते हुए उत्तर दिया—'मैं चाहता हूं कि मानव जाति का कल्याण करने के लिये मेरे में महती करुणा अवतरित हो।' इस पर बोधिधर्म बोला—'भगवान् बुद्ध की तपस्या के सामने तुम्हारी तपस्या कुछ भी नहीं है। वे तो तुमसे कहीं अधिक तपस्वी और सहनशील थे, यह सुनते ही भिक्षु ने तेज चाकू निकाला और अपनी बाजू काट कर बोधिधर्म के सामने रख दी। बोधिधर्म के हृदय पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। उसने इसी भिक्षु को अपना उत्तराधिकारी बना दिया। वृद्धावस्था में स्वाभाविक रीति से बोधिधर्म परलोकगामी हुआ। इस बीच में इसे ५ बार विष द्वारा मारने का प्रयत्न किया जा चुका था। परन्तु सब प्रयत्न निष्फल हुए।

राज्यारोहण के २६ वें वर्ष वू-ती भिक्षु बन गया।[1] उसने राजदरबार की सब तड़क-भड़क छोड़ दी और विहार में रहने

१. ५२७ ई० में।

लगा। नम्रता और दया से उसका हृदय परिपूर्ण हो गया। अपराधियों को फांसी देना बन्द कर दिया। परिणाम यह हुआ कि अपराध बहुत बढ़ गए। वू-ती ने कुल मिला कर ५ बार प्रवज्या धारण की। जब वू-ती भिक्षु बन कर विहार में रहता था उस समय हॉचिङ ने जो वू-ती का शत्रु था नानकिङ्ग पर आक्रमण किया और वू-ती को कैद कर लिया। जब उसे कहा गया कि तुम्हारी राजधानी शत्रु के हाथ पड़ गई है तो उसने केवल यही उत्तर दिया— 'मैंने अपने ही प्रयत्न से साम्राज्य प्राप्त किया था और मेरे द्वारा ही यह खोया गया। इस लिये मुझे शोक करने की कोई आवश्यकता नहीं है।' हॉ-चिङ् ने वू-ती के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया। वह भूख से तड़प-तड़प कर मर गया। नान्-किङ् की गलियों में लोगों ने वू-ती के शरीर को नोच-नोच कर खा लिया। यहां तक कि उसकी पत्नी ने भी उसके शरीर का कुछ भाग खाया।[1]

५३९ ई० में वू-ती ने एक दूत-मण्डल संस्कृत ग्रन्थ लाने के लिये मगध भेजा था। यह दूत-मण्डल अपने साथ 'परमार्थ' नामक भिक्षु को ले गया था। परमार्थ, योगाचारसम्प्रदाय का अनुयायी था। इसी ने चीन में सर्व प्रथम इस सम्प्रदाय का प्रचार किया था। भिक्षु परमार्थ

१. वू-ती के शरीर का भक्षण पवित्रता की दृष्टि से किया गया था। क्योंकि वू-ती धर्मात्मा था, इस लिए लोगों ने उसके प्रति अत्यधिक प्रेम प्रदर्शित करने के लिये उसके शव को ही नोच-नोच कर खा लिया। यह प्रथा प्राचीन समय में इजीप्शियन लोगों में भी प्रचलित थी। वे 'फिरोहा' के शव का भाग खाया करते थे। इसी प्रकार बहुत समय तक आसामी लोग भी गंगा और यमुना के किनारे बसनेवाले लोगों को अपने देश में आने पर नोच-नोच कर खाते रहे हैं, क्योंकि वे इन नदियों की घाटियों में बसने वाले लोगों को अतिपवित्र समझते थे और उस पवित्रता को अपने अन्दर लाना चाहते थे।

धर्मप्रचार के अतिरिक्त इसने 'असङ्ग' और 'वसुबन्धु' के ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया था।

वू-ती के पश्चात् उसका लड़का 'याङ्-ती' राजा बना। इसने ५५२ से ५५५ तक शासन किया। यह बौद्ध न होकर ताऊधर्मी था और प्रायः ताऊधर्म के मन्दिरों में ही रहा करता था। वहां ताऊधर्म के ग्रन्थों को पढ़ता तथा जनता में उनका प्रचार करता था। ५५५ ई० में 'ची' प्रान्त के शासक 'वेन्-साङ्-ती' ने बौद्धधर्मी और ताऊधर्मी लोगों को शास्त्रार्थ के लिये आमंत्रित किया। इसने कहा— दोनों धर्म सत्य नहीं हो सकते। किसी एक को अवश्य ही ऊंचा मानना होगा। दोनों पक्षों को सुनने के उपरान्त इसने अपना निर्णय बौद्ध-धर्म के पक्ष में दे दिया। इस निर्णय से बौद्धधर्म का प्रभाव और भी बढ़ गया।

६ठी शताब्दी के बौद्धपण्डित

इस शताब्दी में जो भारतीय पण्डित चीन गये उनमें सब से मुख्य 'जिनगुप्त' था। जिनगुप्त के साथ उसके तीन साथी—ज्ञानभद्र, जिनयश और यशोगुप्त थे। इनमें से ज्ञानभद्र और जिनयश क्रमशः यशोगुप्त और जिनगुप्त के गुरु थे। जिनगुप्त पेशावर का रहने वाला था। यह जाति से क्षत्रिय था। इसके पिता का नाम 'वज्रसार' था। अपने भाइयों में यह सबसे छोटा था। बचपन से ही इसकी प्रवृत्ति धर्म की ओर थी। संसार छोड़ कर संघ में प्रविष्ट होने की इसकी प्रबल अभिलाषा थी। जिनयश इसका उपाध्याय, और ज्ञानभद्र आचार्य था। दोमों ने मिल कर इसे पूर्णतया शिक्षित किया था। इन्हीं के उद्योग से आगे चल कर यह महाविद्वान् बन सका। जब यह २० वर्ष का था, इसका गुरु चीन गया और साथ में ६ पण्डितों को और ले गया। बर्फीली चोटियों को पार कर, अनेकों आपत्तियों का सामना कर ५५७ ई० में ये लोग चीन

पहुंचे। मार्ग के कष्टों के कारण केवल ४ ही पण्डित चीन पहुंच सके। चीन पहुंच कर जिनगुप्त ने भारतीय संस्कृति को फैलाने का यत्न किया। भिक्षुओं के रहने के लिये एक मन्दिर भी बनवाया गया। इस में रह कर इन्होंने अनुवाद-कार्य्य आरम्भ किया। थोड़े ही समय में जिनगुप्त की ख्याति चारों ओर फैल गई और यह 'यी' प्रान्त का मुख्य पण्डित समझा जाने लगा। इसका ज्ञान इतना गहन था कि यह कठिन से कठिन स्थलों की भी व्याख्या सुगमता से कर लेता था। इसने कुल ३७ अनुवाद किये थे। कुछ समय पश्चात् चीनी राजा ने जिनगुप्त को राजगुरु के पद पर नियुक्त किया। ५६२ ई० में इसने कुछ ज्योतिष् ग्रन्थों का अनुवाद किया। मरने से पूर्व इसने अनुवादकों का एक संघ स्थापित किया जिसका प्रधान यह स्वयं था। जिनगुप्त एक सच्चा धर्मप्रचारक था। यद्यपि धर्म-प्रचार में इसे बहुत कष्ट उठाना पड़ा तो भी इसने अपना कार्य्य नहीं छोड़ा। ६ठी शताब्दी के अन्त में बनारस से एक और पण्डित चीन पहुंचा। इसका नाम 'गौतम-धर्म ज्ञान' था।

६२० ई० से थाङ्वंश का शासनकाल प्रारम्भ हुआ। इस समय चीन में बौद्धधर्म का प्रचार हुए ५५० वर्ष व्यतीत हो चुके थे। लोगों में नये धर्म के प्रति पर्य्याप्त सहिष्णुता भी पैदा हो गई थी। परन्तु अभी तक भी यह जनता के लिये स्वाभाविक धर्म नहीं समझा जाता था। परिणामतः अब बौद्ध, कन्फ्यूशस और ताऊ-धर्मी लोगों में संघर्ष होने लगा। यह संघर्ष सुङ्वंशीय राजाओं के समय तक चलता रहा। यद्यपि साधारणतया थाङ् वंश का काल बौद्ध-धर्म के लिये अनुकूल रहा पर इस समय बौद्धधर्म के विरुद्ध फिर से प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। राजा 'के-ओ-सु' ने कहना आरम्भ किया—जिस प्रकार पक्षी के लिये पंख आवश्यक हैं और जैसे मछली के लिये जल जरूरी है वैसे ही चीनियों के लिये कन्फ्यूशस

थाङ् वंश

धर्म की आवश्यकता है। राजकीय इतिहास-लेखक 'फु' प्रथम ने बुद्ध को भला-बुरा कहते हुए कन्फ्यूशस के मन्दिर में भेंट चढ़ाई। राजा ने भी फु के उदाहरण का अनुकरण किया। उसने न्यायाधीशों को आज्ञा दी कि वे भिक्षुओं के जीवनों का निरीक्षण करें। जिनका जीवन पवित्र नहीं है उन्हें विवाह के लिये बाधित किया जाय। छोटे छोटे बौद्धमन्दिर बन्द कर दिये जायें। ६२७ ई० में के—ओ—सु की मृत्यु हो गई। तदनन्तर थाई—सुङ् राजा बना। नई रानी बौद्धधर्म की कट्टर शत्रु थी। उसने राजा को बौद्ध मन्दिरों का पुनरुद्धार करने से मना कर दिया। परन्तु राजा ने उसकी ओर ध्यान न दिया। उसने आज्ञा निकाली कि प्रत्येक विहार में ५ नये भिक्षु रक्खे जायें। इसी समय प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेन—त्साङ् भारत से वापिस लौटा। जनता द्वारा उसका खूब स्वागत किया गया। राजा ने उसे एक उपाधि भी प्रदान की। विद्वान् भिक्षुओं को अनुवाद-कार्य्य में लगाया गया। ६४१ ई० में भारत के सम्राट् हर्षवर्धन ने एक दूतमण्डल चीन भेजा। उसके प्रत्युत्तर में ६५७ ई० में 'ह्वाङ्—वेन्-सी' के नेतृत्त्व में एक दूतमण्डल भारत आया। इस समय हर्षवर्धन की मृत्यु हो चुकी थी और उसके स्थान पर उसके मंत्रियों में से ही एक राजा बना हुआ था। चीनी दूतमण्डल ने तिब्बत और नैपाल में सैन्यसंग्रह कर उस पर आक्रमण किया और उसे मार डाला। रानी और राजकुमार को कैद कर, १२ हजार स्त्री-पुरुष बन्दी बनाकर तथा ५८० छोटे-बड़े नगरों को पराजित कर स्वदेश लौट गया।[1]

भारत में ह्वेन्-त्साङ्

६२९ ई० में ह्वेन्-त्साङ् ने संस्कृतग्रन्थ लाने के लिये भारत की ओर प्रस्थान किया। हिन्दुकुश पर्वत पार कर यह भारत में प्रविष्ट हुआ। इसने सारे देश की यात्रा की। ५ वर्ष तक यह नालन्दा

१. देखिये, The Indian Historical Quarterly, Dec. 1937, Page 637.

विश्वविद्यालय में रहा। यहां रहते हुए इसने संस्कृत और बौद्ध-साहित्य का अध्ययन किया। १६ वर्ष पश्चात् बहुत सी उपयोगी सामग्री लेकर ह्वेन्-त्साङ् स्वदेश लौट गया। यह अपने साथ वज्रासन (बोध-गया) के ११५ ग्रेन टुकड़े, बुद्ध की ३¼ फीट ऊंची एक स्वर्णप्रतिमा, ३½ फीट ऊंची एक रजतप्रतिमा और बहुत सी चन्दननिर्मित प्रतिमायें तथा ६५७ बौद्ध-ग्रन्थ ले गया था। इसने कुल मिलाकर ७५ अनुवाद किये। 'वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता सूत्र' के पुरातन अनुवाद को शुद्ध किया। तदुपरान्त ६७१ ई० में ईचु-चिङ् भारत आया। इसने ५६ संस्कृत ग्रन्थ अनूदित किये थे।

इन चीनी भिक्षुओं के अतिरिक्त अतिगुप्त, नदि, दिवाकर आदि कई भारतीय पण्डित भी अनुवाद कार्य कर रहे थे। साहित्यिक उन्नति की दृष्टि से 'थाईसुङ्' का समय सुवर्णकाल था। यही कारण है कि प्रसिद्ध इतिहासलेखक 'गिब्बन' ने इसे पूर्व का ऑगस्टस कहा है। यह ठीक है कि इस शताब्दी में भारत से बहुत कम पण्डित चीन गये। इसका कारण यह था कि इस समय भारतीय पण्डितों का प्रवाह चीन की अपेक्षा तिब्बत की ओर अधिक वेगवान् था।

८ वीं शताब्दी के अत्यन्त प्रारम्भ में ही कन्फ्यूशस लोगों ने बौद्धों पर अत्याचार करने आरम्भ किये। ७१४ ई० में यन्-सुङ् राजा ने कहा—"बौद्धधर्म हमारे देश के लिये बड़ी घातक वस्तु है।" १२००० भिक्षु और भिक्षुकियों को विवाह के लिये बाधित किया गया। मूर्त्तियां बनाना, पुस्तकें लिखना तथा मन्दिर खड़े करना सब कुछ बन्द कर दिया गया। इसी समय राजा की ओर से कुछ हिन्दु पंडित तिथि-क्रम नियत करने के लिये नियुक्त किये गये थे। इनमें से एक 'गौदमार' था। इसकी गणना-विधि बहुत उत्तम थी। इस गणना को चीन में

चीन में भारतीय पञ्चाङ्ग

'धवलप्रासाद् का तिथिक्रम' कहा जाता था। ३ वर्ष तक इसी का प्रयोग किया गया। तदनन्तर एक अन्य भारतीय पण्डित को जिसका नाम गौतमसिद्ध[1] था, ज्योतिषग्रन्थों का अनुवाद करने के लिये कहा गया। इसने नई गणनाविधि प्रचलित की। इसमें चन्द्रमा और ग्रहों के अनुसार गणना की गई थी। कुछ काल तक इसी तिथिक्रम को चलाया गया। ७२१ ई० में चीन के प्रसिद्ध ज्योतिषी 'चिह्-हिङ्' ने इसी के अनुसार चीन का तिथिक्रम निश्चित किया। तिथिक्रम के साथ ६ तक के अङ्क और शून्य को भी चीन निवासियों ने हिन्दु पण्डितों से सीखा[2]। ज्योतिष् विद्या के दो अन्य ग्रन्थों का भी अनुवाद किया गया। इनमें से एक का नाम 'ब्राह्मणज्योतिष्-शास्त्र' है। इसमें २० अध्याय हैं। दूसरे ग्रन्थ का नाम 'जिगऋषि ब्राह्मण का ज्योतिष् विवरण' है।

प्रतिक्रिया का अन्त

७५६ ई० में 'सु-सुङ्' राजा हुआ। इसका बौद्धधर्म के प्रति बहुत झुकाव था। इसने बौद्ध कर्मकाण्ड के अनुसार अपना जन्म-दिन मनाया। इस दिन रक्षकों को बोधिसत्त्वों के अनुसार वेष धारण कराया गया और सब दरबारियों ने मण्डल में खड़े होकर उनकी पूजा की। सु-सुङ् का उत्तराधिकारी 'थाई-सुङ्' था। यह अपने पिता से भी अधिक उत्साही था। इसके मन्त्री और सेना-पति भी बौद्धधर्म के पक्षपाती थे। राजाज्ञा द्वारा एक मञ्च बनाया गया, जिस पर बैठकर भिक्षु लोग सूत्रग्रन्थों का पाठ करते थे और उपस्थित जनता के सम्मुख उनकी व्याख्या करते थे। इन सूत्रग्रन्थों को राज्य की गाड़ी में उतने आदर से ले जाया जाता था जितने आदर से राजा को। राजा ने अपनी माता की स्मृति में एक मन्दिर

---

१. देखिये, Chinese Budhism, Page 122

२. देखिये, Chinese Budhism, Page 123

बनवाया। इसके उद्घाटन-समारोह में वह स्वयं भी उपस्थित हुआ। इसमें भिक्षु और भिक्षुकियां नियुक्त की गई। राजा पर एक सिंहली भिक्षु का बड़ा प्रभाव था जिसका नाम 'अमोघवज्र' था। इसकी प्रेरणा से राजा ने आज्ञा दी कि ७६८ ई० के सातवें मास की पूर्णिमा के दिन भूखे प्राणियों की बुभुक्षा शान्त करने के लिये उपहारों से भरे पात्र भेंट किये जांय। उस दिन भिक्षु इकट्ठे हुए। उन्होंने सबके कल्याण के लिये प्रार्थनाएं कीं और चारों लोकों के भक्षणार्थ चारों ओर चावल फेंके गये।[1]

इन राजाओं के बाद 'वु-सुङ्' आया। यह ताऊधर्मी था। ताऊ-धर्मी सलाहकारों के कहने पर ८४५ ई०में इसने बौद्धधर्म पर भयंकर प्रहार किये। ४६०० विहार तोड़ दिये। ४०००० छोटे मन्दिर गिरा दिये। संघों की जायदाद जब्त कर ली और इसका उपयोग सरकारी भवन बनाने में किया गया। मूर्त्तियों और घण्टों को गला कर सिक्के के रूप में परिवर्तित कर दिया। २६०००० भिक्षु और भिक्षु-कियों को गृहस्थी बनने के लिये बाधित किया। मन्दिरों के १५०००

तृतीय प्रतिक्रिया

१. इस विधि के मूल में यह विचार कार्य्य करता है कि सबको खिलाकर खाया जाय। वैदिक संस्कारों में विवाह संस्कार में मधुपर्क—विधि आती है। यह प्रथा उसी का विकृतरूप जान पड़ती है। वहां वर, वधू द्वारा दिये हुए मधुपर्क को दाहिने हाथ की अनामिका और अंगुष्ठ से तीन बार मिला कर—

'ओं वसवस्त्वा गायत्रेण च्छन्दसा भक्षयन्तु' इस मन्त्र से पूर्व में,
'ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु' इस मन्त्र से दक्षिण दिशा में,
'ओं आदित्यास्त्वा जागतेन च्छन्दसा भक्षयन्तु' इस मन्त्र से पश्चिम में,
'ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु' इस मन्त्र से उत्तर में,

मधुपर्क के छींटे देता है। सामाजिक जीवन में प्रवेश करते हुए वर को, यह शिक्षा दी जा रही है कि तुम संसार को खिलाकर स्वयं खाओ। यही विचार उपरोक्त विधि में प्रतीत होता है।

दासों को मुक्त कर दिया। इन संख्याओं में अत्युक्ति हो सकती है, पर इतना स्पष्ट है कि राजा ने बौद्धधर्म पर बहुत अत्याचार किये। वु-सुङ् के अत्याचार बहुत दिन नहीं चल सके। उसने अमर बनने के लिये सुधा (Elixir) पीनी आरम्भ की। इसे पीने से ८४६ ई० में यह गूंगा हो गया और अन्त में मर गया।

वु-सुङ् का उत्तराधिकारी 'सुई-सुङ्' कट्टर बौद्ध था। इसने बौद्धों के प्रति पक्षपात कर पहली नीति को बिल्कुल बदल दिया। राजधानी में फिर से आठ विहार खड़े किये और लोगों को भिक्षु बनने की अनुमति दे दी।

सुङ् वंश का अभ्युदय

थाङ् वंश के अन्तिम राजा बहुत शक्तिहीन थे। परिणाम यह हुआ कि चीन पांच छोटे छोटे राज्यों में बंट गया। इनमें से तीन तुर्कों के थे। इन राज्यों को ५३ वर्ष तक बहुत से उतार चढ़ाव में से गुजरना पड़ा। ६६० ई० में सुङ्-वंश ने चीन को फिर से एक साम्राज्य का रूप दे दिया।

सुङ्वंशीय सम्राट् बौद्ध थे। द्वितीय सुङ् सम्राट् 'थाई-सुङ्' ने राजधानी में बुद्ध की पवित्रधातु पर ३६० फीट ऊंचा एक स्तूप खड़ा किया। चतुर्थ सुङ् सम्राट् 'जीन्-सुङ्' की संस्कृत साहित्य में बहुत रुचि थी। इसके राज्य में बड़े बड़े विद्वान् रहते थे। इसने ५० युवकों को संस्कृत पढ़ने के लिये नियुक्त किया था।[1] इसी के समय मगध से एक पण्डित चीन गया जिसने 'अमितायुष सूत्र' का अनुवाद किया और कुछ एक संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद चीनी संस्कृतज्ञों द्वारा कराया। इससे ज्ञात होता है कि इस समय चीन में बहुत से हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थ विद्यमान थे। ११०१ ई० में हि-सुङ् राजा बना। इस पर लिन्-लिङ् नामक एक ताऊधर्मी पुरोहित

१. देखिये, Chinese Budhism, Page 137.

का प्रभाव था। यह बचपन में बौद्ध नौसिखिया था। परन्तु दुर्व्यवहार के कारण संघ से निकाल दिया गया था। इस घटना से पुराने धर्म के प्रति इसके मन में द्वेष पैदा हो गया था। लिन्-लिङ् के प्रभाव में आकर राजा ने ताऊधर्मी लोगों को न केवल उपहार ही दिये परन्तु बौद्धों पर अत्याचार भी बहुत किये। ११२६ ई० में तातार लोगों ने सुङ् राजा को परास्त कर दिया। ११२७ ई० से १२८० ई० तक चीन में तातार लोगों का प्रभुत्व रहा। इनका धर्म बौद्ध नहीं था। इस लिये लगभग डेढ़ शताब्दी तक बौद्धधर्म की प्रगति रुकी रही। १२८० ई० में मङ्गोलों के आश्रय में फिर से बौद्ध धर्म का आदित्य उदित हुआ।

ऊपर जिस दीर्घकाल का इतिहास बताया गया है उस समय भी भारतीय पण्डित निरन्तर चीन जा रहे थे। ८ वीं शताब्दी के आरम्भ में अमोघवज्र चीन गया। यह अपने समय का सबसे बड़ा अनुवादक था। कुमारजीव, जिनगुप्त और बोधिरुचि की की तरह इसने भी अनुवादों द्वारा भारतीय संस्कृति को फैलाने का प्रयत्न किया। इसने चीन में तन्त्रशास्त्र का भी प्रचार किया। अमोघ वज्र ने कुल मिला कर ४१ तन्त्र ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। अपने धार्मिक कार्यों के कारण यह सारे राष्ट्र के सम्मान का पात्र बन गया। इस समय चीन में कोई भी ऐसा व्यक्ति न था जो इसे क्रियाशीलता में मात कर सकता। ७७४ ई० में अमोघवज्र की मृत्यु हो गई। राजा की इसमें इतनी श्रद्धा थी कि उसने इसे 'राज्य कर्ण-धार' तथा 'त्रिपिटक-भदन्त' की उपाधियां प्रदान की थीं।

भारतीय पण्डितों का अन्तिम जत्था

९ वीं शताब्दी में कोई भी पण्डित चीन नहीं गया। अमोघवज्र के साथ बड़े बड़े पण्डितों का प्रयाण समाप्त हो गया। इसके डेढ़

शताब्दी पश्चात् तक भारत से पण्डितों का कोई भी जत्था चीन नहीं गया। धीरे धीरे भारतीय पण्डितों का चीन जाना बन्द हो रहा था कि ९५१ ई० में भिक्षु 'सामन्त' एक बड़े दल के साथ पश्चिमीय भारत से चीन पहुंचा। इसी समय अनेक चीनी यात्री संस्कृत ग्रन्थों की खोज में भारत-भ्रमण कर रहे थे और कुछ शाक्य मुनि की पवित्र भूमि की यात्रा कर बौद्ध ग्रन्थों के साथ स्वदेश लौट रहे थे। ९७१ ई० में 'मञ्जुश्री' चीन गया। धार्मिक आचार-व्यवहार के कारण चीन में इसकी ख्याति शीघ्र ही फैल गई। इसकी प्रशंसा से दूसरे भिक्षु ईर्ष्या करने लगे। मञ्जुश्री चीनी भाषा नहीं जानता था। अतः भिक्षुओं ने जाकर राजा से कह दिया कि मञ्जुश्री घर जाने को उत्सुक है। राजा ने उसे स्वदेश लौटने की आज्ञा दे दी। जब मञ्जुश्री ने आज्ञा सुनी तो उसे बहुत आश्चर्य हुआ। पर क्योंकि अब कोई चारा ही न था इस लिये उसने चीन का परित्याग कर दिया। परन्तु वह कहां गया यह कौन जानता है? ९७३ ई० में 'धर्मदेव' नामक एक महान् पण्डित चीन पहुंचा। यह नालन्दा से गया था। इसे त्रिपिटक का खूब ज्ञान था। सुङ्-कालीन अनुवादकों में यह बहुत बड़ा अनुवादक था। ९८२ ई० में राज्य की ओर से अनुवादकों का एक संघ बनाया गया था जिसका संगठन धर्मदेव ने ही किया था। इस संघ में कुछ चीनी पण्डित भी थे जो संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। धर्मदेव ने ९७३ से ९८१ तक १० वर्षों में ४६ पुस्तकों का अनुवाद कर डाला। इसके अनुवादों में कुछ तंत्रग्रन्थ भी थे। धर्मदेव ने महायान सम्प्रदाय की अत्यन्त प्रसिद्ध पुस्तक 'सुखावति व्यूह' का भी अनुवाद किया था। इसमें सुखावति स्वर्ग का चित्र खींचा गया था। १००१ ई० में धर्मदेव की मृत्यु हो गई। अपने सत्कृत्यों के कारण वह मरने के बाद भी पूजा गया। शनैः शनैः चीन में भारतीय प्रचारकों की

क्रियाशीलता में शिथिलता आने लगी क्योंकि इस समय भारतीय पण्डितों का अधिक झुकाव जैसा कि पहले कहा जा चुका है तिब्बत की ओर हो गया था।

१००४ ई० में 'धर्मरक्ष' मगध से चीन गया। यह अपने साथ पवित्र धातु तथा ताड़पत्र पर लिखे हुए बहुत से ग्रन्थ भी ले गया था। इसने १३ ग्रन्थों का अनुवाद किया था। १०५८ ई० में ६६ वर्ष की अवस्था में यह परलोकगामी हुआ। अन्तिम भारतीय पण्डित 'ज्ञानश्री' था। इसने १०५३ ई० में चीन में पदार्पण किया था। इस प्रकार भारतीय पण्डित एक हजार वर्ष से भी अधिक समय तक चीन जाते रहे। जहां ये लोग चीन में अपने साथ बौद्धधर्म को ले गये वहां संस्कृत-साहित्य, भारतीय-कला, और संस्कृति को भी चीन ले गये। भारतीय पण्डितों का यह कार्य्य संसार के इतिहास में अपूर्व है। एक सहस्र वर्षों से भी अधिक समय तक भारतीय पण्डितों ने जिस जोश, उत्साह, धैर्य्य और स्थिरता के साथ बौद्धधर्म का प्रचार किया उसका दूसरा उदाहरण मिलना असम्भव है। मुसलमानों के आक्रमणों से इस प्रगति का इस बुरी तरह अन्त हुआ कि जब कुबलेईखां ने अनुवादकों के लिये भारतीय पण्डितों की चाह से इस ओर दृष्टि डाली तो उसे निराश होना पड़ा। उसे यहां से एक भी पण्डित नहीं मिला। कारण यह था कि इस्लामी सेनाओं ने नालन्दा, विक्रमशिला आदि बौद्ध केन्द्रों को आग की भेंट कर दिया था। जिन शिक्षा केन्द्रों में कुमारजीव, बोधिरुचि, परमार्थ, जिनगुप्त जैसे महान् पण्डितों ने विद्याध्ययन कर विदेशों की ओर प्रस्थान किया था वे अब वीरान पड़े थे। जिन विश्व-विद्यालयों में आकर ह्वेनत्साङ्, ईचुचिङ् आदि चीनी यात्रियों ने भारतीय-संस्कृति का मधुर रसपान किया था, उनकी चितायें इस समय धकधक कर रही थीं। छः मंजिले और सात मंजिले भवन

जो बौद्धधर्म और संस्कृत साहित्य से भरे पड़े थे, वहां अब केवल राख ही शेष रह गई थी।

मङ्गोल सरदारों का बौद्धधर्म के प्रति प्रेम

चीन के उत्तर में एक प्रदेश है जिसे मङ्गोलिया कहा जाता है। १२ वीं शताब्दी में इस प्रदेश में चंगेज़खां के नेतृत्व में एक नई शक्ति का उत्कर्ष हुआ। मङ्गोलों ने उत्तरीय एशिया और पूर्वीय योरुप को जीत कर विशाल मङ्गोल-साम्राज्य की नींव डाली। १२३२ ई० में सुङ् वंशीय राजाओं ने तातार लोगों के विरुद्ध मङ्गोलों से संधि कर ली। तातारों की शक्ति नष्ट कर चंगेज़खां चीन का सम्राट् बन गया। १२८० ई० में कुबलेईखां राजा हुआ। १२८० से १३६८ तक मङ्गोलों का प्रभुत्त्व रहा। इन मङ्गोलों को अन्य धर्मों की अपेक्षा बौद्धधर्म अधिक प्रिय था। मङ्गोल सम्राट् कुबलेईखां का बौद्धधर्म के प्रति बहुत अनुराग था। इसने विहार बनाने, पुस्तकें छपाने तथा त्यौहार मनाने में बहुत बड़ी धनराशि व्यय की। आज्ञा प्रचारित की गई कि विहारों में बौद्ध ग्रन्थों का पाठ किया जाये। १२८७ ई० में त्रिपिटक का नया संग्रह प्रकाशित किया गया। जब कुबलेईखां को उसके दरबारियों ने जापान पर आक्रमण करने की सलाह दी तो उसने पहली बार यह कह कर इनकार कर दिया कि वहां के निवासी महात्मा बुद्ध के उपदेशों का पालन करते हैं।[१] कुबलेईखां के सलाहकारों में से दो बौद्ध पण्डित थे। इनमें से एक 'नेमो' था। यह किसी पश्चिमीय देश का रहने वाला था। दूसरा ऽफग्स्-पा[२] था। इसने मङ्गोल भाषा के लिए नई वर्णमाला तय्यार की थी जिसका कुबलेई ने प्रचार किया पर इसमें उसे सफलता नहीं मिली क्योंकि उसके द्वारा तय्यार की हुई वर्ण-

१. देखिये, Chinese Budhism, Page 147

२. देखिये Chinese Budhism, Page 148

माला कठिन थी। कुबलेई के उत्तराधिकारी ओगोतेईखां के समय बौद्धग्रन्थों को स्वर्णाक्षरों में लिखने के लिये ३००० स्वर्णमुद्रायें पृथक् रख दी गईं। १३ वीं शताब्दी के अन्त में मङ्गोल सरदारों ने चीन के बौद्धमन्दिरों और भिक्षुओं की गणना करवाई। इस गणना के अनुसार उस समय चीन में ४२३१८ मन्दिर और २१३१४८ भिक्षु विद्यमान थे। इसके ३ वर्ष पश्चात् कुबलेई के शासन के अन्तिम भाग में तिब्बत से एक भिक्षु चीन पहुंचा। राजा ने एक मङ्गोल सरदार को इस से तिब्बती भाषा सीखने के लिये प्रेरित किया। तदुपरान्त बौद्धसूत्रों और शास्त्रों का तिब्बती से मङ्गोल भाषा में अनुवाद करा कर उन्हें सरदारों में वितीर्ण कराया। १३१२ ई० में बहुत से बौद्धग्रन्थों का मङ्गोल भाषा में अनुवाद किया गया। ४ सूत्रग्रन्थों का भी उल्था हुआ। इस प्रकार मङ्गोलों के शासन काल में बौद्धधर्म उत्तरोत्तर उन्नति करता गया।

ऊपर कहा जा चुका है कि १२८० से १३६७ तक चीन में मङ्गोलों ने शासन किया। १३६८ ई० में मिङ् लोगों ने मङ्गोलों को देश से निकाल बाहर किया। मिङ् वंश ने १३६८ से १६४४ तक शासन किया। मिङ्वंश का संस्थापक 'थाई-सु' बौद्धधर्म का बड़ा सहायक था। युवावस्था में यह भिक्षु था। परन्तु पीछे से इसने भिक्षु जीवन त्याग कर साहसिक जीवन प्रारम्भ किया और एक दिन चीन का सम्राट् बन गया। इसने घोषणा निकाली कि सब भिक्षु लंकावतार, प्रज्ञापारमिता और वज्रच्छेदिका—इन तीन सूत्रों को पढ़ा करें। इन तीनों सूत्रों की व्याख्या भी प्रकाशित की गई। तृतीय मिङ् सम्राट् का शिक्षक ही एक बौद्ध था। राजा अपने गुरु का बहुत आदर करता था। उसने इसे ऊंचे पद पर नियुक्त किया था। इस समय त्रिपिटक मिङ् वंश

का नया संग्रह किया गया। इस संग्रह को 'उत्तरीय-संग्रह' कहा जाता है।[1] १४०५ ई० में एक दूतमण्डल पवित्र दन्तधातु को पूजोपहार अर्पण करने चीन से सिंहलद्वीप भेजा गया। परन्तु सिंहलियों ने इसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। परिणामतः १४०७ में सेना की एक टुकड़ी सीलोन भेजी गई जो राजा को कैद कर चीन ले गई। इसके पश्चात् ५० वर्ष तक सिंहली राजा चीन को कर देते रहे। मिङ् वंश के अन्तिम समय में बौद्धों के कुछ नये शत्रु पैदा हो गये। ये ईसाई और मुसलमान थे। दोनों ने बौद्धधर्म के विरुद्ध प्रचार करना आरम्भ किया और साहित्य प्रकाशित करना भी प्रारम्भ कर दिया।

मंचू शासन

मिङ् वंश के पश्चात् मंचू लोग आये। इनके समय चीन फिर से एक शासन के नीचे आ गया। मंचू लोग भी बुद्ध के अगाध भक्त थे। चीन को जीतने से पूर्व ही मंचू राजकुमार 'थाई—सुङ्' ने विहारों का निरीक्षण कर भिक्षुओं की संख्या निश्चित करने का प्रबन्ध किया। प्रथम मंचू सम्राट् 'शन्—चिह' ने कुछ बौद्धग्रन्थों की भूमिका लिखकर उन्हें प्रकाशित किया तथा १६५२ में पेकिङ् में ताले—लामा को बुलाया। शन्—चिह का उत्तराधिकारी कुछ समय के लिये ईसाइयत की ओर झुका परन्तु पीछे से उसने बौद्धधर्म को अपना लिया। मंचू सम्राट् 'चिन्—लङ्' ने तिब्बत से ताशिलामा को बुलाया। इसका जो लेख मिला है उसमें तशिलामा को आध्यात्मिक शिक्षक लिखा हुआ है। २० वीं शताब्दी तक मंचू वंश ही शासन करता रहा। १९०८ में राजमाता का शासन काल समाप्त हुआ। तदनन्तर एक तीन

---

१. यह उत्तर में पेकिङ् में किया गया था। पेकिङ् का अर्थ है पे = उत्तर किङ्—नगर, पेकिङ् = उत्तरीय नगर।

वर्ष का बालक गद्दी पर बिठाया गया। इसके समय में चीन में क्रान्ति हुई और राजतन्त्र शासन का अन्त होकर प्रजातन्त्र की स्थापना हुई।

इस समय चीन में क्रान्ति का आन्दोलन जोर पकड़ रहा था और लोग राजसत्ता को नष्ट कर जनतन्त्र शासन स्थापित करने के लिये व्याकुल हो रहे थे। क्रान्ति के नेता डा० सुन्यातसेन् थे। क्रान्तिकारियों का अधिक जोर दक्षिणीय चीन में था क्योंकि यहीं लोगों पर पश्चिमीय शिक्षा का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था। राज्य की ओर से जो सुधार हो रहे थे उन पर लोगों का विश्वास न था। जनता महान् परिवर्त्तन चाहती थी। उस समय चीनी सरकार कर्जे के बोझ से भी लदी हुई थी। आन्तरिक स्थिति निरन्तर खराब होती जा रही थी। मंचू लोग चीनी नहीं हैं, प्रत्युत विदेशी हैं, इसलिये इस वंश का अन्त होना चाहिये, यह भावना भी लोगों में प्रबल हो रही थी। अन्ततः ५ एप्रिल १९११ के दिन क्रान्ति का झण्डा खड़ा किया गया। १२ फरवरी १९१२ को बालक राजा को गद्दी से उतार कर सुन्यातसेन् को चीनी प्रजातन्त्र का प्रथम राष्ट्रपति चुना गया। परन्तु उसने त्यागपत्र दे दिया और यु-आन्-शिकाई को राष्ट्रपति बनाया। तब से अब तक चीन में प्रजातन्त्र शासन कायम है। यद्यपि शासनविधान में अब तक भी परिवर्त्तन होते रहते हैं परन्तु धर्म में कोई परिवर्त्तन नहीं आया। लोगों का धर्म इस समय भी बौद्धधर्म है। मन्दिरों में भगवान् बुद्ध की पूजा की जाती है। विहारों में भिक्षु निवास करते हैं। त्रिपिटक का अध्ययन होता है और बौद्ध त्यौहार बड़ी धूमधाम से मनाये जाते हैं

प्रजातन्त्र की स्थापना

बौद्धधर्म की वर्त्तमान दशा

इस समय भी चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार है। यद्यपि इस पर अन्य स्थानों की भांति स्थानीय रङ्ग पर्य्याप्त चढ़ गया है तो भी

यह उन शिक्षाओं और क्रियाओं पर आश्रित है जिनका प्रचार वहां भारतीय पण्डितों ने किया था।

मंदिर और विहार

चीन में हजारों की संख्या में बौद्ध मन्दिर विद्यमान हैं। बड़े बड़े मंदिर तो विहारों के भाग हैं लेकिन छोटे छोटे मंदिर पृथक् बने हुए हैं। इन में साधारणतया एक एक पुरोहित रहता है। कई मंजिलों वाले मीनार चैत्य[1] कहाते हैं। ये 'चीनी भूमि का सौंदर्य्य' कहे जाते हैं। वस्तुतः ये पवित्र धातुओं[2] पर खड़े किये हुए स्तूप हैं। अधिकांश विहार नगरों से बाहर पहाड़ों में या देहात में बने हुए हैं। प्रायः विहार आयताकार हैं। इन के चारों ओर दीवार है। मुख्य द्वार दक्षिण की ओर है। मुख्य द्वार के सामने तालाब रहता है। सरोवर पर एक पुल बना हुआ होता है। तालाब लाल कमलों से भरा होता है। पालतू मछलियां तैरती रहती हैं। आयत के प्रत्येक पार्श्व में निवासार्थ कमरे बने रहते हैं। बीच में तीन प्राङ्गण होते हैं। प्रत्येक में पूजा के लिये एक एक भवन होता है। दीवार पर मूर्त्तियां बनी रहती हैं मूर्तियों के सम्मुख लकड़ी की एक मेज़ रहती है। इस पर गुलदस्ते, गुलाबदानी और पूजा के पात्र धरे रहते हैं। प्रथम चार भवन चार महाराजाओं[3] के भवन कहलाते हैं। इनमें मैत्रेय। बुद्ध, वी-तो[4] और कन-ती[5] इन चार देवताओं की मूर्तियां होती

---

१. अंग्रेजी जानने वाले इन्हें 'पगोडा' नाम से पुकारते हैं।

२. महात्माओं की राख, अस्थि आदि के लिये 'पवित्र धातु' शब्द रखा गया है। अंग्रेजी में इसे Relic कहा जाता है। 'अवशेष' शब्द से ठीक २ अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। इस लिये पवित्र धातु का ही प्रयोग किया गया है।

३. इन्हें संस्कृत में 'चातुर्महाराजकम्' कहा जाता है।

४. यहां 'इन्द्र' से मेल खाता है।

५. युद्ध का चीनी देवता

हैं। मुख्य भवन 'बुद्ध का अमूल्य भवन' कहाता है। प्रधानमूर्त्ति इस में रहती है। भवन की वेदी पर प्राय: शाक्यमुनि की स्वर्णीय प्रतिमा विराजती है। इसके दोनों ओर नौ नौ मूर्तियां होती हैं। ये बुद्ध के अठारह शिष्य हैं। इन्हें चीन में 'अष्टादश–लोहन' या 'अर्हत' कहा जाता है। अर्वाचीन देवताओं के लिये मुख्य वेदी के पीछे एक मन्दिर होता है। इस मन्दिर का मुख भवन के उत्तरीय द्वार की ओर होता है। इस में अर्वाचीन देवताओं के कृत्यों को चित्रों और मूर्त्तियों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। तीसरे भवन में छोटी छोटी मूर्त्तियां होती हैं। इसी में धर्मग्रन्थ रक्खे जाते हैं और प्रवचन भी इसी में होता है। बड़े बड़े विहारों में ध्यान के लिये चौथा भवन भी होता है।

विहार का परिमाण भिन्न भिन्न है और भिक्षुओं की संख्या भी निश्चित नहीं है। चीन में कुछ घूमने वाले भिक्षु भी हैं। ये लोग किसी खास विहार से सम्बन्ध रखते हैं और अधिक समय घूमने में बिताते हैं। जो बच्चे भिक्षु बनाने के लिये लाये जाते हैं उन्हें विहारों में धार्मिक शिक्षा भी दी जाती है। वे विहारानुकूल वस्त्र धारण करते हैं और सिर मुंडाये रखते हैं। १७ वर्ष की अवस्था में वे संघ के सदस्य बना लिये जाते हैं। भिक्षु लोग कई श्रेणियों में बंटे हुए हैं। पश्चिमीय भिक्षु कर्मकाण्ड तथा अन्य धार्मिक कार्य्य करते हैं और पूर्वीय अपेक्षा सांसारिक कार्य्य तथा विहारों का साधारण प्रबन्ध करते हैं। जायदाद से जो आय होती है वह भिक्षुओं पर खर्च की जाती है। प्रत्येक विहार में धार्मिक पुस्तकों और त्रिपिटक की एक प्रति अवश्य विद्यमान रहती है। कई विहारों में पुस्तकों के लकड़ी के ब्लाक भी हैं। इनसे प्रचलित सूत्र, प्रार्थनायें तथा सूचनायें छापी जाती हैं।

संघ में प्रविष्ट होना कठिन नहीं है। विहार का प्रत्येक आचार्य्य अपनी इच्छानुसार ही काम करता है। इनको कार्य्य कराने के लिए कोई सार्वदेशिक नियम नहीं हैं। विहारों में कई सदस्य जीवन भर श्रामणेर [1] रहते हैं। इन्हें अन्त तक पूर्ण भिक्षु नहीं बनाया जाता। ये केवल कुछ प्रार्थनायें ही जानते हैं। न्यूनतम आयु का प्रतिबन्ध भी इनके यहां नहीं हैं। कई विहार तो, सिर मुंडाये हुए, भिक्षु वस्त्र पहने हुए, छोटे छोटे बालकों ही से भरे पड़े हैं। चीनी भिक्षु का बाह्य चिह्न लम्बा, काला, बड़ी आस्तीनों वाला 'वी'[2] आकार का चोग़ा होता है। कोई कोई भिक्षु तिब्बती भिक्षुओं के समान टोपा भी पहनता है। यह प्रायः छोटा और काले रङ्ग का होता है। इसका आकार भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के अनुसार भिन्न भिन्न है।

प्रव्रज्या श्रामणेर बनने वाले भिक्षु का सिर मुंडाया जाता है। बौद्ध साधुओं के चीवर दिये जाते हैं और फिर निम्न दस 'शील' स्वीकार कराये जाते हैं:—

१. हिंसा न करना.
२. चोरी न करना.
३. ब्रह्मचर्य्य रखना.
४. असत्य न बोलना.
५. मादकद्रव्यों का सेवन न करना.
६. मध्याह्न के बाद भोजन न करना.
७. नाच-गान तथा अभिनय आदि में न जाना.
८. शरीर को न सजाना तथा सुगंधित पदार्थों का सेवन न करना.

१. प्रथम श्रेणी के बौद्धपरिव्राजक को श्रामणेर कहते हैं।

२. अंग्रेजी भाषा के v अक्षर की आकृति का

९. महार्घ आसन का प्रयोग न करना.

१०. अपने लिये सोना, चांदी न लेना.

भिक्षु बनने वाले को दो तीन मास तक अत्यन्त तत्परता से अध्ययन करना होता है। तदनन्तर उसे प्रथम व्रत ग्रहण कराया जाता है। प्राय: किसी नगर या किसी प्रान्त में एक ही विहार को यह अधिकार होता है कि वह ऐसे व्रत ग्रहण करा सके विहार को यह अधिकार सरकार की ओर से दिया जाता है।

इसके उपरान्त भिक्षु-व्रत धारण कराया जाता है। भिक्षु बनने वाले व्यक्ति बुद्धों और बोधिसत्त्वों को गम्भीरतापूर्वक स्मरण करते हैं। २५० नियम पढ़े जाते हैं और भिक्षु बनने वाला संघ के सम्मुख उनके पालने का व्रत लेता है। कुछ घण्टे पश्चात् चीनी भिक्षुओं का एक संस्कार और होता है। यह चीन की ही विशेषता है, अन्य देशों में यह नहीं होता। इस में नवागत व्यक्ति को बुद्ध के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करने का अवसर दिया जाता है। वह अपनी त्वचा जला कर कुछ छेद करता है। त्वचा में लकड़ी के छोटे छोटे टुकड़े डाल दिये जाते हैं और फिर उन्हें जला दिया जाता है। बुद्ध का नाम जपते हुए भिक्षु बनने वाला व्यक्ति वेदना सहन करने का यत्न करता है। कई कठोर नियंत्रण वाले विहारों में एक तीसरा संस्कार भी होता है। वह शाक्यमुनि के जन्मदिन पर किया जाता है। उपसम्पदा

चीनी भिक्षुओं का जीवन बहुत कठोर नहीं होता। केवल कुछ ध्यान और पूजा-पाठ ही इन्हें करना होता है। परन्तु पूजा पाठ का समय बहुत असुविधाजनक[1] होता है। जिन्-सु विहार में भिक्षु भिक्षुओं का रहन-सहन

१. भिक्षु बनने के लिये या संघ की सदस्यता प्राप्त करने के लिये, भिक्षु संघ द्वारा जो संस्कार कराया जाता है, उसे उपसम्पदा कहा जाता है।

मध्य रात्रि में उठ कर दो बजे अध्ययन करते हैं। तदनन्तर पांच बजे तक प्रार्थनायें करते हैं। पुनः पांच बजे मन्दिर में पूजार्थ इकट्ठे होते हैं। सि–यान्–विहार में रात के दो बजे ध्यान के लिये उठते हैं। पेकिङ् के एक विहार में तीन बजे उठते हैं। सिनान्–वु के विहार में चार बजे लुङ्–यान् सूत्र का पाठ होता है। किसी किसी विहार में ६ बजे पूजा होती है। इसी प्रकार अन्य कार्य्यों में भी सब विहारों में समानता नहीं है। दिन में तीन बार भोजन होता है। प्रातः छः बजे प्रातराश और सायंकाल हल्का भोजन किया जाता है। मध्याह्न के पीछे उपवास की विनय की प्रथा चीन में बहुत कम है। कुछ विशेष व्यक्ति ही विकाल भोजन न करने का व्रत पालन करते हैं। भिक्षु लोग विशुद्ध वनस्पति का भोजन करते हैं। ये भिक्षा पात्र लेकर भोजन मांगते नहीं फिरते किन्तु इन्हें विहारों की ओर से ही भोजन दिया जाता है। विहार के मध्य में एक पूजास्थान होता है। एक भिक्षु पूजास्थान में मूर्त्ति के सम्मुख भोजन धरता है और अन्य सब भिक्षु झुककर प्रणाम करते हैं। चीनी प्रथा के अनुसार भिक्षु लोग मिलकर एक ही थाली में खाना नहीं खाते परन्तु प्रत्येक को अलग अलग बर्त्तन में चावल, रसा और शाक दिया जाता है। प्रीतिभोजों के समय कई अन्य वस्तुएं भी दी जाती हैं।

किसी किसी विहार में पठन-पाठन भी होता है। सि-यान्-सु विहार में प्रतिदिन दो व्याख्यान होते हैं। तीन्-ताङ् विहार में प्रतिदिन एक एक घण्टा करके नौ वार ध्यान करना होता है। ध्यान के समय मन को खाली करके बुद्धावस्था तक पहुंचने का यत्न किया जाता है। नामु-ओमि-तोफो[1] मंत्र का जाप करते हुए

१. इसका संस्कृतरूप 'नमः अमिताभाय' है।

संसार की सब वस्तुओं से अपने आपको हटाकर शान्तचित्त से और तन्मय होकर ध्यान लगाने का यत्न किया जाता है। यदि उस समय उस व्यक्ति को मार दिया जाय तो भी उसे पता न लगेगा। उस समय आत्मा शरीर में भी रहता है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता।[1]

पूजा के समय भिक्षु लोग चटाइयों या छोटी छोटी चौकियों पर बैठते हैं। सबका मुख भवन के मध्य की ओर होता है। पूजा से पूर्व पन्द्रह मिनिट तक घण्टे, ढोल आदि बजते हैं। घण्टों की आवाज़ सुनकर भिक्षु इकट्ठे हो जाते हैं। पुजारी मन्दिर में जाकर घण्टी बजाता है। भिक्षु प्रणाम करते हैं और बुद्ध की पूजा में मंत्र बोलने लगते हैं। बीच बीच में घण्टियां बजती रहती हैं। विशेष अवसरों पर मन्दिर की परिक्रमा होती है। ख़ास ख़ास समयों पर ख़ास ख़ास तरह के वस्त्र पहने जाते हैं। मंत्रों का जाप होता है। मंत्र सूत्रग्रन्थों[2] से लिये गये हैं। इनमें से कुछ तो चीनी भाषा के हैं और कुछ संस्कृत के, जो चीनी उच्चारण में बोले जाते हैं।[3] संस्कृत मंत्रों का चीनी भाषा में अनुवाद नहीं किया जाता क्योंकि वे समझते हैं कि अनुवादक उसमें से अपने भाव निकालने की कोशिश करेगा। जीवन के प्रत्येक अवसर के लिये अलग अलग प्रार्थनायें होती हैं। भिन्न भिन्न सन्तों, आचार्यों और विहार संस्थापकों के लिये, और दैवीय विपत्तियों से मुक्ति पाने के लिये,

पूजा विधि

१. देखिये, The Pilgrimage of Budhism and A Budhist Pilgrimage By James Bisett Pratt, see 'Monks in China'

२. यद्यपि जैनियों और हिन्दुओं के भी सूत्रग्रन्थ हैं परन्तु इस ग्रन्थ में सूत्रग्रन्थ का अभिप्राय बौद्ध सूत्रग्रन्थों से समझना चाहिये।

३. देखिये, The Pilgrimrge of Budhism and A Budhist Pligrirrage, See 'Monks in China'

कष्ट के समय, रोग, मृत्यु, पाप के प्रायश्चित्त तथा सांसारिक समृद्धि के लिये पृथक् पृथक् प्रार्थनायें होती हैं। फसल के समय और बुद्ध के जन्म दिन भी प्रार्थनायें की जाती हैं। उपदेशों की प्रथा बहुत कम हो गई है। प्रातिमोक्ष का पाठ बहुधा होता रहता है। भिक्षु लोग घरों में जाकर, सड़कों पर, मन्दिरों में या तीर्थयात्रा के समय सर्वसाधारण के साथ वार्त्तालाप द्वारा धर्म का प्रचार करते हैं।

प्राचीन बौद्ध अवशेष

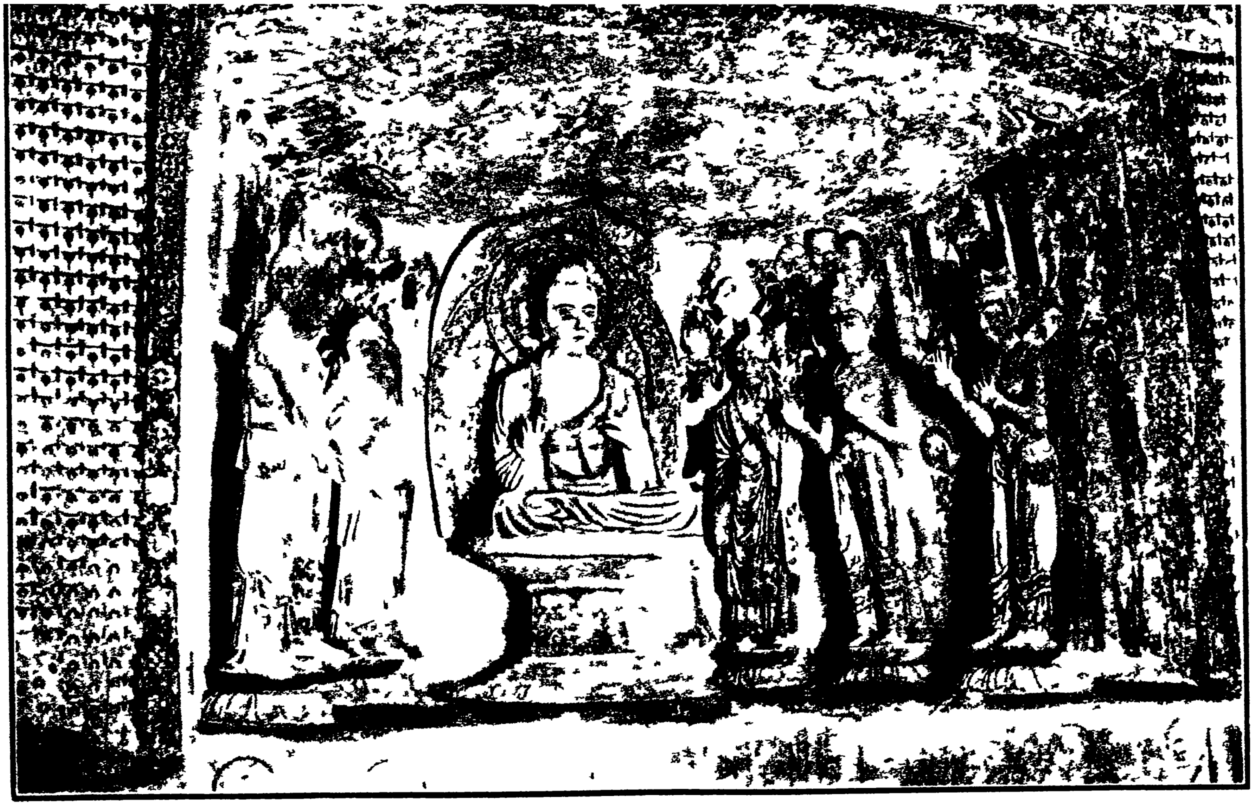
प्राचीन बौद्ध अवशेष चीन में बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं। विशेषतया पहाड़ों में बने हुए गुहामन्दिर तो बहुत ही अधिक हैं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि बौद्धविद्वेषी राजाओं के अत्याचारों से डर कर भिक्षु लोग पर्वतों में जा बसे। वहीं पर उन्होंने पत्थर काट कर मन्दिर बना लिये जिससे आक्रमण के समय उन पर किसी प्रकार की आंच न आये और नाहिं मन्दिर टूट सकें। इस प्रकार के प्राचीन गुहामन्दिर तथा अन्य विहार और मन्दिर जो चीन में वर्त्तमान समय में प्राप्त होते हैं उनमें से कुछ एक का संक्षिप्त वर्णन यहां किया जाता है।

ता-श्यान्-कु-सु विहार

यह सि-आन् नगर के यङ्-नङ् द्वार से तीन ली की दूरी पर है। इसकी स्थापना केओ-सङ् राजा की मृत्यु के १०० वें दिन ६४८ ई० में हुई थी। इस विहार में ईच्-चिङ् की अध्यक्षता में एक अनुवादकसंघ की स्थापना हुई थी। विहार के ठीक मध्य में एक १५ मञ्जिला स्तूप है। इसका नाम 'लघु-हंस-चैत्य' है। इसका नामकरण मगध के 'हंस-चैत्य' स्तूप के अनुकरण पर किया गया था।

चिङ्-लुङ्-सु विहार

यह प्रारम्भ में चाङ्-अन् नगर की सिन्-चङ् गली में विद्यमान था। इसे ५८२ ई० में काई-हुङ् ने बनवाया था। ६२१ ई० में वू-ती



चीन के सहस्र बुद्धों वाले गुहामन्दिरों में से एक का दृश्य

के समय यह गिरा दिया गया क्योंकि वू-ती आरम्भ में कन्फ्यूशस धर्म का अनुयायी था। ६२२ ई० में रानी छेङ्-याङ् ने कुआन्-यिन्-सु नाम से इसे फिर से खड़ा किया। ७०८ ई० में पुनः इसका नाम चिङ्-लुङ्-सु कर दिया गया। विहार के मध्य में संगमरमर की बनी महात्मा बुद्ध की एक मूर्त्ति है। यह मूर्त्ति थाङ्कालीन मूर्त्तिकला का सर्वश्रेष्ठ नमूना है।

यह शैंसि प्रान्त के चिङ्-मङ् नगर में विद्यमान है। इसका इतिहास अज्ञात है। बीच का भवन जो बुद्ध के लिये बनाया गया है मिङ् कालीन जान पड़ता है। विहार बहुत टूट फूट गया है। केवल एक मूर्त्ति और दो प्रस्तर स्तम्भ पूर्णावस्था में खड़े हुए, विहार के प्राचीन गौरव की याद दिला रहे हैं। यह मूर्त्ति बुद्ध भगवान् की है। मूर्त्ति का मुख बहुत सुन्दर है। दोनों स्तम्भ मुख्य भवन के पीछे खड़े हैं। थाङ् कालीन कला के ये अत्युत्तम उदाहरण हैं। हुई-का-सु विहार

उत्तरीय चीन की ताङ्-हो नदी के किनारे पर्वतों की एक पंक्ति है। यह पर्वतश्रेणी 'सहस्र बुद्ध पर्वत' के नाम से विख्यात है। पर्वत श्रेणी की सम्पूर्ण चट्टानों पर बुद्ध की मूर्त्तियां बनी हुई हैं। ये सब मूर्त्तियां प्रारम्भिक थाङ् राजाओं के समय की हैं। दक्षिण-पश्चिम से उत्तर पूर्व को फैली हुई इन मूर्त्तियों को पांच विभागों में विभक्त किया जा सकता है। सहस्र बुद्धों वाले गुहा मन्दिर

(क) सर्वप्रथम हम एक विशाल गुफ़ा पाते है। इस में मिट्टी की बनी हुई बुद्ध की मूर्त्तियां हैं। प्रथम गुफ़ा के दाईं ओर कुछ ही दूर, दूसरी गुफा है। ये दोनों अन्दर से परस्पर मिली हुई हैं। इसमें भी बुद्ध की एक मूर्त्ति स्थापित है। मूर्त्ति के दाईं ओर एक लेख खुदा हुआ है। इसमें लिखा है—"६१८ ई० में थाङ् वंशीय राजा चौ-वङ्-फू ने साम्राज्य में शान्ति स्थापित करने के लिये, तथा

सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याणहेतु अमिताभ की इस प्रतिमा को बनवाया है।[1]

(ख) इन गुफाओं के और दाईं ओर जाने पर छोटी छोटी मूर्त्तियों का समूह दिखाई देता है। ये कुल मिलाकर बुद्ध की ३४ मूर्त्तियां हैं और छोटी छोटी गुफाओं में स्थापित हैं। ये भी प्रारम्भिक थाङ् राजाओं के समय की हैं।

(ग) इन मूर्त्तियों से थोड़ी दूर दक्षिण में बुद्ध की पांच मूर्त्तियां हैं। इनमें से दो तो पूर्णकृति की हैं और शेष तीन भिन्न भिन्न आकार की हैं। इनके बिल्कुल दाईं ओर ११ छोटे छोटे मन्दिर हैं। इनमें छोटी छोटी सुन्दर मूर्त्तियां स्थापित हैं।

(घ) चौथे भाग में दो बड़े बड़े गुहा मन्दिर हैं। एक में तो बुद्ध की बैठी हुई दो विशाल मूर्त्तियां हैं। मन्दिर के अन्दर की दीवार पर बाईं ओर एक लेख खुदा हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि ये मूर्त्तियां ६४४ ई० में थाङ् वंश के समय बनाई गई थीं।[2] इस गुहामन्दिर के साथ छोटे बड़े ६६ आले बने हुए हैं। ये सबके सब बुद्धप्रतिमाओं से विभूषित हैं। दूसरा गुहामन्दिर पहिले से कुछ नीचे तथा बाईं ओर है। इसमें बुद्ध की केवल एक ही मूर्त्ति है और वह भी बैठी हुई। मूर्त्ति के बाईं ओर ६ छोटी छोटी मूर्त्तियां हैं।

(ङ) चौथे भाग के बाईं ओर पांचवां भाग है। इसमें एक विशाल गुहा मन्दिर है जो पर्वत के दक्षिण-पश्चिमी कोने पर बना हुआ है। इस मन्दिर में भगवान् बुद्ध ध्यानमुद्रा दशा में समाधिस्थ

---

१. देखिये, Budhist Monuments in China, by Daijo Tokiwa Part 1 Page 51.

२. देखिये. Budhist Monuments in China, by Daijo Tokiwa Part 1Page 51

हैं। बाईं ओर शिलालेख है। इससे पता चलता है कि इसे ६५८ई० में एक बौद्ध विद्वान् मिङ्-ती ने बनवाया था।[1]

लुङ्-तुङ् गुहा-मन्दिर

चिनान्-फु से ३० ली दक्षिण पूर्व में लुङ् तुङ विहार स्थित है विहार के मुख्यभवन का नाम लुङ्-वङ्-मिआओ है। विहार चारों ओर चट्टानी पहाड़ों से घिरा हुआ है। इसके उत्तर पश्चिम में दो गुफायें हैं जो लुङ्-तुङ् नाम से विख्यात हैं। इन में एक बड़ी और दूसरी छोटी है। बड़ी गुफा का मुख उत्तर की ओर है। इसके पूर्व और पश्चिम में एक एक द्वार है। ये द्वार गुफाओं में जाते हैं। पूर्वीय गुफा की पश्चिम दीवार पर शाक्यमुनि की खड़ी हुई मूर्त्ति है। बड़ी गुफा के बाहिर की दीवार में एक आला है। इस में शाक्यमुनि खड़े हैं। इनके दाईं ओर महाकाश्यप और मञ्जुश्री तथा बाईं ओर आनन्द और सामन्तभद्र खड़े हैं। समीप ही दो द्वारपाल स्थित हैं। यहीं से एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है। इस पर लिखा है कि ये मूर्त्तियां १३१८ ई० में बनाई गई थीं।[2] छोटी गुफा का मुख पूर्व की ओर है। उत्तरीय दीवार पर दस, और दक्षिणीय दीवार पर दो, बैठे हुए बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्त्तियां हैं। लुङ्-तुङ् के पश्चिम में दो मन्दिर हैं। इन में दो अर्हतों और दो बोधिसत्त्वों से घिरे हुए महात्मा बुद्ध बैठे हैं। बुद्ध की प्रतिमा बहुत सुन्दर है। यह 'खी' कालीन कला की प्रतिनिधि है।

युन्न-कङ् गुहायें

उत्तरीय चीन के 'वी' वंशीय राजाओं की प्राचीन राजधानी पिङ्-चेङ् थी। आजकल इसे ता-थुङ् कहा जाता है। इस से ३० ली पश्चिम में युन्न-कङ् पर्वतश्रेणी स्थित है। इस में पर्वत काट कर बहुतसी गुफायें बनाई गई हैं। बहुत समय तक इन गुफाओं का किसी को

१. देखिये Buddhist Monuments in china, Part I, Page 62.

२. देखिये, Budhist Monuments in China, Part I, Page 86.

पता नहीं चला। कारण यह था कि मङ्गोलों के आक्रमण के कारण तीर्थ यात्रियों ने यहां आना बन्द कर दिया था। तब से इसकी महत्ता इतनी कम हुई कि लोग इन्हें बिलकुल भूल गये। जब १६०२में तोकियो विश्वविद्यालय के डा० चूता–इतो ने इसका पहले पहल पता लगाया तो सारे संसार का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। इन गुफाओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम भाग पूर्व में है। इसमें चार गुफायें हैं। दूसरे में नौ और तीसरे में सात, जो पश्चिम की ओर हैं। इस प्रकार कुल बीस गुफायें हुईं। एक से चार तक पहले भाग में, पांच से तेरह तक दूसरे में और चौदह से बीस तक तीसरे में। ये गुफायें उत्तरीय चीन के वी वंशीय राजा वैन्न–चैङ् के समय थान्–याओ भिक्षु की प्रेरणा पर बननी आरम्भ हुई थीं। उसके समय केवल पांच ही बन सकी थीं। इसका उत्तरधिकारी थाई–वू बौद्धधर्म का कट्टर शत्रु था। इस लिये उस समय कोई नई गुफा नहीं बनाई गई। तदनन्तर ४५२ ई० में थान्–याओ राजा बना। यह बौद्ध था। इसके समय फिर से निर्माण–कार्य्य शुरु हुआ। इस प्रकार ये गुहामन्दिर ४६० ई० के पश्चात् तय्यार हुए।

प्रथम गुफा के मध्य में एक दोमंजिला स्तूप है। स्तूप की प्रत्येक मंजिल की सब दीवारों पर बुद्ध की मूर्त्तियां बनी हुई हैं। गुफा की बाहरी दीवार पर कई आले हैं जिनमें बुद्ध की छोटी बड़ी मूर्त्तियां रक्खी हुई हैं। गुफा के पश्चिम में दूसरी गुफा है। इसका मुख दक्षिण की ओर है। यह आयताकार है। बीच में तीन मंजिल का स्तूप है। तीनों मंजिलों की प्रत्येक दीवार में आले के बीच दो बोधिसत्त्वों से घिरे हुए महात्मा बुद्ध बैठे हैं। प्रथम मंजिल के द्वार पर शाक्यमुनि और प्रभातरत्न की मूर्त्तियां हैं। दूसरी के और पश्चिम में तीसरी गुफा है। इस में प्रविष्ट होने के दो मार्ग हैं। मार्गों के ऊपर

दो खिड़कियां हैं। पश्चिम की ओर की खिड़की में बुद्ध की प्रतिमा है। गुफा में एक प्रस्तर स्तम्भ है। इसके पश्चिम में दो बोधिसत्त्वों से घिरे महात्मा बुद्ध बैठे हैं। तीसरी गुफा के और पश्चिम में चौथी गुफा है। यह पहली तीनों से छोटी है। इसके बीच में एक आयताकार कमरा है। इसके सामने और पीछे के हिस्से में दो-दो और शेष दोनों ओर एक-एक आला बना हुआ है। इन सब में दो बोधिसत्त्वों से घिरे बुद्ध भगवान् की मूर्त्तियां हैं।

चौथी के पूर्व में पांचवी है। यह बहुत बड़ी है। इसकी आकृति कुछ कुछ अण्डाकार है। गुफा के बीच में चट्टान काटकर बुद्ध की बड़ी सी मूर्त्ति बनाई गई है। पत्थर तराश कर बनाई गई मूर्तियों में से यह चीन में सबसे बड़ी मूर्ति है। बुद्ध के दोनों ओर एक एक अर्हत भी बनाया गया है। पांचवीं के पश्चिम में छठी है। इसकी पिछली दीवार पर एक बड़ा सा आला है। इसमें बुद्ध की मूर्त्ति प्रतिष्ठित है। बीच में एक कमरा है। यह दो भागों में विभक्त है। दक्षिण में बुद्ध की बैठी हुई और पश्चिम में भूमिस्पर्शमुद्रा दशा की मूर्त्ति है। कमरे के अन्दर की दीवारों पर बोधिसत्त्वों, अर्हतों और गन्धर्वों की बहुत सी मूर्तियां बनी हुई हैं। छठी के और पश्चिम में। सातवीं है। यह आयताकार है। इसके अन्दर भी जगह जगह आले बनाकर मूर्त्तियां स्थापित की गई हैं। सातवीं के पश्चिम में आठवीं है। यह आकृति और परिमाण में सातवीं ही की तरह है। पीछे की दीवार दो भागों में विभक्त है। पीछे एक कमरा और है। इसके ठीक मध्य में दो बोधिसत्त्वों के बीच महात्मा बुद्ध बैठे हैं। दक्षिणी दीवार पर एक बड़ा सा गोला है। इसमें विष्णु और शिव की मूर्त्तियां हैं।[1] ये देखने में बहुत सुन्दर हैं। ये अपने ढंग की प्राचीन-

१. देखिये, Budhist Monuments in China, Part 11, Page 33

तम मूर्त्तियां हैं। इनकी कला मध्यभारत की कला से मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जो भारतीय पण्डित यहां से चीन गये उनमें से अधिकांश तो बौद्ध थे पर कुछ हिन्दु भी थे। वे ज्योतिष आदि कार्य्यों में राज्य की ओर से नियुक्त किये गये थे। सम्भवतः उन्हीं में से किसी ने इनकी स्थापना कराई हो। वे इन प्रतिमाओं को या तो भारत से ही अपने साथ ले गये होंगे अथवा वहीं पर बनवा कर इनकी प्रतिष्ठा करवाई होगी। आठवीं के पश्चिम में नौवीं है। इसमें दो कमरे हैं। एक सामने का और दूसरा अन्दर का। अन्दर के कमरे में कुर्सी पर बैठे हुए शाक्यमुनि की एक मूर्त्ति है। समीप ही पूर्वीय और पश्चमीय दीवार पर एक एक बोधिसत्त्वरें खड़ा है। सामने के कमरे में दो स्तम्भ हैं। इस कमरे से अन्दर के कमरे में जाने के मार्ग में पत्थर काट कर बहुत सी मूर्त्तियां बनाई गई हैं जिनसे मार्ग खूब सज गया है। पूर्व और पश्चिम की दीवादोमंजिली हैं। नीचे की मंजिल में आमने सामने दो आले हैं। इनमें बुद्ध की मूर्त्ति के ऊपर गन्धर्वियां उड़ती हुई दिखाई गई हैं। दसवीं का आकार बिल्कुल नौवीं ही की तरह है। इसमें भी सामने और अन्दर दो कमरे हैं। अन्दर के कमरे में एक वर्गाकार चबूतरे पर शाक्यमुनि हाथ में लोहे का भिक्षापात्र लिये सिंहासन पर बैठे हैं। भीतर के कमरे में रास्ते के ऊपर सुमेरू पर्वत की नकल की गई है। दसवीं के पश्चिम में ग्यारहवीं है। यह लगभग वर्गाकार है। मध्य में एक बड़ा प्रस्तर-स्तम्भ है। स्तम्भ के प्रत्येक ओर दो बोधिसत्त्वों के बीच बुद्ध की मूर्त्ति विराजमान है। चारों ओर की दीवारों पर छोटे और बड़े आले बने हुए हैं। इनमें हजारों बुद्ध प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं। पूर्वीय दीवार पर ४८३ ई० का एक शिलालेख है। इससे इस गुफा का कालनिर्णय भी हो जाता है।

ग्यारहवीं के पश्चिम में बारहवीं है। इसकी आकृति नौवीं और दसवीं ही की तरह है। एक कमरा सामने और दूसरा अन्दर है। अन्दर के कमरे में चबूतरे पर बुद्ध भगवान् कुर्सी पर बैठे हुए हैं। इन के दोनों ओर चार बोधिसत्त्व हैं। इन में से दो शेर पर सवार हैं। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की दीवारें दो दो भागों में विभक्त हैं। इन पर सैंकड़ों मूर्त्तियां बनी हैं जो कि बहुत सुन्दर कला की उदाहरण हैं। बारहवीं के पश्चिम में तेरहवीं है। इस में मैत्रेय की बहुत बड़ी मूर्त्ति है जिसमें वह वर्गाकार चबूतरे पर, एक पर दूसरी टांग रख कर बैठा हुआ है।

तीसरे भाग के बिल्कुल पूर्व में चौदहवीं है। इसमें एक अन्दर और एक सामने—दो कमरे हैं। दीवार बिल्कुल टूट-फूट गई है। पूर्व और पश्चिम की दीवारों के आले कुछ कुछ बचे हुए हैं। चौदहवीं के पश्चिम में पन्द्रहवीं है। यह वर्गाकार है। यद्यपि बाहिर की दीवार टूट गई है तो भी बुद्ध की एक हजार मूर्त्तियों के चिह्न स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते हैं। पीछे की दीवार में चट्टान काट कर एक आला बनाया गया है। इसमें बुद्ध की एक हजार मूर्तियां हैं। छत पर आले के ठीक बीच में कमल फूल बना हुआ है। पन्द्रहवीं के पश्चिम में सोलहवीं है। यह अण्डाकार है। पीछे की दीवार में कमल फूल पर बुद्ध भगवान् की मूर्त्ति पत्थर तराश कर बनाई गई है। चारों ओर भिन्न भिन्न परिमाण के आले बने हुए हैं। इनमें बुद्ध की एक हजार मूर्त्तियां विद्यमान हैं। दुर्भाग्यवश छत का बहुतस भाग टूट गया है। सोलहवीं के पश्चिम में सत्रहवीं है। यह आयताकारा है। इसके कोने गोल हैं। पीछे की दीवार के मध्य में मैत्रेय एक चबूतरे पर बैठा हुआ है। इसका मुकुट छत को छू रहा है। समीप की दीवारों पर आमने सामने बुद्धों की मूर्त्तियां बनी हुई हैं। इस

गुफा में ताई–हो के राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष का[1] एक लेख है। लेखानुसार मैत्रेय, शाक्यमुनि और प्रभातरत्न–इन तीनों की मूर्त्तियां रोगनिवृत्ति चाहने वाली एक भिक्षुकी की इच्छा से बनाई गई थीं। सत्रहवीं के पश्चिम में अट्ठारहवीं है। यह भी अण्डाकार है। बिल्कुल बीच में कमल फूल पर बुद्ध भगवान् खड़े हुए हैं। यह भारतीय कला की नकल है। समीप की दीवारों पर आमने सामने कमल पुष्पों पर बोधिसत्त्व खड़े हैं। अठारवीं के पश्चिम में उन्नीसवीं है। यह बहुत बड़ी है। इसके दोनों ओर दो छोटी छोटी गुफायें हैं जिन में दो बोधिसत्त्वों के बीच भगवान् बुद्ध आसीन हैं। बीच की गुफा में बुद्ध की एक बड़ी सी मूर्त्ति है। गुफा में घुसने के मार्ग के दोनों ओर बोधिसत्त्व खड़े हैं। उन्नीसवीं के बाद बीसवीं है। इसमें शाक्यमुनि की एक मूर्त्ति है जिसके दोनों ओर एक एक बुद्ध खड़ा है। मूर्त्ति के पश्चिम में हजारों छोटे बड़े आले जहां तहां बने हुए हैं।

लुङ्–मैन् गुहायें

उत्तरीय वी वंशीय राजाओं की पीछे की राजधानी लोयङ् थी। इससे ४० ली दक्षिण में लुङ्-मैन् गुहायें विद्यमान हैं। यहां की चट्टानें काले पत्थर की हैं। यही कारण है कि यहां पर 'वी' वंशीय राजाओं से लेकर 'थाङ्' वंश तक हजारों गुहामन्दिर बनते रहे। ये गुफायें ताई-हो के राज्याभिषेक के सत्रहवें वर्ष ४९३ ई० में बनाई गई थीं। इन गुफाओं पर इनके निर्माताओं के नाम तथ निर्माण तिथि भी खुदी हुई है। यहां कुल मिला कर २१ गुहायें हैं। इनमें से आठ तो वी वंश के समय की और शेष ग्यारह थाङ वंश के समय की है। गुफाओं में जो मूर्त्तियां हैं उनमें से कुछ मध्य-कालिक भारतीय कला की नकल हैं।[2] इसका कारण यह है कि जो चीनी यात्री पुस्तकें खोजते हुए भारत आये वे यहां से मूर्त्तियां ले गये

---

१. ४८९ ई०

२. देखिये, Budhist Monuments in China, Part II, Page 63.

स्वदेश पहुंच कर इन्होंने इसी ढंग की मूर्त्तियां वहां भी बनवाई।

होनान प्रान्त में कुङ् नगर के उत्तर-पश्चिम में तीन ली की दूरी पर शि:-खु-सु गुहायें विद्यमान हैं। यहां का पहाड़ बलुए पत्थर का है। इसी को काट काट कर गुहामन्दिर बनाये गये हैं। यहां से जो शिलालेख मिला है उससे ज्ञात होता है कि इन्हें पहले पहल उत्तरीय 'वी' वंश के राजाओं ने बनवाया था। परन्तु पूर्वीय 'वी' वंश के तथा प्रारम्भिक 'थाङ्' कालीन राजाओं के समय भी गुहाओं के अन्दर और बाहिर छोटे छोटे आले बनाये गये थे। यहां कुल मिला कर पांच गुहामन्दिर हैं। शि:-खु-सु गुहायें

इन शब्दों के साथ भारतीय इतिहास का वह उज्ज्वलतम अध्याय समाप्त होता है जब भारत के प्रवासशील प्रचारकों ने कौशेय-भूमि में जाकर भगवान् बुद्ध का पवित्र संदेश सुनाया तथा अपनी अद्भुत् और चामत्कारिक लेखनी के द्वारा चीन के इतिहास, धर्म और साहित्य को अपने हाथों बनाया। आज संसार के बड़े बड़े ऐतिहासिक चीन के जिस प्राचीन इतिहास को लिखने में हिचकिचाते हैं, इन प्रचारकों ने उस विशाल इतिहास का भी अपने शानदार कृत्यों द्वारा स्वयं निर्माण किया था। जो भाषा आज सभ्य संसार को अपनी कठिनता से भयभीत कर रही है, उसमें इन पंडितों ने न केवल कुशलता ही प्राप्त की थी प्रत्युत इन्हें उसे सीखने और उसमें आधी दर्जन पुस्तकें तक लिख डालने में केवल एक ही वर्ष लगता था। बनारस के 'गौतम प्रज्ञारुचि' को चीनी भाषा सीखने और उसमें १८ ग्रन्थ लिखने में केवल तीन ही वर्ष लगे थे। रेल, मोटर आदि किसी प्रकार की सुविधा न होने पर भी, यहां तक कि मार्ग भी सुविधाजनक न होने पर हजारों पंडित चीन पहुंचे और वहां जाकर इन्होंने अनुवादकसंघ स्थापित किये, विहारों और मन्दिरों की उपसंहार

नींव डाली, चीनियों को अपना शिष्य बनाया, उन्हें संस्कृत पढ़ाई, उनसे चीनी भाषा सीखी और फिर संस्कृतग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया। आज जो चीनी त्रिपिटक उपलब्ध होता है उसमें से अधिकांश भारतीय पण्डितों द्वारा ही अनूदित है। जब तक आर्य्यावर्त्त में हिन्दुराज्य की स्वतन्त्र पताका फहराती रही तब तक हिन्दू पण्डित चीन जाते रहे। किन्तु जब इस्लाम की आंधी ने शिक्षा-केन्द्रों को नष्ट कर दिया और भिक्षु लोग दास बनाकर कौड़ियों के मूल्य बेचे जाने लगे तो प्रचारकों की लम्बी यात्राओं ने सदा के लिये विश्राम ले लिया। संसार के इतिहास में समय समय पर विविध धर्म आविर्भूत हुए। उन धर्मों के प्रचारकों ने अपने अपने धर्म के विस्तार के लिये भिन्न भिन्न उपाय स्वीकार किये। किसी ने तलवार पकड़ी और रुधिर की नदियां बहा कर, निरपराध मनुष्यों को कौड़ियों के दाम बेचकर, कला के उत्कृष्ट नमूने तोड़-फोड़ कर, लोगों के दिलों में आतङ्क का संचार कर करोड़ों अनुयायी बना लिये। किसी ने सेवा और सभ्यता का बहाना कर देश के देश और महाद्वीप के महाद्वीप परतन्त्रता की भीषण जंजीरों से जकड़ दिये। किन्तु जो निःस्वार्थ प्रचारक मंगलमयी भारतभूमि से धर्मप्रचार के लिये निकले उनके हाथों में न तो खून की प्यासी तलवारें थीं और न वे सभ्यता के दिखाऊ झण्डे ही थे जिनकी आड़ में भयानक तोपें आग उगलने की प्रतीक्षा कर रही थीं। उनके तो एक हाथ में भिक्षापात्र था, वे प्राणीमात्र के प्रति दया की याचना करते थे, और उन के दूसरे हाथ में भगवान् के कल्याणमय उपदेशों की एक पुस्तिका थी। उनके तन पर पीतवस्त्र था जो सेवा और कल्याण का चिह्न था। इस्लाम आया और उसने संसार के सम्मुख 'इस्लाम मानो, जजिया दो, वर्ना तलवार के घाट उतर जाओ' यही तीन विकल्प प्रस्तुत किये। ईसाई आये, वे भी क्रिस्त को लेकर आये और उन्होंने

Bible, Beer तथा Bayonet (धर्मपुस्तक, मद्य तथा बन्दूक) द्वारा अपनी संस्कृति फैलाई। परन्तु जो प्रचारक इस पुण्यभूमि से निकले उन्होंने 'बहुजनहिताय, बहुजनकुशलाय, लोकानुकम्पाय' का एक अद्‌भुत तित्त्व संसार को सुनाया। संसार की अन्य संस्कृतियां दूसरों के रुधिर से फूली फलीं, परन्तु भारतीय संस्कृति ने अपने प्रसार के लिये किसी व्यक्ति का एक बूंद भी रुधिर नहीं लिया। संसार की अन्य संस्कृतियों के हाथ खून से रंगे हैं परन्तु यह भारत ही है जिसने दूसरों के लिये अपने देह का रक्त तक दे डाला। यह घटना विश्व के इतिहास में जितनी अद्‌भुत है उतनी ही सुन्दर भी है।

"मुझे संसार के साम्राज्य की इच्छा नहीं, स्वर्गसुख तथा मोक्ष को भी मैं नहीं चाहता, मैं तो परिताप-पीड़ित प्राणियों की दुःख निवृत्ति चाहता हूं।"[1] इस भावना से भरे हुए, सेवा के पवित्र व्रत से दीक्षित, प्राणिमात्र की कल्याणकामना से जलते हुए इन धर्मवीरों ने संसार का कौनसा बड़े से बड़ा संकट नहीं झेला? किस भीषण से भीषण विपत्ति को हंसते-हंसते गले नहीं लगाया? स्त्रीपुत्र, घरबार, धनधान्य, तनमन, किस प्रिय से प्रिय पदार्थ, तथा बड़े से बड़े स्वार्थ का बलिदान नहीं किया? जो महापुरुष इस यज्ञ में सफल हो गये और जिनके प्रातः स्मरणीय नाम आज भी इतिहास के पृष्ठों में अंकित हैं उनसे अतिरिक्त भी न मालूम कितनी आत्मायें उभरती जवानी में ही, सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओं को ठुकरा, मातृ-भूमि के कातर प्रेम की परवाह न कर, अपने उद्योग के मध्य में ही, धर्मप्रचार की उद्दामज्वाला को हृदय में लिये लिये पर्वतों की हिम में गल गये? कितने जराजीर्ण शरीर, तरुणोत्साह, शिशुहृदय,

---

१. न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥ महाभारत॥

धर्मप्रदीप के पतङ्गे, भूख-प्यास शीतोष्ण वातवृष्टि आदि की उपेक्षा कर, विश्व को विश्वभ्रातृत्व का सन्देश सुनाने की अतृप्त अभिलाषा के साथ अकाल में ही उन्मत्त महासागर की तुंग तरंगावली में सदा के लिये सो गये। कितने परोपकारव्रती, अपने वंश के एकमात्र सूत्रधार कुलप्रदीप अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर, संसार को प्रकाशित करने के लिये अपने गृहों को अन्धकारमय बनाकर, विकटवनों में यात्रा करते हुए बीच में ही हिंस्रपशुओं की क्षुधा को शान्त करने के लिये बोधिसत्त्व के चरण-चिह्नों पर चलते हुए प्रसन्नतापूर्वक अपने जीवन की आहुति दे गये। और तो और कितनी कुसुम-सुकुमार आजन्म कुमारियां, अपने हृदय के अन्तस्तल में भगवान् बुद्ध की धर्मप्रेरणा को अनुभव कर, कोमलता, सुखाभिलाष और विलासजीवन को तिलाञ्जलि दे, तलवार की धार पर चलती हुई, सेवा की वेदी पर अपने को न्यौछावर करने से पूर्व ही उद्दाम दावानल की ज्वालाओं में भस्मीभूत, पवन में विकीर्ण-अस्फुटित-यौवना कुसुम-कलिका के परागपुञ्ज की तरह विलीन हो गईं। उनके नाम, उनकी स्मृतियां और उनके अवशेष आज कहां हैं? उन्हें आज कौन जानता है? न मालूम कितने अविज्ञात कुमारजीव, अप्रसिद्ध बोधिरुचि और अविदित जिनगुप्त अपूर्ण संकल्पों की प्रचण्ड अग्नि को अपनी हृदय-गुहाओं में दबाये हुए प्रशान्त ज्वालामुखियों की तरह विस्मृति के अञ्चल में मुंह छिपाये पड़े हैं? मन्दिर की नींव में लगे हुए अदृश्यप्रस्तर, जिन पर हमारी पूजा के पुष्प कभी नहीं चढ़ते, अधिक सन्मान के पात्र हैं।

पञ्चम-संक्रान्ति

जापान, बौद्धधर्म के पथ पर

पञ्चम-संक्रान्ति

जापान, बौद्धधर्म के पथ पर

कोरिया और जापान में अरुणोदय—बौद्धप्रचारक कोरिया के द्वार पर, जापान नवीन धर्म की प्रतीक्षा में, प्रथम प्रयास, द्वितीय प्रयास, बौद्धधर्म राष्ट्रधर्म के रूप में। नाराकाल में बौद्धधर्म—जापान की प्रथम स्थायी राजधानी, बौद्धप्रचारकों की कार्य्यशीलता नारायुग की देन। ही-अन युग में बौद्धधर्म—राजधानी परिवर्त्तन, महात्मा साईचो और उनका कार्य्य, महात्मा कोकेई, धार्मिक संस्थाओं का पतन। फ्यूजिवारा युग। कामाकुरा काल—राजधानी परिवर्त्तन, होजो परिवार का एकाधिकार, मंगोलों का आक्रमण, राजसत्ता का उत्थान, महात्माओं का आविर्भाव, होनेन् का अमित सम्प्रदाय, शिन्रन् का शिन् सम्प्रदाय, सत्य का पुजारी निचिरेन्, दोजेन् का जेन् सम्प्रदाय। राजनीतिक संघर्ष और धार्मिक उन्माद—राजनीतिक उथल-पुथल, धार्मिक-उन्माद, अशिकागा शोगुन्स। तोकुगावा शोगुन्स—नोबुनागा, हिदयोशि, इयसु, धार्मिक दशा। मेईजी युग—मेईजी, बौद्धधर्म का पुनरुत्थान, जापानी भिक्षु, बौद्धमन्दिर, उपसंहार।

कोरिया और जापान में अरुणोदय

ईसवी सन् के आरम्भ से ही चीन में बौद्धशिक्षायें प्रचलित होने लग गई थीं। चतुर्थ शताब्दी तक वहां बौद्धधर्म पर्याप्त शक्तिशाली बन गया। इस समय भिक्षु लोग भगवान् का सत्य संदेश सुनाने के लिये चीन की सीमाओं को पार कर पड़ोसी राज्यों में जाने लगे। ३७२ ई० के एक शुभ मुहूर्त में 'सुन्-दो' नामक भिक्षु चीन के विस्तृत प्रदेश को लांघता हुआ मूर्त्तियों और सूत्रग्रन्थों के

बौद्ध प्रचारक कोरिया के द्वार पर

साथ सी–नान्–फू से को–गुर्–यू पहुंचा। इस समय कोरिया तीन स्वतंत्र राज्यों में बंटा हुआ था।

(१) उत्तर में को–गुर्–यू का राज्य था
(२) दक्षिण-पश्चिम में पाक्चि और
(३) दक्षिण-पूर्व में सिल्ला[1]

को–गुर्–यू को ही सुन्–दो ने पहले पहल बौद्धधर्म के सौरभ से सुरभित किया था। इसका प्रभाव इतनी तीव्रता से फैला कि केवल पांच ही वर्ष में कोरिया की राजधानी[2] में दो विहार बन गये। इन विहारों में मंदिरों के साथ साथ विद्यालय भी थे। इनमें शिक्षा प्राप्त कर प्रचारक लोग अन्य स्थानों में विचरने लगे। प्रचार कार्य्य इतनी कुशलता से हो रहा था कि कुछ ही वर्षों में को-गुर्-यू का राष्ट्रधर्म, बौद्धधर्म हो गया। ३८४ ई० में मसनद नामक एक भिक्षु पूर्वीय चीन से पाक्चि पहुंचा। इसने भी बड़ी उत्तमता से कार्य्य किया। शीघ्र ही यहां का राजा भी बौद्धधर्म में प्रविष्ट हुआ। कोरिया के तीनों राज्यों में सबसे उत्साही बौद्धराजा पाक्चि के थे। यहीं के शासक सिमाई ने ५५२ ई० में जापानी सम्राट् किम्माई की सेवा में धर्मप्रचारक भेजे थे। इस प्रकार कोरिया, जापान में बौद्धधर्म के प्रचार के लिये माध्यम बना और जापानी कला तथा धर्म के विकास में कोरिया ने खूब हाथ बंटाया। कोरिया के दो राज्य बौद्ध बन चुके थे परन्तु सिल्ला अभी अछूता था। क्योंकि यह चीन से अधिक दूर था अतः यहां धर्मप्रचार में अधिक समय लगा। ४२४ ई० में कोर्–गुर्–यू से कुछ प्रचारक सिल्ला पहुंचे। इनके प्रयत्न से यहां का राजधर्म भी बौद्धधर्म हो गया। अन्य देशों की अपेक्षा कोरिया

---

१. इन राज्यों को जापानी लोग क्रमशः कोमा, कुदारा और शिरगी—इन नामों से पुकारते हैं।

२. वर्त्तमान पिङ्–याङ्

में बौद्धधर्म को राष्ट्रधर्म बनते कम समय लगा। सिल्ला का राजा शेष दोनों राज्यों को जीतकर सारे देश को एक संगठन के नीचे ले आया। इस समय कोरिया संसार के सभ्य और उन्नत देशों में गिना जाता था। धर्म के साथ साथ व्यापार का भी यह केन्द्र था। भारत, तिब्बत और ईरान के व्यापारी इसके बाज़ारों में व्यापार करते थे। कोरिया के भग्नावशेष आज भी अतीतकालीन बौद्ध राजाओं की महिमा का स्मरण कराते हैं।

जापान नवीन धर्म की प्रतीक्षा में

चीन शाक्यमुनि का अनुगामी बन चुका था। चीन का पड़ौसी कोरिया भी बुद्ध की शरण में आ चुका था। अब प्रशान्त महासागर में केवल एक ही द्वीपसमूह शेष था जहां बुद्ध की शिक्षाओं का सौरभ अभी तक न पहुंचा था। इस द्वीपसमूह का नाम जापान है। किन्तु यह भी समय के प्रभाव से न बच सका। चीन के पड़ौस में रहना तथा कोरिया पर अधिकार स्थापित करना ही इसका सबसे बड़ा कारण हुआ। २०२ ई० में जापानी सेनाओं ने कोरिया को अपने आधीन कर लिया और इसके पश्चात् कई शताब्दी तक यह जापान के ही आधीन रहा। बस, इसी समय से जापान पर कोरिया का प्रभाव पड़ने लगा। इस प्रभाव के परिणामस्वरूप जापान में बौद्धधर्म प्रविष्ट हुआ।

बौद्धधर्म से पूर्व जापान में शिन्तो धर्म[१] का प्रचार था। लोग विविध देवी-देवताओं की पूजा करते थे। प्रकृति और पूर्वजों की पूजा जिस प्रकार संसार की अन्य जातियों में प्रचलित थी वैसी ही इन में भी थी। इस धर्म को मानने वाले जापान को 'देवभूमि'

---

१. 'शिन्तो' यह एक चीनी शब्द है जिसका अर्थ है—'देवमार्ग'। यह नाम चीनीयों ने तब रक्खा था जब दोनों देश का परस्पर सम्बन्ध स्थापित हुआ था।

नाम से पुकारते थे; और प्रत्येक पर्वत, नदी, चट्टान, वृक्ष और मेघ का एक एक देव मानते थे। परन्तु शिन्तो धर्म में कई विचार अत्यन्त लड़कपन के थे। वे मनुष्य की अध्यात्मिक पिपासा को शान्त न कर सकते थे। ऐसी दशा में जापान किसी नये धर्म को ग्रहण करने के लिए पहिले से ही उत्सुक था। उसकी यह प्यास बौद्धधर्म से बुझ गई। इस प्रकार जापान में बौद्धधर्म केवल नवीनता के कारण ही सफल नहीं हुआ अपितु उसकी सफलता का मुख्य कारण जनता की पूर्व तय्यारी थी।

प्रथम प्रयास

ऊपर कहा जा चुका है कि जापान में बौद्धधर्म कोरिया से आया था। इसके लिये सर्वप्रथम प्रयास ५२२ ई० में किया गया। शिबा-तात्सु नामक एक भिक्षु पूर्वीय चीन से कोरिया गया और वहां से जापान के लिये रवाना हुआ। इसने जापान के दाक्षिणीय तट पर फूस की एक झोंपड़ी में बुद्धमूर्त्ति स्थापित की और बौद्धधर्म फैलाने का यत्न किया। परन्तु जिन लोगों में उसने कार्य्य किया वे उसके अभिप्राय को न समझ सके। परिणामतः कोई भी व्यक्ति उसके धर्म में दीक्षित न हुआ।

द्वितीय प्रयास

इस घटना के पश्चात् तीस वर्ष तक बौद्धधर्म के उद्धारार्थ कोई प्रयत्न नहीं हुआ। तीस वर्ष उपरान्त ५५२ ई० दूसरी वार में यत्न किया गया। यह उद्योग ख़ास कोरिया से ही हुआ। कुदारा के राजा सिमाई ने बुद्ध की स्वर्णमयी तथा ताम्रमयी प्रतिमा, धार्मिक ग्रन्थ, पवित्र झण्डे और एक पत्र भिक्षुओं के हाथ देकर जापानी सम्राट् किम्माई की सेवा में भेजा। पत्र में बौद्धधर्म की महत्ता का वर्णन किया गया था। उस में लिखा था—"बौद्धधर्म सब धर्मों से श्रेष्ठ है। यह सत्य है कि इसका पूर्ण अनुयायी बनना तथा पूर्ण पण्डित होना बहुत कठिन है। यह इतना कठिन है कि चीन के बड़े बड़े महात्मा भी इसे सुगमता से नहीं समझ सकते। तो भी यह निश्चित

है कि इसकी शिक्षायें सब धर्मों से उत्कृष्ट हैं। राजन्! इसका पालन करने वाले अनन्त और असंख्य फलों के भागी होते हैं। यहां तक कि उन्हें पूर्ण बुद्धत्व की भी प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार चिन्तामणि के विषय में कहा जाता है कि उस से मुंहमांगा फल मिलता है उसी प्रकार बुद्ध में आस्था रखने वाले पूर्णकाम हो जाते हैं। हमारे देश में यह धर्म भारत से आया है। भारत यहां से बहुत दूर है। हमारे देश से भारत तक के मध्यवर्ती सब देश बुद्ध की शरण में आने का सौभाग्य लाभ कर चुके हैं।"[१] इन उपहारों को पाकर जापानी सम्राट् बहुत प्रसन्न हुआ। उसने दूतों से कहा—"मैंने ऐसी उत्कृष्ट शिक्षायें कभी नहीं सुनीं। तो भी मैं अकेला इस बात का निर्णय नहीं कर सकता कि मुझे यह धर्म स्वीकार करना चाहिये अथवा नहीं।"[२] राजा ने यह विषय अपने सामन्तों के सम्मुख उपस्थित किया। उन में दो पक्ष हो गये। एक उन्हें वापिस लौटाने को कहता था और दूसरा रखने को। नाकातोमी और मोनोनोब परिवार लौटाने के प्रबल समर्थक थे। इन दोनों के विरुद्ध अकेला सोगा परिवार था जो स्वीकार करने पर बल दे रहा था। विरोधी कहते थे—"हमारे अपने देवता हैं। उनके होते हुए हम दूसरे देवताओं को कैसे अपना सकते हैं? यदि हमने पराये देवताओं को अपनाया तो हमारा देवता–कामि–कुपित हो जायेगा और उसकी क्रोधाग्नि में हम सब भस्म हो जायेंगे।" परन्तु सोगा ने कहा—"अन्य देशों के भी अपने देवता थे। जब उन्होंने इसे अपना लिया है तो हमें ही क्या बाधा है?" वादविवाद को समाप्त

---

१. देखिए, History of Japanese budhism by Masaharu Anesaki, Page 52.

२. देखिए, Studies in Japanese Budhism by August karl Reischauer, Page 81.

करने के लिये मूर्त्तियां सोगा परिवार को सौंप दी गई। उसे इस बात का अवसर दिया गया कि वह नये देवता की पूजा करके देखे। सोगा ने मूर्त्तियां अपने घर में स्थापित कर निवासस्थान को पूजा-स्थान में परिवर्तित कर दिया। परन्तु शीघ्र ही देश में भयंकर रोग फूट उठा और लोग मरने लगे। इस अवस्था में विरोधी लोगों ने कहना आरम्भ किया–'कामि' कुपित हो गया है। उसी का यह परिणाम है। जनता की भीड़ने मन्दिर जला दिया और मूर्त्तियां उठा कर नहर में फेंक दीं। अब बुद्ध को भी अपना प्रभाव दिखाना आवश्यक था। कहा जाता है कि इसी समय निरभ्र व्योम में भाँति भाँति की बिजलियां चमकने लगीं। बिजली की एक कड़क के साथ राजप्रासाद भस्म हो गया। डर कर लोगों ने मूर्त्ति को नहर से बाहर निकाला और फिर से उसे एक मन्दिर में स्थापित किया। जापानी सम्राट् ने कुदारा के राजा को सन्देश भेजा—"कृपा कर ऐसी मूर्त्तियां आगे को न भेजें। इस प्रकार दूसरा प्रयत्न भी सफल न हुआ।"

बौद्धधर्म राष्ट्र-धर्म के रूप में

किम्माई की आज्ञा के पश्चात् भी भिक्षु और भिक्षुकियां हाथों में मूर्त्तियां, पुस्तकें और पवित्र धातु लेकर जापान पहुँचती रहीं। इस समय जो प्रचारक जापान गये उनमें से एक भारतीय पण्डित भी था जिसका नाम 'होदो' था।[1] अब जनसाधारण में नवीन धर्म का प्रचार होने लगा और शीघ्र ही जापान में बौद्धधर्म की दृढ़ नींव हो गई। इस नये धर्म की ओर जापानी स्त्रियां भी बहुत आकृष्ट हुई। यही कारण है कि ५७७ ई० में कुदारा के राजा ने एक भिक्षुकी जापान भेजी। ५८४ ई० में बहुत सी स्त्रियों ने संघ में प्रवेश किया। ५८८ ई० में कुछ जापानी भिक्षुकियां शिक्षा प्राप्त करने कोरिया गईं। ५९० ई० में ये अध्ययन समाप्त कर 'विनय' की बहुत सी प्रतियों के

---

१. देखिए, What japan owes India by Takakusa, Page 74-75.

साथ वापस आई। स्वदेश लौटने पर इनका बहुत स्वागत हुआ। छठी शताब्दी का अन्त होने से पूर्व जापान में बौद्धधर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। इस समय चीन में बौद्धधर्म अपनी उच्चतम दशा में था। उत्तर में 'वी' और दक्षिण में 'लेङ्' वंश शासन कर रहे थे और जापान की शासिका सुईको[1] नाम की सम्राज्ञी थी। शो-तो-कु-ताईशी इसका उपराज था। यह सम्राज्ञी का भतीजा था। उपराज बनने के समय इसकी आयु केवल १६ वर्ष थी। इसने कुल ३० वर्ष शासन किया।[2] इसका शासनकाल जापान के इतिहास में युगनिर्माण का समय समझा जाता है। यह और सम्राज्ञी, दोनों बौद्धधर्म के पक्षपातीथे। यही कारण है कि इस समय बौद्धधर्म की खूब अभिवृद्धि हुई। शो-तो-कु इस बात को जानता था कि बौद्धधर्म के कारण ही कोरियन लोग सभ्य बने हैं, यदि हमारे देश में भी इसका प्रचार होगा तो हम भी सभ्य हो जायेंगे। इतिहास साक्षी है कि इसका यह विचार सत्य सिद्ध हुआ। बौद्धधर्म का प्रवेश होते ही जापान में कला, साहित्य और सभ्यता की उन्नति आरम्भ हुई। बौद्ध संस्कृति के सम्पर्क से असभ्य और अशिक्षित जापान थोड़े ही समय में सुसंस्कृत और कलाविज्ञ बन गया। इसी कारण शो-तो-कु जापान में सभ्यता का संस्थापक माना जाता है और आज दिन भी जापानी लोग बौद्धधर्म को सामाजिक संगठन का स्तम्भ मान कर पूजते हैं। जापान का यही प्रथम सम्राट् था जिसने आम घोषणा करके बौद्धधर्म को राष्ट्रधर्म बनाया था। समुद्र तट पर ओसाका[3] नामक स्थान पर एक विशाल बौद्धमन्दिर बनाया

१. इसका शासनकाल ५९३ से ६२८ तक है।

२. ५९३ से ६२२ तक।

३. ओसाका का अर्थ है—ओ = महान्, साका = शाक्य = बुद्ध = महान् बुद्ध।

गया। इसका एक द्वार पश्चिम में समुद्र की ओर और दूसरा दक्षिण की ओर था। मन्दिर बना कर शो-तो-कु ने यह प्रकट किया कि दूसरे देशों से आने वाले भिक्षु और प्रचारकों का मेरे देश में स्वागत होगा। उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न उठाना पड़ेगा। मंदिर के साथ एक शिक्षणालय था जिसमें बौद्ध साहित्य के शिक्षण का प्रबन्ध था। ६०७ ई० में शो-तो-कु ने एक दूतमण्डल चीनी दरबार में भेजा। दूत भेजने का उद्देश्य बौद्धधर्म के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करना था। जो पत्र जापानी सम्राट् ने चीनी सम्राट् की सेवा में भेजा था उसके प्रारम्भिक शब्द ये थे—"सूर्य्योदय देश का शासक सूर्यास्त देश के शासक के पास अपना संदेश भेजता है।"[१] समानता का सम्बोधन न पाकर चीनी सम्राट् बहुत कुपित हुआ। उसने भी संदेश देकर एक दूत जापानी सम्राट् के पास भेजा। संदेश के प्रारम्भिक शब्द थे—"चीन का सम्राट् यामता के राजकुमार को कहता है।" तदनन्तर जापानी दूत-मण्डल पुनः चीन गया। अबकी वार समानता का सम्बोधन किया गया था और कहा गया था—"पूर्व का दिव्य शासक पश्चिम के सम्राट् से निवेदन करता है।" इस पर पारस्परिक मनोमालिन्य मिट गया। दूत-मण्डलके साथ बहुत से विद्यार्थी और भिक्षु भी चीन गये थे। इन्होंने वहां रह कर धर्म, विज्ञान आदि की शिक्षा प्राप्त की और स्वदेश लौट कर प्रचार कार्य्य में हाथ बंटाया। जापानियों के अतिरिक्त बहुत से चीनी और कोरियन भिक्षु भी प्रचारार्थ जापान बुलाये गये। अनेक भव्य मंदिरों का निर्माण हुआ। इनमें सबसे प्रसिद्ध 'होरयूजि' है। राजदरबार और शाही इमारतों में बौद्ध संस्कारों और उत्सवों का आयोजन किया गया। धार्मिक पुस्तकों की प्रति-

---

१. देखिये, History of Japanese Budhism, Page 58.

लीपियां करा कर जनता में वितीर्ण कराई गई। शो-तो-कु अपने आचार में भारतीय सम्राट् अशोक से बहुत मिलता था। शिक्षा द्वारा, दुर्भिक्ष में अन्न वितरण कर, महामारी में बिना मूल्य औषध बांट कर, नानाप्रकार से उसने धर्मप्रचार किया। यह उपदेष्टा भी अच्छा था। ६०६ ई० में इसने ननिवा स्थित राजप्रासाद में 'सद्धर्म पुण्डरीक' और 'विमलकीर्ति निर्देश' इन दो सूत्रों पर व्याख्यान दिये। ६२२ ई० में शो-तो-कु की मृत्यु हो गई। मृत्यु के समय जापान में सैंकड़ों मंदिर, भिक्षु तथा भिक्षुकियां विद्यमान थीं। ठीक इसी समय जब जापान में सूर्य्य अस्त हो रहा था अरब में वह उदयोन्मुख था। हज़रत मुहम्मद मक्का से भाग मदीना पहुंचे थे और एकेश्वरवाद का प्रचार कर रहे थे।

नाराकाल में बौद्धधर्म
(७१० से ७६४ तक)

जापान की प्रथम स्थायी राजधानी

शो-तो-कु के पश्चात् जापान में राष्ट्रिय एकता ज़ोर पकडने लगी और यह विचार प्रबल होता गया कि जापान की कोई स्थिर राजधानी बनाई जाये। अब तक जापान की कोई स्थायी राजधानी न थी। वह सदा बदलती रहती थी। ७१० ई० में शो-मु ने स्थिररूप से अपनी राजधानी बनाई। इस नये नगर का नाम नारा[1] रक्खा गया। यही जापान की सर्वप्रथम स्थायी राजधानी थी। ७६४ ई० तक जापानी सरकार का केन्द्र यही रहा। राजधानी के तीन ओर पर्वत थे, और दक्षिण की ओर खुला मैदान था। दो नदियां अपने जल से इस नगर का प्रक्षालन करती थीं। नगर के बीच में एक मंदिर था। इसका नाम आगे चल कर तो-दाइजी पड़ा। मंदिर में शाक्यमुनि की कमलपुष्प पर स्थित एक पित्तल-प्रतिमा

---

१. नारा का अभिप्राय है—'शान्तिधाम'।

है, इसके ऊपर सोना मढ़ा हुआ है। मूर्त्ति के चारों ओर बुद्धों और महात्माओं की छोटी छोटी मूर्त्तियां बनी हुई हैं। मुख्य मंदिर के चारों ओर छोटे छोटे चैत्य और भवन बने हुए हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से मंदिर बनाये गये।

बौद्ध प्रचारकों की कार्यशीलता

ऐसी परिस्थिति में अनेक योग्य विद्वान् और कार्यकर्ता जापान में प्रगट हुए। 'ग्योगि' नामक एक कोरियन भिक्षु जापान गया, वहां बस गया और बौद्धधर्म का प्रचार करने लगा।[1] ७३६ ई० में बुद्धसेन नामक ब्राह्मण हिन्दचीन और चीन से बहुत से भिक्षु तथा गायकों के साथ जापान पहुंचा। इसने ७६० ई० तक प्रचार किया। ७४६ ई० में एक अन्य भिक्षु र्‍योबेन[2] ने राजा शो-मु की आज्ञा से नारा के तो-दाइजी मन्दिर में बुद्ध की ५३ फीट ऊंची प्रतिमा स्थापित की। यह प्रचारक के अतिरिक्त उत्तम कलाकार भी था। ७५४ ई० में कन्-शिन् अथवा गन्-जिन् नामक चीनी भिक्षु प्रचारार्थ जापान गया। इसने विहारों में अनुशासन स्थापित किया और धर्मार्थ आयोजन किये। अपनी मृत्यु के समय इसकी गणना देश के प्रमुख प्राप्त महात्माओं में की जाती थी। विदेशी कार्य्यकर्ताओं के अतिरिक्त जापानी प्रचारक भी इस दिशा में प्रयत्नवान् थे। इनमें से 'गियन्' का नाम उल्लेखनीय है। यह जापान का महान् बौद्ध दार्शनिक था। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे लोग थे जो जंगलों में प्रचार करते थे और जिन्होंने पर्वतों पर पवित्र स्थान बनाये थे। इनमें ताइ-चो[3] और शा-दो[4] प्रमुख थे। इनकी कार्य्यशैली ऐसी उत्तम थी कि लोग इन्हें आश्चर्यजनक कार्य्यकर्ता कहते थे।

---

१. इसका काल ६७० से ७४९ तक है।

२. इसका काल ६८९ से ७७३ तक है।

३. इसका काल ६२२ से ७६७ तक है।

४. इसका काल आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

नारायुग की देन

नारायुग में जापान ने बहुत उन्नतिं की। इस उन्नति का श्रेय बौद्धधर्म को है। बौद्धधर्म अपने साथ केवल भारतीय दर्शन को ही नहीं लाया अपितु चीनी और भारतीय वास्तुकला को भी। इस समय जापान में बड़े बड़े मन्दिर और मूर्त्तियां गढ़ी गईं। ७४६ ई० में संसार की महत्तम पित्तल प्रतिमा 'नारा-दाए-बुत्सु' की रचना हुई। यह ५३ फीट ऊंची है। इसके बनने में ६६६ पौंड सोना, १६८२७ पौंड टिन, १६५४ पौंड पारा, ८८६१८० पौंड ताम्बा और सीसा लगा। तेरह फीट ऊंचा प्रसिद्ध 'तो-दाइजी' घंटा जिसका भार चालीस टन है, वह भी इसी काल में बना। इस काल की मूर्त्तियों पर भारतीय कला की झलक स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। नारा के चूगूजि मन्दिर में स्थापित मैत्रेय की मूर्त्ति पर स्पष्टतया गुप्तकला का प्रभाव है। याकुशिजि मंदिर की मूर्त्तियों पर गान्धार-कला का और होर्यूजि के भित्ति-चित्रों पर अजन्ता के भित्ती-चित्रों का प्रभाव है। चित्रों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह भारतीय हाथ की कारीगरी है। इनकी कलापद्धति, मनोदशा और भावभंगी में अजन्ता गुहा के चित्रों की झलक है।[1] यह काल केवल जापान में ही कला की उन्नति का न था प्रत्युत संसार भर में इस समय बौद्धकला ऊंचाई के शिखर पर आरूढ़ थी। एक ओर जहां जापान में भव्य मन्दिर और मूर्त्तियां बन रही थीं, दूसरी ओर चीन में थाङ् वंश के नेतृत्त्व में पहाड़ काट कर 'सहस्र बुद्धों वाले गुहामन्दिरों' का निर्माण हो रहा था। लगभग इसी समय भारतवर्ष

---

१. विस्तृत ज्ञान के लिये The Civilization of the East, Vol IV by Rene grousset के चित्र १६ से २३ तक देखिये और इसी ग्रन्थ के Vol III के चित्र ४३ से ४७ तक देखिये। इसमें होर्यूजि और अजन्ता, दोनों के चित्र दिखा कर बताया गया है कि दोनों के बोधिसत्त्व के चित्रों में किस प्रकार समानता है।

में अजन्ता की दीवारों पर पत्थर तराश कर जातक कथायें चित्रों में लिखी जा रही थीं।

कला के अतिरिक्त कविता की दृष्टि से भी नारायुग जापान का सुवर्णकाल माना जाता है। इस समय जापान में अनेक उत्कृष्ट कवि उत्पन्न हुए। बौद्धधर्म का भी इस युग में बड़ा प्रसार हुआ। जापान में बौद्धधर्म को प्रविष्ट हुए अब अढ़ाई सौ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इस समय जनता पर इसका पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता था। लोगों की मानसिक दृष्टि व्यापक बन गई थी। आध्यात्मिक योग्यता उन्नत हो गई थी। प्रकृति प्रेम बढ़ गया था। सौन्दर्य भावना में शुद्धता का समावेश हो चुका था। राष्ट्रियता में प्रगति आ रही थी। राजधानी स्थायी होने से सरकारी संगठन केन्द्रित हो गया था। प्रान्तों में सांस्कृतिक कार्य्य बड़ी शीघ्रता से हो रहा था। आर्थिक अवस्था उन्नति पर थी। स्थान स्थान पर विद्यालय खुल रहे थे। संक्षेप में, जापान अर्धसभ्य दशा से उठ कर, बड़ी तेजी से सभ्य राष्ट्र बन रहा था। इस चतुर्मुखी उन्नति का श्रेय एकमात्र बौद्धधर्म को है। क्योंकि इसी के आगमन से ये सब परिवर्त्तन हो रहे थे। एक लेखक ने ठीक ही लिखा है—"बौद्धधर्म ने जापान में कला, वैद्यक, कविता, संस्कृति तथा सभ्यता को प्रविष्ट किया। सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक, प्रत्येक क्षेत्र में बौद्धधर्म अपना प्रभाव दिखा रहा था। एक प्रकार से बौद्धधर्म जापान का शिक्षक था जिसकी निगरानी में जापानी राष्ट्र उन्नति कर रहा था।"[1]

ही-अन युग में बौद्धधर्म

(७९४ से ८८९ तक)

राजधानी परिवर्तन

७८२ ई० में कम्मु जापान का शासक बना। यह अपने वंश के राजाओं में अत्यन्त साहसी और प्रतिभासम्पन्न था। इसका

१. देखिये, Studies in Japanese Budhism, Page 100

शासन जापान में नवीन युग का प्रवर्त्तक सिद्ध हुआ। ७६४ ई० में कम्मु ने राजधानी का परिवर्त्तन कर डाला। राजधानी-परिवर्त्तन करने का उद्देश्य राजनीति को भिक्षुओं के प्रभाव से बचाना था। यद्यपि नारा के भिक्षुओं ने इसका तीव्र विरोध किया तथापि कम्मु ने उनकी परवाह न की। नारा से राजधानी उठ जाने पर राजनीति धार्मिक संस्थाओं के प्रभाव से मुक्त हो गई। जिस स्थान पर नवीन राजधानी बनाई गई उसे आजकल क्योतो कहा जाता है। परन्तु इसका प्राचीन नाम ही-अन है। इसी से इस युग का नाम भी ही-अन[1] है।

इस समय धर्म की दशा बहुत बिगड़ी हुई थी। इसमें सुधार की नितान्त आवश्यकता थी। इन दिनों जापान में दो महापुरुष प्रकट हुए। यद्यपि ये दोनों स्वभाव में भिन्न थे परन्तु इनका उद्देश्य एक था, और वह यह कि जापान की बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रित किया जाये। इनका उद्देश्य सरकारी सहयोग से चीनी बौद्धधर्म के आधार पर जापानी बौद्धधर्म का स्वरूप-निर्माण करना था। आगामी शताब्दियों के सामाजिक और धार्मिक जीवन पर इन आचार्य्यों की शिक्षाओं का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इनके नाम साईचो और कोकेई थे।

महात्मा साईचो और उनका कार्य

७६७ ई० में ही-एई पर्वत के चरणों में एक ज्योतिर्मय शिशु का आविर्भाव हुआ। इसका नाम धन-ग्यो-ताईशी था। इन्हीं का दूसरा नाम साईचो भी है। ज्यों ज्यों ये बड़े हुए, धार्मिक विषयों में इनकी बुद्धि खुलती गई और संसार के बिलासमय जीवन से इन्हें वैराग्य हो गया। बचपन में ही इन्होंने भिक्षु-जीवन स्वीकार किया। ७८५ ई० में ये अध्ययनार्थ नारा चले गये। यद्यपि उस

१. ही-अन का अर्थ है—'शान्ति'।

समय ये केवल अठारह ही वर्ष के थे तो भी ध्यान में बैठा करते थे और बौद्धधर्म की दुरवस्था को सोच दुःखी होते थे। इन्हें संघ का नौकरशाही शासन इतना बुरा प्रतीत होता था कि ये नारा छोड़ पहाड़ों की शान्ति में समाधि लगाने को बाधित हुए। यहां इन्होंने अपने कुछ अनुयायी बनाये और तीन वर्ष पश्चात् एक छोटा सा विहार भी खड़ा कर लिया। यह विहार आगे चल कर ही-एई पर्वत की संस्था के नाम से विख्यात हुआ। इसी समय नारा से राजधानी उठाने का विचार उत्पन्न हुआ। नारा के भिक्षुओं ने राजधानी नारा में ही रखने का आग्रह किया। परन्तु कम्मु की इच्छा ही-अन को बनाने की थी। साईचो ने राजा का पक्ष लिया। इस आन्दोलन में साईचो सफल हुए। सरकार की ओर से साईचो के विहार को बहुत सा दान प्राप्त हुआ। ७९४ ई० में जब राजधानी का परिवर्त्तन हुआ तो राजा ने साईचो को सामूहिक प्रार्थना के लिये आमन्त्रित किया। राजा ने उनसे 'सद्धर्म पुण्डरीक' सूत्र का उपदेश करने की भी प्रार्थना की परन्तु साईचो ने अपना ज्ञान अपर्याप्त बताते हुए अधिक अध्ययन के लिये चीन जाने की इच्छा प्रकट की। ८०४ ई० में राज्य की ओर से साईचो चीन भेजे गये। एक वर्ष बाद तैन्दाई सम्प्रदाय का ज्ञान प्राप्त कर साईचो जापान लौट आये। अब ही-एई विहार का महत्त्व इतना बढ़ गया कि धार्मिक परम्परा का यह प्रधान केन्द्र माना जाने लगा। नैतिक जीवन और योग को ही पूर्णता का साधन मानते हुए साईचो ने ही-एई पर्वत पर समाधि-भवन स्थापित करने का संकल्प किया। ८१८ ई० में जब इन्होंने सरकार से इसकी स्वीकृति मांगी तो नारा के भिक्षुओं ने इसका तीव्र विरोध किया। इन्होंने उनकी युक्तियों का खण्डन किया परन्तु इससे विरोध और भी बढ़ गया। साईचो के अन्तिम वर्ष शास्त्रार्थों में ही व्यतीत हुए। इससे इनका स्वास्थ्य खराब हो गया और ८२२ ई०

में ये परलोकवासी हुए। परन्तु इनके शास्त्रार्थ व्यर्थ न गये। मृत्यु-द्वारा जब शारीरिक प्रयत्न समाप्त हो गये तो एक ही सप्ताह पश्चात् सरकार ने भवन निर्माण की आज्ञा दे दी। यद्यपि आज्ञा मिल गई और भवन भी स्थापित हो गया पर साईचो चर्म-चक्षुओं से कभी उस भवन को न देख सके। नारा के भिक्षुओं का विरोध अब भी चल रहा था। पर ये महात्मा अपने पीछे ऐसी चमक छोड़ गये थे जो बुझने के बजाय अधिकाधिक चमक रही थी। साईचो के कार्यों का सिंहावलोकन करते हुए कोई भी व्यक्ति उनकी दूरदर्शिता तथा विचारों की व्यापकता से प्रभावित हुए बिना न रहेगा। ही-एई पर्वत पर संस्था स्थापित कर इन्होंने अपने उच्च विचारक और दार्शनिक होने के साथ साथ योग्य प्रबन्धक होने का भी परिचय दिया। इस संस्था के साथ अन्य संस्थायें भी खुलती गईं और एक समय ऐसा आया जब ही-एई जापानी बौद्धधर्म का केन्द्र बन गया। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में यहां से बौद्धधर्म की नई नई शाखायें फूटती रहीं यद्यपि इस समय ही-एई स्वयं ह्रास को प्राप्त हो रहा था।

महात्मा कोकेई

साईचो के एक प्रतिद्वन्दी भी थे जिनका नाम कोकेई था। ये कोबो-ताईशी नाम से अधिक विख्यात हैं। इनका जन्म ७७४ ई० में एक प्रान्तीय शासक के घर में हुआ था। इनके बाल्यकाल की कथायें वैसी ही हैं जैसी अनेक सन्तों के विषय में प्रायः कही जाती हैं। जापान ने आजतक जो बड़े बड़े दिमाग़ पैदा किये हैं उनमें से ये भी एक हैं। इन्होंने मियेको के विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। यहां इन्हें कन्फ्यूशस धर्म की शिक्षा दी गई थी। इससे असन्तुष्ट होकर कोकेई ने ताऊधर्म का अध्ययन आरम्भ किया। इसमें भी तृप्ति न पाकर ये मियेको छोड़ सत्य के अन्वेषण को निकल गये। इसके अनन्तर ये वर्षों तक पहाड़ों और जंगलों में

घूमते रहे। एक दिन इन्हें समाधि में एक बौद्ध महात्मा के दर्शन हुए। उससे प्रभावित होकर ये बौद्धमत में दीक्षित हुए। इस समय इनकी आयु बाईस वर्ष थी। ८०४ ई० में जब साईचो चीन गये तो ये भी पीछे न रहे। वहां इन्होंने दो वर्ष तक अध्ययन किया। जापान लौट कर कोकेई ने बौद्धधर्म के शिंगान सम्प्रदाय की स्थापना की। यह सम्प्रदाय ७२० ई० में भारत से चीन गया था। कोया-शान् पर्वत पर इन्होंने अपना विहार बनवाया। पन्द्रह वर्ष तक ये अपने शिष्यों को तयार करते रहे। साईचो की मृत्यु हो जाने पर कोकेई एकदम प्रसिद्धि पा गये। ८३५ ई० में समाधि लगाये हुए ही इनकी मृत्यु हो गई। आज भी लोग इन्हें अलौकिक शक्ति सम्पन्न देव मान कर पूजते हैं। इनके चमत्कारों की अनेक कथायें जापान के जन साधारण में प्रचलित हैं।

धार्मिक संस्थाओं का पतन

इस प्रकार ही-अन युग में घन-ग्यो-ताईशी और कोबो-ताईशी ने अपने अपने सम्प्रदाय प्रचलित कर जहां बौद्धधर्म की सेवा की वहां सभ्यता के प्रसार तथा राजकीय संगठन में भी सरकार को बहुत सहयोग दिया। इस समय जापान में बौद्धधर्म उन्नति के शिखर पर पहुंच चुका था। राजा शिरकव[1] के समय अहिंसावाद इतने उग्ररूप में आ चुका था कि आठ सहस्र मछलियां पकड़ने के जाल पकड़े गये और जला दिये गये। राजप्रासाद में मछली की भेंट बिल्कुल बन्द करदी गई। शिकार और मछली पकड़ना सख्त मना था। सैंकड़ों मन्दिर और विहार बनाये गये। इस उन्नति को देखते हुए यह अनुमान लगाना कठिन न था कि जो सितारा इतना ऊंचा चढ़ा है उसका पतन दूर नहीं है। यह ठीक है कि धार्मिक दृष्टि से यह बहुत अच्छा समय था। मंदिरों में इतनी भीड़ कभी न हुई थी

---

१. इसका काल १०७२ से १०८६ तक है।

जितनी अब रहने लगी। उत्सव इतनी शान से कभी नहीं मनाये गये थे जैसे अब मनाये जाने लगे। परन्तु धार्मिक संगठन ढीला पड़ रहा था। उस में आन्तरिक शिथिलता आ रही थी। केवल ऊपरी चमक शेष थी जो जनता को अपनी ओर खींच रही थी। तैन्दाई और शिंगान सम्प्रदायों के बड़े बड़े विहार, असीम सम्पत्ति और शक्ति के केन्द्र बन गये थे। धार्मिक स्थान विलासिता के घर बन चुके थे। भिक्षु लोग राजनिति में खुला भाग लेने लगे थे। बहुत से मंदिर तो किले ही बन गये थे। ये सदा वैतनिक सैनिकों से भरे रहते थे। अवस्था इतनी बिगड़ चुकी थी कि भिक्षु अपना कर्त्तव्य भूल कर हाथ में शस्त्र ले रणक्षेत्र में कूदने से न हिचकते थे। ये सैनिक भिक्षु नियंत्रण में भी न रहते थे। राजा शिरकव ने लिखा है—"मेरे राज्य में तीन वस्तुएं हैं जिन्हें मैं नियंत्रण में नहीं ला सकता। कामो नदी का परिवर्त्तनशील मार्ग, पाँसे का गिरना और भिक्षुओं का विद्रोह।"[1] कुछ भिक्षुओं ने विवाह कर लिया था। वे अपने साथ स्त्रियां रखते थे। उनके घर बने हुए थे। उनके पास सम्पत्ति भी थी।

फ्यूजिवारा युग

(८८९ से ११९२ तक)

नवीं और दसवीं शताब्दी में जापान की शासनशक्ति फ्यूजिवारा वंश के हाथ में रही। राज्य के सब ऊंचे पदों पर ये ही प्रतिष्ठित थे। इन के सामने राजा लोग अन्यथासिद्ध थे। समय समय पर इनके एकाधिकार को तोड़ने के लिये प्रयत्न किये गये, पर वे असफल सिद्ध हुए। इस वंश के नेतृत्त्व में कला और साहित्य की बहुत उन्नति हुई। जिन के लिये जापान बहुत प्रसिद्ध है उन चित्रों

---

१. देखिये, Studies in Japanese Budhism, Page 100.

का विकास इसी समय हुआ। इस में भिक्षुओं ने बहुत भाग लिया। फ्यूजिवारा लोग यह जानते थे कि भिक्षुओं को अपनी मुट्ठी में किस प्रकार रखा जा सकता है। ये लोग राजाओं की स्तुति में भिक्षुओं से गीत गवाते, चित्र खिंचवाते, बाग़ लगवाते और प्रासाद खड़े करवाते थे। इन महलों में विलासी राजा अपनी निर्बलताओं को भूल कर आनन्द भोगते थे। यदि कोई राजा समर्थ होता और अपनी दुर्बलताओं को जानने का यत्न करता तो फ्यूजिवारा लोग उसे किसी दूरस्थ विहार में भेज देते थे जहां पहुंच कर वह गद्दी त्यागने को बाधित हो जाता था। कुछ राजाओं ने विहारों में रह कर अपने पुत्रों के नाम से शासन करने का उद्योग किया। परन्तु इनके पास इसका भी इलाज था। इन्होंने विहारों में परस्पर फूट डलवा दी। तैन्दाई और शिंगान सम्प्रदायों में परस्पर शत्रुता थी। अपने उत्कर्ष के लिये इसका भी अच्छा उपयोग किया गया। दोनों सम्प्रदायों के केन्द्र विरोधी सेनाओं के मोर्चे बन गये। यदि इस समय क्वम्मु और साईचो पैदा होते और इस अवस्था को देखते तो अपने कृत्यों पर रक्त के आँसू बहाते। क्योंकि अब उनकी आशाओं पर पानी फिर चुका था। क्वम्मु ने अपनी राजधानी ही-अन को इस लिये बनाया था जिस से राजनीति को भिक्षुओं के हस्तक्षेप से बचाया जा सके और साईचो ने अपनी संस्था पहाड़ में इस लिये बसाई थी कि वह सांसारिक संघर्षों से दूर रहे। परन्तु अब ही-अन में भिक्षुओं के झगड़े चल रहे थे और ही-एई संघर्ष का केन्द्र बनाहुआ था।

कामाकुरा काल

(११९२ से १३३८ तक)

राजधानी परिवर्तन

आगामी कई शताब्दियां, विशेषतया ग्यारहवीं और बारहवीं, जापान म सामन्त कलह के लिये प्रसिद्ध हैं। ये लड़ाईयां मुख्यतः



कामाकुरा मे अमिताभ की सुविशाल पित्तल प्रतिमा

'तैरा' और 'मिनामोतो' वंशों में हुई। ये दोनों वंश नवीं शताब्दी के शाही परिवार से सम्बन्ध रखते थे। इधर सम्राट् तो काव्यनिर्माण और भवननिर्माण में व्यग्र थे उधर ये लोग घोड़े और तलवारें सजा कर लड़ाई की तय्यारी कर रहे थे। बारहवीं शताब्दी तक ये खूनी लड़ाईयां जारी रहीं। अन्ततः मिनामोतो वंश तैरा को पराजित करने में समर्थ हुआ। ११९२ ई० में मिनामोतो वंश के योरितोमो ने'शोगुन'[१] की उपाधि धारण कर कामाकुरा[२] को अपनी राजधानी बना कर शासन करना आरम्भ किया। शोगुनों की सम्राट् के नीचे वही स्थिति थी जो भारत में छत्रपतियों के नीचे पेशवाओं की थी। जैसे पेशावाओं ने छत्रपतियों को अन्यथासिद्ध कर दिया था वैसे ही शोगुनों ने सम्राटों को। योरितोमो ने जिस सरकार की स्थापना की उसे 'वाकुफु'[३] कहा जाता था। उसने सम्राट् और उस के वंशजों से छेड़छाड़ नहीं की। वह स्वयं तो कामाकुरा में रहता था और सम्राट् क्योतो में। इस समय कामाकुरा के सैनिक उपनिवेश ने जापानी इतिहास में वही कर्तृत्व प्रदर्शन किया जो मैसिडोनिया ने प्राचीन ग्रीस में, प्रशिया ने जर्मनी में और पीडमॉन्ट ने इटली में। कामाकुरा जापान का राजनीतिक तथा सैनिक केन्द्र था और क्योतो धार्मिक तथा समाजिक कार्य्यों का। अथवा यों कहिये कि कामाकुरा ही सब कुछ था और क्योतो अन्यथा सिद्ध था। योरितोमोने अपनी विजय बौद्धधर्म के कारण समझ कर कामाकुरा में अमिताभ की एक विशाल भव्य मूर्त्ति स्थापित की।

---

१. 'शोगुन' का अर्थ है—'Supreme military chief.' यह उपाधि सम्राट् द्वारा दी गई थी।

२. यह स्थान तोक्यो खाड़ी के मुहाने पर कान्तो प्रदेश में स्थित है।

३. 'वाकुफु' का अर्थ है—'The Government of the tent or camp.'

होजो परिवार का एकाधिकार

११६६ में योरितोमो की मृत्यु के उपरान्त उसका बड़ा लड़का 'योरि' जो अभी तक नाबालिग था होजो तोकिमासा के संरक्षण में शोगुन बना।[१] योरि के विलासमय जीवन से लाभ उठा कर तोकिमासा ने षड्यंत्र द्वारा १२०४ ई० में उसका बध करवाके उसके छोटे भाई सनेतोमो को शोगुन घोषित कर दिया। १२१६ ई० में उसे भी मार दिया गया। योरितोमो के दोनों पुत्रों के मर जाने से मिनामोतो वंश समाप्त होगया। अब होजो परिवार ने फ्यूजिवारा वंश के एक व्यक्ति को शोगुन बना कर यह घोषित कर दिया कि यही मिनमोतो वंश का उत्तराधिकारी है। परन्तु यथार्थता में इस समय सम्पूर्ण शक्ति होजो परिवार के हाथ में थी। यद्यपि वे अपने को कहते शिक्किन[२] ही थे। होजो तोकिमासा के पुत्र योशितोकि ने अपने शासनकाल[३] में कामाकुरा सरकार को इतना सुदृढ़ कर लिया कि अगली शताब्दी तक जापान पर इसी वंश का प्रभुत्त्व रहा।

मंगोलों का आक्रमण

छठा शिक्किन होजो तोकिम्यून था। मंगोलों के आक्रमण से जापान को बचाने का श्रेय इसे ही प्राप्त है। सम्पूर्ण एशिया में जापान ही एक ऐसा देश है जो तुर्कों और मंगोलों की मार से बचा रहा। परन्तु अब समग्र एशिया के विजेता मंगोल विजयोल्लासभरी आंखों से जापान की ओर निहार रहे थे। यह समय मंगोलों के उत्कर्ष का था। लगभग सवा दो सौ वर्ष तक मंगोल लोग एशिया और योरुप के बहुत बड़े भाग पर शासन करते रहे। इनका शासन कोरिया से लेकर वीएना तक तथा सिन्ध से लेकर मास्को तक विस्तृत था। एक ही स्थान पर इतना विशाल

१. योरितोमो की पत्नी चूंकि होजो परिवार की थी अतः योरि का संरक्षक उसी परिवार का व्यक्ति हुआ।

२. 'शिक्किन' का अर्थ है–'The mayars of the palace or regents.'

३. इसका शासनकाल १२५६ से १२८४ तक है।

साम्राज्य मानवीय नेत्रों ने आज तक नहीं देखा। मंगोलों ने जापान को भी जीतने का प्रयत्न किया। १२६८ ई० में मंगोल सरदार कुबलेईखां ने अभिमान से भरा एक पत्र जापानी शिक्किन के पास भेजा। इसमें कहा गया था—'तुम मंगोल सरदार की आधीनता स्वीकृत करो तथा आधीनता मानते हुए उपहार भेंट करो।' परन्तु शिक्किन ने पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया। १२७१ ई० में दूसरा पत्र भेजा गया। उसे बिना पढ़े ही उसने लौटा दिया। १२७४ ई० में कुबलेई ने डेढ़ सौ जहाजों का बेड़ा जापान पर आक्रमण करने के लिये भेजा। सारा जापान एक व्यक्ति की भाँति सामना करने के लिये उठ खड़ा हुआ। एक ओर संसार के विजेता मंगोल थे और दूसरी ओर जापान का छोटा सा राज्य था। इस लड़ाई में मंगोल सरदार मारा गया। जहाजी बेड़े का बहुत सा भाग नष्ट हो गया। मंगोलों को उल्टे पैर लौटना पड़ा। १२७६ ई० में उन्होंने फिर एक दूत कामाकुरा भेजा। इसे कत्ल कर दिया गया। अब और उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। परिणामतः एक लाख मंगोलों और दस हजार कोरियन सैनिकों ने जंगी बेड़े द्वारा जापान पर दूसरा आक्रमण किया। जापानी सेनाओं ने डट कर सामना किया। अचानक ही समुद्र में भयंकर तूफान आया। मंगोलों के लिये जहाज सम्हालना असम्भव हो गया। देश में वे घुस न सकते थे क्योंकि जापानी सैनिक तट पर सन्नद्ध थे। ऐसी दशा में मंगोल-सेनायें वापस लौट गईं। मध्ययोरुप और एशिया की सब जातियां मंगोलों की आँधी का सामना न कर सकीं, परन्तु यह केवल जापान था जिसने इन भयानक मंगोलों की भी आधीनता स्वीकार न की।

राजसत्ता का उत्थान

मंगोलों से छुटकारा दिलाने के कारण होजो तोकिम्यून, जापान में मुक्तिदाता के रूप में पूजा गया। १३११ ई० में ताकातोकि नामक एक अयोग्य व्यक्ति शिक्किन बना। उधर मिनामोतो वंश के शोगुन

पदवीधारी के अतिरिक्त कुछ.न थे। ऐसी दशा में कामाकुरा सरकार बहुत शिथिल पड़ गई। इसी समय जापानी सम्राट्, जो अब तक अपने को राजनीति से पृथक् रख धर्म और समाज की ही चिन्ता में लगे थे, उन्होंने अपनी निद्रा की चादर उतार फेंकी। उन्होंने कोठरी में बन्द देवता के स्थान पर सच्चा सम्राट् बनने की ठानी। १३१६ ई० में गो-दैगो जापान की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। आगामी कई वर्षों में सम्राट् और सामन्तों में अधिकार प्राप्ति के लिये लड़ाईयां लड़ी गई। अन्ततः गो-दैगो सामन्तों को पराजित करने में सफल हुआ। यद्यपि वैधानिक दृष्टि से सामन्तशक्ति नष्ट कर दी गई थी परन्तु सामन्त मनोवृत्ति अब तक कायम थी। अशि-कागा वंश के लोग अपने प्रभाव-विस्तार के लिये अन्त तक लड़े, और १३४८ ई० में शिजोनवात की लड़ाई में गो-दैगो लड़ता हुआ मारा गया। इस घटना से राजसत्ता का विचार कुछ काल के लिये और दबा दिया गया और होजो वंश के स्थान पर आशिकागा वंश ने शोगुन की पदवी धारण की।

महात्माओं का आविर्भाव

इधर जब यह उथलपुथल मची हुई थी तब सूर्य्योदय देश में बड़े २ महात्मा प्रकट हो रहे थे। इन्होंने अपने ऊंचे व्यक्तित्व और आदर्शों द्वारा जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया। इस युग में जापान में बौद्धधर्म चार विभिन्न धाराओं में प्रवाहित हो रहा था।

(१) होनेन् का अमित सम्प्रदाय।
(२) शिन्रन् का शिन् सम्प्रदाय।
(३) निचिरेन् के विचार।
(४) दोजेन् का जेन् सम्प्रदाय।

होनेन् का अमित सम्प्रदाय

यह कहा जा चुका है कि बारहवीं शताब्दी में जापानी बौद्धधर्म के केन्द्र—नारा, ही एई और कोयाशान् अधोगति को प्राप्त हो रहे थे। भिक्षु, त्याग और तपस्या को तिलाञ्जलि देकर सांसारिक विषयों में

दिलचस्पी लेने लगे थे। बड़े बड़े विहार भिक्षुओं के आश्रम न रह-कर सेनाओं की छावनियां बन गये थे। इसका यह अभिप्राय नहीं कि भिक्षुमात्र ही कूटनीतिज्ञ और सैनिक बन गये थे। खास ही-एई में ही बहुत से महात्मा निवास करते थे। इनके अतिरिक्त पहाड़ों से घिरे हुए छोटे छोटे मन्दिरों में बैठे हुए सन्तों के हृदयों में अब भी आध्यात्मिकता की ज्योति जगमगा रही थी। ये सब लोग बौद्धधर्म की दुरवस्था से चिन्तित थे। इन्हें तैन्दाई और शिंगान की अपेक्षा धर्म के किसी सरल रूप की चाह थी। ऐसे समय में जापान में एक महात्मा नये युग के ज्योतिस्तम्भ होकर प्रकट हुए। इन्होंने दुःख से छटपटाते हुए सहस्रों लोगों को अमिताभ की असीम दया द्वारा सान्त्वना प्रदान की।

इनका नाम गेन्-को था। ये होनेन नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। होनेन् का जन्म मियेको से बहुत दूर एक प्रान्त में ११३३ ई० में हुआ था। ये वहां के प्रान्तीय शासक के एकाकी पुत्र थे। जब ये आठ ही वर्ष के थे तो लुटेरों ने इनके घर पर आक्रमण किया और इनके पिता को सख्त घायल कर दिया। इसी घाव से पिता की मृत्यु हो गई। मरते समय पिता ने अपने एकाकी पुत्र पर अपनी अन्तिम इच्छा प्रकट की कि तुमने लुटेरों से कभी बदला न लेना और भिक्षु जीवन व्यतीत करने का यत्न करना। होनेन् की माता इतनी पतिव्रता थी कि उसने पति की इच्छापूर्ति के लिये अपने एकमात्र पुत्र को विहार में भेज दिया। पांच वर्ष पश्चात् ये ही-एई विहार में प्रविष्ट हुए और तीस वर्ष की आयु में सब विषयों के सम्यग्ज्ञाता हो गये। इनकी शिक्षा तथा गुणों की ख्याति सब ओर फल गई। अब यदि ये चाहते तो धार्मिक संगठन के प्रधान बन सकते थे परन्तु इनकी आत्मा सांसारिक यश और ऐश्वर्य्य की अपेक्षा किसी दूसरे उद्देश्य की ओर भाग रही थी। इन्होंने बदिया से

बढ़िया भोजनों का आस्वादन किया था, दार्शनिक ग्रन्थों की खाक छानी थी, नैतिक नियमों का पालन किया था, यौगिक साधनों की भी परिक्षायें ये ले चुके थे परन्तु यह सब कुछ करने के उपरान्त भी इनकी आत्मा तृप्त न हुई थी। वह अब भी भूखी थी। उसे तो स्थिर शान्ति बुद्ध की शरण में भिक्षान्न खाने पर ही प्राप्त हुई। ही-एई की विकृत अवस्था से इन्हें घृणा पैदा हो गई और एक दिन उससे सदा के लिये विदा ली। अब ये कुटिया में रह कर अमित का नाम जपने लगे और वहां जो कोई आता उसे भी इसीके जाप का उपदेश देते।

होनेन् का धर्म बहुत सादा है। इनका सिद्धान्त बस इतना ही है कि दयालु बुद्ध की सबको निर्वाण दिलाने वाली शक्ति पर पूर्ण विश्वास करो। यह शक्ति अमिताभ का देह धारण कर अवतरित हुई है। अमिताभ पश्चिमदेश—भारत का स्वामी है। इसने पश्चिम देश में दीर्घाभ्यास तथा गुणसंग्रह द्वारा निर्वाण प्राप्त किया है। इसके द्वारा अतीत में धारण किये गये सब व्रत पूर्ण हो चुके हैं। स्वर्ग स्थापित हो गया है। इस स्वर्ग में वह उस प्रत्येक व्यक्ति को ले जायेगा जो उसका नाम जपता है। नाम जपने का मन्त्र है 'नमः अमित बुद्धाय'[1] जप के लिये सब से आवश्यक वस्तु 'विश्वास' है। विश्वास का अर्थ है—बुद्ध को पिता तुल्य समझ कर उसकी दया पर आश्रित रहना। हम कितने ही पापी क्यों न हो, कितने ही निर्बल क्यों न हों, ये सब चीजें उसके प्रति विश्वास में बाधक नहीं हो सकतीं। पापी से पापी भी उसकी दया प्राप्त करेंगे क्योंकि उसकी दया सब पर बरसती है। होनेन् एक स्थान पर लिखते हैं—"वहां पर स्त्रीपुरुष का, अच्छेबुरे का, अमीरग़रीब

---

१. इसका जापानी रूप 'नामु अमिता बुत्सु' है।

का, किसी प्रकार का भी भेदभाव नहीं है। कोई भी उसकी दया से वंचित न रहेगा। जिस प्रकार भारी शहतीर जहाज पर चढ़ कर हजारों मील लम्बे समुद्र को तैर जाते हैं, ऐसे ही पाप के भार से लदे हुए लोग अमित की दया के सहारे जन्म-मरण के सागर से पार होंगे।"[1]

होनेन् के इन आशामय विचारों ने दुःखी और घबराई हुई आत्माओं को शान्ति प्रदान की। शीघ्र ही राजपरिवार की दो स्त्रियां इनकी अनुयायी बनीं। इस कीर्ति से दूसरे सम्प्रदाय वाले भड़क गये। उन्होंने इन के विरुद्ध स्त्री भगाने का अभियोग चलाया। १२०७ ई० में होनेन् को देश से निर्वासित किया गया। इस समय इनकी आयु चौदह वर्ष थी। एक वर्ष तक निर्जन द्वीप में रहने के पश्चात् इनकी यातना में कमी कर दी गई। चार वर्ष उपरान्त इन्हें छोड़ दिया गया। होनेन् के अन्तिम दिन बहुत शान्ति पूर्वक व्यतीत हुए। १२१२ ई० में इनकी इहलीला समाप्त हुई। होनेन् के अन्तिम शब्द थे—"जो उसका नाम जपता है उस पर उसकी अपार दया बरसती है।"[2]

होनेन् का एक प्रधान शिष्य था जिसका नाम शिन्रन् शोनिन् था। इन्होंने सोचा कि होनेन् अपने सिद्धान्त में बहुत दूर तक नहीं गये। इसलिये १२२४ ई० में इन्होंने एक सम्प्रदाय को जन्म दिया। इसका नाम 'जोदो शिन्शू'[3] रक्खा गया। जिस समय[4] होनेन् ने अपने सम्प्रदाय की आधारशिला रक्खी शिन्रन् का शिन्सम्प्रदाय

१. देखिये, History of Japanese Budhismn, Page 174.

२. देखिये, History of Japanese Budhism. Page 178.

३. The True land sect

४. ११७५ ई० में।

थी उस समय शिन्रन् की आयु दो वर्ष थी। इनका जन्म एक बहुत ऊंचे घराने में हुआ था। इनके पिता का सम्बन्ध फ्यूजिवारा परिवार से और माता का मिनामोतो परिवार से था। चार वर्ष की अवस्था में इनकी माता मर गई और दस वर्ष की अवस्था में पिता भी। अब इनका मन भोगविलास से उचाट होने लगा। नौ वर्ष की अवस्था में ये ही-एई पर्वत के शोरेनिन् विहार के महन्त जिचिन के शिष्य बन गये। वहां पर तैन्दाई सम्प्रदाय के अध्ययन में बहुत से वर्ष व्यतीत किये। ये नारा भी गये और वहां भी विद्वानों से ज्ञान प्राप्त किया। इनका ज्ञान इतना बढ़ गया था कि ये 'ही-एई की प्रतिभा' के नाम से प्रसिद्ध हो गये। अब यदि ये चाहते तो तैन्दाई सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य्य बन सकते थे। इनके अधीन सहस्रों विहार और मन्दिर होजाते परन्तु इन्होंने सत्य की खोज के लिये यह मार्ग छोड़ दिया। एक दिन शिन्रन् ने होनेन् का उपदेश श्रवण किया और अमित के जाप का महत्त्व समझा। परिणाम यह हुआ कि ये वहीं पर अपने पुराने सम्प्रदाय को छोड़ अमित सम्प्रदाय के अनुयायी बन गये। इस समय शिन्रन् की आयु उनतीस वर्ष थी। इस घटना के दो वर्ष पश्चात् इन्होंने फ्यूजिवारा वंश की राजपुत्री 'तमहि' से विवाह किया। भिक्षु जगत् के लिये यह एक अद्भुत घटना थी। ये मांस भी खाते थे और कपड़े भी साधारण नागरिकों के से पहनते थे। कहने का अभिप्राय यह कि ये साधारण नागरिकों की भाँति जीवन व्यतीत करते थे। इनके इन कृत्यों से भिक्षु लोग बिगड़ उठे। उनके आन्दोलन से इन्हें 'हितचि' प्रान्त में रुद्ध कर दिया गया। छः वर्ष पश्चात् इन्हें छोड़ दिया गया। शिनरन् ने शेष जीवन लिखने तथा प्रचार कार्य में व्यय किया। दूर दूर से लोग आते थे और इनसे उपदेश ग्रहण करते थे। नवासी वर्ष की आयु में इनका देहान्त हुआ।

सत्य का पुजारी निचिरेन्

शिनरन् ने निर्वाण के लिये बुद्धत्त्वप्राप्ति के मार्ग को छोड़कर अमित के जाप का उपाय बताया। यह क्यों? इसका उत्तर वे स्वयं देते हैं—"मनुष्य जाति के प्रारम्भिक इतिहास में एक 'स्वर्णयुग' था जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी रक्षा आप कर सकता था परन्तु अब वह दशा नहीं है। अब तो मनुष्य अज्ञान और पाप में फंस गया है। इस दशा में उसकी रक्षा का एक ही उपाय है कि वह अमित बुद्ध में विश्वास लाये और 'नामु अमिता बुत्सु' का जाप करे।"

होनेन् की मृत्यु के दस वर्ष उपरान्त जापान की कोख से एक ऐसे धर्मवीर महापुरुष का जन्म हुआ जो भीषण से भीषण यंत्रणायें देने पर भी अपने विचारों पर अटल रहे। इनका चरित्र जापान के इतिहास में अद्वितीय है। इन में पैग़म्बरों का सा उत्साह, सन्तों की सी मधुरता, विद्वानों की सी विद्वत्ता, तथा सुधारकों का सा साहस था। इस महात्मा का नाम निचिरेन्[1] था। इनका जन्म १२२२ ई० में एक मछुए के घर में हुआ था। निचिरेन् का बाल्यकाल एक पार्वत्य विहार में व्यतीत हुआ था। ज्यों ज्यों ये बड़े हुए त्यों त्यों यह प्रश्न इनके मन में उग्र रूप धारण करता गया कि विद्यमान सम्प्रदायों में बुद्ध का अपना सिद्धान्त कौनसा है? अपनी इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिये ये पहले तो कामाकुरा गये, तदन्तर ही-एई विहार गये। यहां रहते हुए निचिरेन् ने सत्य का अन्वेषण करने के लिये अनेक शिक्षाकेन्द्रों की यात्रा की। तीस वर्ष की अवस्था में इन्हें विश्वास हो गया कि बुद्ध की सत्य शिक्षायें 'सद्धर्मपुण्डरीक' सूत्र में संगृहीत हैं।[2] इस विश्वास के साथ ये अपने पुराने विहार की ओर चल पड़े, जिसे छोड़े अब इन्हें

सत्यका पुजारी निचिरेन्

---

१. 'ही-एई' का संस्थापक साईचो भी यही मानता था।

२. निचिरेन् का अर्थ है—'सूर्य्यकमल'।

पन्द्रह वर्ष हो गये थे। १२५३ ई० की ग्रीष्म ऋतु के एक प्रातःकाल पहाड़ की चोटी पर चढ़ कर प्रशान्त महासागर से उदित होते हुए सूर्य्य को देख कर इनके मुख से हठात् ये शब्द निकल पड़े—'विश्व कितना पवित्र है।' इसी दिन दोपहर को निचिरेन् ने अपने साथियों को 'सद्धर्म पुण्डरीक' का उपदेश दिया तथा दूसरे सम्प्रदायों की कड़ी आलोचना की। आलोचना सुन भिक्षुओं को क्रोध आ गया। उन्होंने इन्हें विहार से निकाल बाहिर किया। निचिरेन् के आगामी सात वर्ष कामाकुरा में व्यतीत हुए। इस समय कामाकुरा भयानक घटनाओं का क्षेत्र बना हुआ था। वहां तूफान्, भूकम्प और बीमारियां फैल रही थीं। निचिरेन् कहते थे कि बुद्ध और उसके दूतों ने देश पर से अपना रक्षामय हाथ उठा लिया है। उसी का फल हम भुगत रहे हैं। इसी भाव को प्रदर्शित करते हुए इन्होंने 'सत्य की प्रतिष्ठा और देश की सुरक्षा' शीर्षक से एक निबन्ध लिखा। इस निबन्ध में निचिरेन् ने होनेन् के विचारों को नरक-द्वार बताया था। किन्तु इसकी कुछ भी सुनाई नहीं हुई और लोगों की भीड़ ने कुपित होकर इन पर आक्रमण किया। कुटिया में आग लगा दी। अन्धेरी रात में बड़ी कठिनता से ये अपनी जान बचा सके। अब इन्होंने कामाकुरा की सड़कों और बग़ीचों में फिर से चेतावनी वाली भाषा में अपनी आवाज़ बुलन्द की। सरकार ने नगर की शान्ति ख़तरे में समझ कर इन्हें कैद कर लिया। कारावास में निचिरेन् ने फिर से धर्मग्रन्थों का पाठ किया और अपने विचारों में अधिक सचाई पाई। जेल से छूटते ही इन्होंने अदम्य उत्साह और अटल विश्वास के साथ कार्य्य करना आरम्भ किया। इसी बीच में एक प्रान्तीय शासक ने, जो होनेन् का अनुयायी था, निचिरेन् को मारने का प्रयत्न किया। परन्तु ये बाल-बाल बच गये। इस अवस्था में भी इन्होंने प्रचारकार्य जारी रक्खा। अन्ततः सरकार ने तंग

आकर इन्हें आजीवन निर्वासन की आज्ञा दी, परन्तु पुलिस का मुखिया इतने से ही सन्तुष्ट न हुआ। वह तो इन्हें समाप्त कर देने की प्रतीक्षा में था। निचिरेन् इन सब बातों से पूर्णतया परिचित थे। वे स्वयं मृत्यु को आलिङ्गन करना चाहते थे, क्योंकि वे समझते थे कि यह बात उनके प्रचार में और अधिक सहायक होगी। १२७१ ई० के एक दिन, जब रात आधी से अधिक बीत चुकी थी, होनेन् बध्यस्थल पर ले जाये गये। उनकी जीवन-लीला समाप्त करने के लिये पुलिस के मुखिया की ओर से सब सामान तय्यार था। कहा जाता है कि इसी समय आकाश चमक उठा। आग का एक गोला दक्षिणपूर्व से उत्तरपूर्व की ओर गया। सिपाही भय से कांप उठे और जल्लाद के हाथ से तलवार गिर पड़ी। बध करना असम्भव हो गया। इस स्थिति में निचिरेन् फिर से एक द्वीप में निर्वासित कर दिये गये। यहां रहते हुए इन्होंने एक निबन्ध लिखा। इसके अन्तिम शब्द थे— "चाहे स्वर्गीय देव मुझ पर से करुणामय हाथ क्यों न उठा लें, भयंकर से भयंकर आपत्ति मुझ पर भले ही आ जाये, तो भी मैं अपना जीवन सत्य के लिये बलि देने से न डिगूंगा। सुख हो या दुःख हो, 'सद्धर्मपुण्डरीक' को न मानना मेरे लिये नरक में गिरना है। मैं अपने विचारों पर पूर्ण दृढ़ रहूंगा। मैं सब चेतावनियों और प्रलोभनों का सामना करूंगा। भले ही मुझ से कोई कहे कि यदि तुम सद्धर्मपुण्डरीक में श्रद्धा छोड़दो और अमित बौद्धधर्म में विश्वास ले आओ, तो तुम्हें जापान का सिंहासन मिलेगा, अथवा यदि तुम्हारे माता-पिता अमित को मानेंगे तो उन्हें फांसी पर लटका दिया जायेगा। ऐसे प्रलोभनों का मैं चट्टान बन कर सामना करूंगा। मेरे सामने प्रत्येक आपत्ति धूल बन जायगी। मैं जापान का स्तम्भ बनूंगा, मैं जापान की आंख बनूंगा, मैं जापान का जंगी बेड़ा बनूंगा, मेरी

प्रतिज्ञायें सदा अटल रहेंगी।"[1] निर्वासित कोठरी में से निचिरेन् ने इतने ज़ोरदार विचार प्रकट किये थे। अढ़ाई वर्ष पश्चात् निर्वासन से मुक्ति पाकर ये फिर कामाकुरा गये। इस समय सरकार इन से सहयोग करना चाहती थी परन्तु निचिरेन् के तो स्वभाव में ही सत्य के प्रति ढील नहीं थी। १२७४ ई० में ये भविष्य का कार्य्यक्रम निश्चित करने के लिये इकेगमि[2] चले गये। १२८२ ई० में इन्होंने परिनिर्वाण प्राप्त किया। निचिरेन् के परलोकगामी होने के उपरान्त भी इनके शिष्य इनके विचारों का प्रचार करते रहे। इन शिष्यों में सब से मुख्य 'निचिजो' था।

दोजेन् का जेन् सम्प्रदाय

होनेन् और निचिरेन् के विचारों के साथ साथ एक अन्य विचारधारा भी जापान में बह रही थी। यह धारा जेन् सम्प्रदाय की थी। इसका सर्वप्रथम प्रचार बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था। इस समय आचार्य दोजेन् इस के प्रचार में विशेषरूप से प्रयत्नशील थे। ये चीन से लौटने के पश्चात् विहारों का संगठन तथा उन में अनुशासन स्थापित करने के लिये बड़ा उद्योग कर रहे थे।

जेन् एक ध्यानवादी सम्प्रदाय है जिसका उद्देश्य सांसारिक चिन्ताओं से ऊपर उठना है। इस सम्प्रदाय वालों का यह मन्तव्य है कि जेन् सम्प्रदाय बुद्ध से महाकाश्यप और उससे जेन् आचार्य्यों के पास आया है। इसमें युक्ति और विचारों को कोई स्थान नहीं। ये कोई सिद्धान्त नहीं बनाते। इनके विचार में निश्चित सिद्धान्त आत्माओं को मुर्दा बना देते हैं। ये लोग ऐसा मानते हैं कि समाधि

१. देखिए, History of japane-e budhism, Page 198.

२. यह फुजिपर्वत के पश्चिम में है। यहां पर निचिरेन् की समाधि बनी हुई है और प्रति वर्ष सहस्रों भक्त अपने श्रद्धेयदेव के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये एकत्र होते हैं।

से अन्तिम सत्ता अनुभव होती है जो वैयक्तिक भेदों और सामयिक परिवर्त्तनों से रहित है। यह सत्ता मन, आत्मा, मूलप्रकृति, संसार और आत्मा की प्रारम्भिक अवस्था कही जाती है। इस सत्ता को वैयक्तिक रूप में नहीं, अपितु विश्वात्मारूप में प्रत्येक व्यक्ति में अनुभव किया जा सकता है। इसको ध्यान द्वारा अनुभव करने पर हम विश्व को अपने से मिला सकते हैं। जेन् का नैतिक आदर्श पाप-पुण्य से ऊपर उठकर, परिस्थितियों से न घबराकर सुखदुःख में आगे ही आगे बढ़ना है। जेन् सम्प्रदायवादी अपनी तुलना तूफ़ानी समुद्र में भीषण लहरों का सामना करने वाली मज़बूत चट्टान से करता है। पानी में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब हिलता है, पर चन्द्रमा स्वयं शान्त रहता है, स्थिर रहता है, और शुद्ध रहता है। इसी प्रकार जेन्धर्मी जीवनरूपी जल में हिलता हुआ प्रतीत होता हुआ भी आत्मनियन्त्रण के कारण अपने कार्य्य में निर्भय और स्थिर बना रहता है।

जिस समय जेन् सम्प्रदाय जापान में प्रविष्ट हुआ उस समय वहां सैनिकों का शासन था। इन्हें ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो इनमें मानसिक दृढ़ता को उत्पन्न कर सके। पुराने धर्म ऐसा करने में असमर्थ थे। जेन्धर्म ही ऐसा था जो जीवन के चढ़ाव-उतार में प्रेरणा दे सकता था। होजो परिवार के राजनीतिज्ञों ने धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता अनुभव की। इन्होंने भी जेन्धर्म की आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को उपयुक्त समझा। तेरहवीं शताब्दी के मध्यकाल से जेन्धर्म का प्रचार बढ़ने लगा। अगली शताब्दी के बड़े बड़े योद्धा जेन्धर्म के कारण ही आध्यात्मिक क्षेत्र में बह गये। ऐसे व्यक्तियों में 'तोकियोरि' और 'तोकिमुने' के नाम उल्लेखनीय हैं।

राजनीतिक संघर्ष और धार्मिक उन्माद

(१३३७ से १५७३ तक)

राजनीतिक उथल-पुथल

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के उत्थान के पश्चात् चौदहवीं शताब्दी राजनीतिक शिथिलता और धार्मिक पतन को साथ लेकर आई। तेरहवीं शताब्दी तक जापान का शासन होजो परिवार के सुदृढ़ हाथों में था। इसका परिणाम यह था कि देश उन्नति कर रहा था। परन्तु चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से घटनायें पलटने लगीं। १३३३ ई० में होजो परिवार गद्दी से उतार दिया गया। अब उत्तराधिकार के लिये भयंकर संघर्ष हुआ। इस समय जापान में दो समानान्तर वंश शासन करने लगे। इनमें उनसठ वर्ष तक परस्पर युद्ध चलते रहे। १३९२ ई० में अशिकागा वंश सफल हुआ। परन्तु ये लोग कर उगाहने वाले सैनिकों अथवा महामारियों से कम भयानक न थे। इस समय किसानों को उत्पत्ति का ७ % सरकार को देना पड़ता था। निर्धन जनता से प्राप्त किया हुआ यह धन प्रजा के उपकार में व्यय न कर विलासिता में लगाया जाता था। इस समय बड़े बड़े राजप्रासाद और कोठियां बनाने में अपार धन व्यय किया गया। शोगुन योशिमित्सु ने एक प्रासाद पचास लाख डालर की लागत से बनवाया था। इसके एक द्वार पर डेढ़ लाख पौंड व्यय हुए थे। इस समय क्योतो में ६–७ सहस्र सुन्दर कोठियां बनी हुई थीं।[1]

धार्मिक उन्माद

जहां एक ओर राजनीतिक शिथिलता आती जा रही थी वहां दूसरी ओर धार्मिक पतन भी शीघ्रता से हो रहा था। देखने में तो ऐसा प्रतीत होता था कि धर्म अपनी जड़ें दृढ़ कर रहा है क्योंकि इस विषम परिस्थिति में धर्म ही एकमात्र आश्रयस्थान

---

१. देखिये, Studies in Japanese Budhism, Page 131

प्रतीत होता था, परन्तु आचारहीनता, विलासिता और सैनिकवाद की प्रवृत्ति ज़ोरों पर थी। धर्मपथ पर चलने वालों की संख्या अत्यल्प थी। पारस्परिक कलह उग्ररूप में प्रकट हो रहा था। चौदहवीं शताब्दी में निचिरेन् के अनुयायियों ने पूर्वीय जापान में अपने सिद्धान्तों का ज़ोरों से प्रचार किया। मिनोबु में इनका विशाल विहार स्थापित हो गया। कुछ प्रचारकों ने मियेको में प्रचार कर वहां के शाही वंशजों को अपने सम्प्रदाय में लाने का यत्न किया। इससे अन्य सम्प्रदाय वाले इनके विरुद्ध हो गये। उन्होंने इन पर अत्याचार किये। इन अत्याचारों की अनेक कथाय प्रसिद्ध हैं। इनमें सबसे भयंकर निशिन की है। इसके सिर पर लोहे की जलती हुई कढ़ाई रख दी गई। सिर में फफोले फूल उठे। परन्तु यह सब उसने चुपचाप सह लिया। जो स्थान इन झगड़ों के केन्द्र थे उनकी संख्या अस्सी हजार कही जाती है।[1] सबसे भयंकर लड़ाई १५३६ ई० में मियेको में लड़ी गई। यहां ही–एई तथा अमित सम्प्रदाय वालों की सेना[2] ने निचिरेन् के अनुयायिओं पर पर आक्रमण किया। इस लड़ाई में दोनों ओर के बहुत से व्यक्ति मारे गये। प्रत्येक व्यक्ति यही समझता था कि मैं बुद्ध के लिये लड़ रहा हूं और मरने पर मुझे निर्वाण-प्राप्ति होगी। अमित सम्प्रदाय वाले अपने नेता की अध्यक्षता में लड़ते थे जिसे वे 'होस्-शु' कहते थे। इनमें सबसे योग्य रेन्-यो था। इसकी अध्यक्षता में इन्होंने अपना सुदृढ़ संगठन किया था। जब कभी अमित धर्मानुयायी इकट्ठे होते थे तो रेन्-यो का संदेश पढ़ कर सुनाया जाता था। इसमें कहा गया था—"अब हमने दृढ़ निश्चय

१. देखिये History of Japanese Budhism, Page 230.

२. भिक्षुओं की सेना ने।

कर लिया है कि हम शिक्षा या विधियों के द्वारा अपनी शक्ति पर भरोसा न करेंगे। प्रत्युत हम अपने हृदय से अभिताभ पर विश्वास करेंगे। निश्चय से वह हमारी रक्षा करेगा। हमें विश्वास है कि हम मरने के उपरान्त उसी के राज्य में उत्पन्न होंगे, अब हम उसी का नाम जपेंगे, उसी का ध्यान करेंगे, और उसी पर अपने को केन्द्रित करेंगे।" इस विचार ने अमित लोगों में जादू का सा असर किया था। वे युद्ध में जाने से पूर्व इस संदेश को पढ़ते थे। इसे सुन कर वे मरने-मारने पर उतारू हो जाते थे। इस प्रकार रेन्-यो ने अपने विचारों द्वारा भिक्षुओं को धर्मान्ध योद्धा बना दिया था। भिक्षुओं के बड़े २ केन्द्र लड़ाकुओं के अड्डे बन गये थे। भिक्षु लोग धर्म से विमुख रह कर खूनी लड़ाईयों में व्यापृत रहते थे। सोलहवीं शताब्दी में जापानी विहार भिक्षु सैनिकों के कारण बहुत शक्तिशाली हो गये थे। इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि इस समय के भिक्षु जापान की दृढ़तम शक्ति थे। जब नोबुनागा ने जापान को अपनी आधीनता में लाने का उद्योग किया तो उसे बाधित होकर १५७१ ई० में ही-एई पर्वत की सब संस्थाओं को नष्ट करना पड़ा। १५८१ ई० में इसने कोयाशान् पर्वत की संस्थाओं को अपने आधीन किया। बौद्धधर्म के इन केन्द्रों का पतन होने पर देश में विभिन्न सम्प्रदाय और नास्तिक उठ खड़े हुए। इन्होंने गुप्त संस्थाओं का निर्माण कर भद्दे सिद्धान्तों का प्रचार किया। कला और साहित्य भी नैतिकता से शून्य था। भूत-प्रेतों के विचारों ने लोगों को भयभीत बना दिया। इस काल के चित्रों में दुःख और भय चित्रित है। धार्मिक और नैतिक दृष्टि से यह काल पतन का था।

१३४८ ई० में अशिकागा ताकोजि ने राजसत्ता का अन्त कर दिया था। अब उसने शाही परिवार के एक सदस्य को नाममात्र के लिये राजा बना कर स्वयं शोगुन बन कर शासन करना आरम्भ

किया। उधर दक्षिणीय द्वीपों में गो-दैगो के वंशज राजा बन बैठे। लगभग आधी शताब्दी तक दोनों में भयंकर लड़ाईयां होती रहीं। अन्ततः १३६२ ई० में अशिकागा योशिमित्सु[1] ने गो-दैगो के वंशजों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर, इस द्वन्द्वकलह का अन्त किया। योग्य सेनापति के अतिरिक्त योशिमित्सु कलाप्रेमी भी था। इसने अनेक भवन और मन्दिर बनवाये, जिनमें क्योतो के 'सोकुकुजि' मन्दिर का नाम उल्लेखनीय है। १३६४ ई० में इसने राजकार्य से निवृत्त होकर भिक्षुवृत्ति स्वीकार की। १४४६ ई० में अशिकागा योशिमासा शोगुन बना। इसके समय सामन्त फिर से प्रबल होगये। १४६७ से १४७७ तक पूरे दस वर्ष, भिन्न भिन्न परिवारों में खूनी लड़ाईयां जारी रहीं। परन्तु योशिमासा ने इधर बिल्कुल भी ध्यान न दिया। वह कला और साहित्य की उन्नति में लगा रहा। १४६० ई० में उसकी मृत्यु के उपरान्त अव्यवस्था बहुत बढ़ गई और सारा जापान छोटे छोटे राज्यों में बंट गया। इस अराजकता का अन्त जापान के तीन महान् राजनीतिज्ञों—नोबुनागा, हिदयोशि और इयसु ने किया।

तोकुगावा शोगुन

(१५७३ से १८६८ तक)

इस अव्यवस्था के बीच नोबुनागा[2] समान वीर पुरुष जापान में पैदा हुआ। इसने १५७३ ई० में अशिकागा वंश को शोगुन पद से पृथक् कर दिया और स्वयं गो-दैना-गोन्[3] की उपाधि धारण कर नोबुनागा

१. इसका शासनकाल १३६८ से १४०८ तक है।

२. यह जापान के मध्यकालीन प्रसिद्ध 'तैरा' वंश का था और एक सामन्त था।

३. 'गो–दैना–गोन्' का अर्थ है—'Vice-Grand-Councillor.'

इयसु के उत्तराधिकारियों—हिदेतादा[1] और इमित्सु[2] ने इस नियम का और भी कठोरता से पालन किया। पारस्परिक उदारता की दृष्टि से इस बात को कितना ही बुरा क्यों न कहा जाये परन्तु इससे जापान को बहुत लाभ हुआ। सारे एशिया में जापान ही पश्चिमीय देशों के प्रभुत्व से बचा रहा; अन्यथा यह भी यूरोपियन शक्तियों के साम्राज्यवाद का शिकार हो गया होता।

धार्मिक दशा

इस समय भिक्षुओं ने भी लड़ाई झगड़े छोड़ कर विद्या की ओर ध्यान दिया। बौद्ध विहार सैनिक छावनियां न रहकर शिक्षा-केन्द्र बन गये। उन में से लड़ाकू प्रचारकों के स्थान पर बौद्ध विद्वान् पैदा होने लगे। धार्मिक शान्ति के साथ साथ कला ने भी उन्नति की। इस युग का सबसे प्रसिद्ध कलाकार कोरिन्[3] है। यह उत्कृष्ट कोटि का कलाकार था। इसने अपनी मौलिकता द्वारा कलाक्षेत्र में महान् परिवर्त्तन कर दिखाया। यद्यपि तोकुगावा वंश का शासन सुव्यवस्थित था तो भी जनता में इसके विरुद्ध आन्दोलन चल रहा था। देश की आन्तरिक और बाह्य दोनों परिस्थितियां आमूलचूल परिवर्त्तन चाहती थीं और अन्ततः इन परिस्थितियों ने तोकुगावा वंश को शासन छोड़ने के लिये बाधित किया।

मेईजी[4] युग

(१८६८ से १९३९ तक)

मेईजी

तोकुगावा लोगों के पतन के उपरान्त जनता में यह आन्दोलन चलने लगा कि समान्तों की शक्ति नष्ट कर राजा को अधिक शक्ति-

---

१. इसका शासनकाल १६०५ से १६२३ तक है।

२. इसका शासनकाल १६२३ से १६५१ तक है।

३. इसका काल १६५८ से १७१८ तक है।

४. 'मेईजी' का अर्थ है—प्रबुद्ध शासन Enlightened Goverment)

शाली बनाया जाये। वह स्वयं नियम बनाये और स्वयं राज्य का संचालन करे। स्थानीय सामन्तों का उसमें कोई स्थान न रहे। सामन्त-पद्धति को नष्ट कर केन्द्रीय सरकार को दृढ़ बनाया जाये। इस प्रकार १८६८ ई० में जब जापान लम्बी नींद से जागा तो उसने उन्नतिकी दौड़ में अपने को और राष्ट्रों से पीछे न रखने का दृढ़ संकल्प किया। पुरानी रूढ़ियां तोड़ कर नवीन जागृति पैदा की। १८६८ ई० में राजा मेईजी[1] ने एक घोषणा प्रकाशित की। इस में कौंसिल–निर्माण सामन्त प्रथा का नाश और विदेशों से ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख किया गया था। यह घोषणा नये जापान का 'मैग्नाचार्टा'[2] कही जाती है। इस समय तोक्यो को राजधानी बनाया गया। सभी सामन्त केन्द्रीय सरकार के आधीन हो गये। सर्वजनिक शिक्षा तथा बाधित सैनिक शिक्षा प्रचलित की गई। पाश्चात्य विज्ञान का प्रसार हुआ और समग्र उन्नति का कारण एकमात्र इसाई मत को मान कर लोग उसकी ओर तीव्रता से आकृष्ट होने लगे।

पाश्चात्य विचारों के बहते हुए प्रबल प्रवाह ने चारों ओर प्रति-क्रिया पैदा कर दी। देश के कोने कोने में भयंकररूप से असन्तोष फैल गया। 'पाश्चात्य विचारधारा छोड़ दो' 'राष्ट्रीय विचारों को अपनाओ' 'जापान' जापानियों का है'—ये विचार इस युग के पथ-प्रदर्शक बने। इस अन्दोलन के कर्णधार वे बौद्ध नवयुवक थे जिन्होंने इसाई-भिन्न शिक्षणालयों में शिक्षा पाई थी और जिन पर पाश्चात्य विचारों का तनिक भी रङ्ग न चढ़ा था। अपने आन्दोलन को सफल बनाने के लिये इन युवकों ने कई संघ बनाये थे। उन में से कुछ के नाम ये हैं:— बौद्धधर्म का पुनरुत्थान

१. इसी के नाम से इस युग का नाम 'मेईजी युग' है।

२. 'मैग्नाचार्टा' का अर्थ है–महान् विशेषाधिकार, मैग्ना = महान्, चार्टा = चार्टर = विशेषाधिकार।

(१) सिंहासन की पूजा और बुद्ध के प्रति आदर के लिये बनाया गया संघ।

(२) जापान के राष्ट्रधर्म का संघ।

(३) बौद्धधर्म और राष्ट्रीय नियम का संघ।

इनका इसाईमत पर गहरा प्रभाव पड़ा। बहुतों ने गिरजाघरों में जाना छोड़ दिया। इसाईयों का यह विश्वास कि 'हम सम्पूर्ण राष्ट्र को इसाई बना लेंगे' एक मिथ्या स्वप्न मालूम होने लगा। इस आन्दोलन ने जापानियों के पश्चिम की ओर बहते हुए मनों को अपने देश की ओर खींच लाने में बड़ी सहायता की। स्वदेशप्रेम के अतिरिक्त बौद्धधर्म का भी उद्धार हुआ। जनसाधारण के हृदय में यह विश्वास उत्पन्न हो गया कि बौद्धधर्म भूतकाल का भग्नावशेष नहीं, अपितु राष्ट्रकल्याण के लिये सदा नवीन, वह सुंदर संदेश है जो न तो योरुप के पास है और न वहां की इसाईयत के ही। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बौद्धधर्म का पुनरुत्थान हुआ। १८७० ई० में बौद्धधर्म, राष्ट्रधर्म के रूप में स्वीकृत किया गया। इसी समय बौद्धधर्म को अन्य देशों में प्रचलित करने के लिये भी प्रयत्न हुए। इस काल में हवाई द्वीप में बौद्धधर्म फैला। १९१२ ई० में जब मेईजी बीमार पड़ा तो सब सम्प्रदाय वाले राजप्रासाद के सम्मुख आकर उसकी दीर्घायु के लिये प्रार्थना करने लगे। जनता में अपूर्व राष्ट्रप्रेम और धर्मप्रेम दिखाई देता था। मृत्यु के अनन्तर तोक्यो के समीप उसका स्मारक बनाया गया। आज यह तीर्थस्थान बना हुआ है। देश के विविध भागों से यात्री लोग इसका दर्शन करने आते हैं। आज भी जापान में बौद्धधर्म का प्रचार है। स्थान स्थान पर मंदिर और विहार बने हुए हैं। जापान की सब से महत्त्वपूर्ण वस्तु ये मंदिर ही हैं। यही कारण है कि जनता का अधिकांश धन मंदिर-

निर्माण में व्यय होता है। जापानी स्त्रियों और पुरुषों के जीवन का सुखतम समय इन्हीं बौद्ध मंदिरों में व्यतीत होता है।

जापान के सभी सम्प्रदायों में पर्य्याप्त संख्या विवाहित भिक्षुओं की है। इस प्रथा का प्रवर्त्तक होनन् था। इसीसे होनेन् के अनुयायी[1] इस नियम का पालन करते हैं। परन्तु भिक्षुओं में अधिकांश संख्या ब्रह्मचारियों की है। ये विहारों में एक साथ निवास करते हैं। कुछ भिक्षुओं के पास निजू घर भी हैं पर ऐसे भिक्षुओं की संख्या बहुत कम है। जापानी भिक्षुओं का जीवन बहुत कुछ चीनी भिक्षुओं का सा है। भिक्षु लोग तीन बजे उठ कर बुद्ध के सम्मुख खड़े होकर प्रार्थना करते हैं। इसके अनन्तर प्रातराश बंटता है और फिर घन्टा भर स्वाध्याय होता है। प्रातःकाल का समय स्वाध्याय, व्याख्यान और मन्दिर-प्रबन्ध में व्यतीत होता है। ग्यारह बजे दुबारा प्रार्थना होती है। मध्याह्न में अध्ययनादि कार्य्य होते हैं। सायंकाल छः बजे रात्रि-भोजन होता है। शयन से पूर्व तीसरी वार प्रार्थना होती है। जेन्-भिक्षुओं का जीवन साधारण भिक्षुओं से अधिक तपस्यामय होता है। ये सब कार्य्य स्वयं करते हैं। भिक्षा मांग जीवन निर्वाह करते हैं। इनके विहारों में प्रातराश से पूर्व एक घन्टा ध्यान भी होता है। कुछ विहारों में व्याख्यान भी होते हैं। जापानी भिक्षु चीनी भिक्षुओं की तरह विनय की प्रथा[2] को नहीं मानते। केवल शिंगान सम्प्रदाय के थोड़े से भिक्षु इस व्रत का पालन करते हैं। प्रायः भिक्षु प्रचरार्थ गृहस्थों के घरों पर भी जाते हैं। परन्तु भिक्षुकियां भिक्षुओं की अपेक्षा विहारों से बाहर कम निकलती हैं। भिक्षु बारह वर्ष की अवस्था में संघ में प्रविष्ट किये जाते हैं। प्रवेश संस्कार चीनी

जापानी भिक्षु

---

१. अमित सम्प्रदाय वाले।

२. मध्याह्नोत्तर भोजन न करना।

भिक्षुओं की ही तरह होता है। किन्तु इनके यहां त्वचा जला कर छेद करने की प्रथा नहीं है। यह चीन की ही विशेषता है।

बौद्ध मन्दिर जापान में नये और पुराने बहुत से मन्दिर हैं। इनका मुख चीनी प्रथा के अनुसार दक्षिण की ओर है। परन्तु बहुत से इस प्रथा के अपवाद भी हैं। तोक्यो का प्रसिद्ध मन्दिर हिगेशि-होङ्-वन्-जि ऐसे ही अपवादों में से एक है। इसका मुख पूर्व में है। जापानी मन्दिरों में चीनी और कोरियन मन्दिरों की तरह भद्दी सजावट नहीं होती। जापानी मन्दिरों में सफाई, आंगन और चहारदिवारी ये तीन चीजें आवश्यक तौर पर पाई जाती हैं। एकाध मन्दिर इस प्रथा के अपवाद भी हैं। चहारदिवारी में घुसने के लिये एक छता हुआ द्वार होता है। इस पर प्रायः इन्द्र और ब्रह्मा की बड़ी भयंकर सी मूर्त्तियां बनी रहती हैं। कई मन्दिरों पर इन्द्र और ब्रह्मा के बदले चार लोकपालों की मूर्त्तियां बनी हुई हैं।

तोक्यो का प्रसिद्ध मन्दिर हिगेशि-होङ्-वन्-जि अमित सम्प्रदाय के मन्दिरों का प्रतिनिधि है। इसके चारों ओर एक दीवार है। इसमें तीन द्वार हैं। बीच का द्वार बहुत बड़ा है। दरवाजे की छत दोहरी है। छत पर सुन्दर पच्चीकारी है। दरवाजे में घुसते ही विशाल आंगन आता है। इसमें बाईं ओर एक छोटा सा मन्दिर है। दक्षिणीय द्वार के समीप घन्टाघर है। आंगन के बीच में कमल-मुकुलाकृति फुआरों से पानी छूटता है। पास ही पानी से भरा एक हौज है। यहां पुजारी लोग हाथ पैर धोते हैं। आंगन के पश्चिम में दो भवन हैं। इन में से जो उत्तर की ओर है, वह बड़ा है। इसे 'संस्थापकगृह'[1] कहते हैं। दक्षिण की ओर का अपेक्षाकृत छोटा है।

---

१. जापानी भाषा में इसे 'होन्-दो' = होनेन् का भवन कहते हैं।

इसे 'अमिताभगृह' [1] कहते हैं। ये दोनों भवन एक छते हुए मार्ग से मिले हुए हैं। मार्ग में बालों से बने हुए रस्से लिपटे पड़े हैं। ये बाल उत्साही बौद्ध स्त्रियों ने मन्दिर-निर्माण के समय अपने सिरों से काट कर दिये थे। उन्हीं से ये रस्से बनाये गये जिनसे बड़े बड़े शहतीर उठाये गये थे।

शिंगान सम्प्रदाय के मन्दिरों में, आङ्गन के बीच में, पत्थर का एक स्मारक होता है। इसके पांच भाग होते हैं जो कि पांच तत्त्वों के प्रतिनिधि समझे जाते हैं। सबसे निचला भाग घन आकृति का होता है। इसे पृथ्वी का प्रतिनिधि कहा जाता है। इसके ऊपर गोल आकृति का। यह जल का प्रतिनिधि है। तीसरा शङ्कु सदृश। यह अग्नि का प्रतिनिधि है। चौथी चन्द्रकला। यह वायु का प्रतिनिधि है। सबसे ऊपर पतली नोक वाली गेंद होती है। यह आकाश का प्रतिनिधि है। मन्दिर का प्राङ्गण जापान की सुन्दरतम वस्तु समझी जाती है। पत्थर के लैम्प, ऊंचे ऊंचे देवदारु के वृक्ष, पानी छोड़ते हुए फुआरे, घण्टाघर, सुनहरी मछलियों और कमलों से परिपूर्ण सरोवर, उड़ते हुए कबूतर, पुजारियों की शान्तमुद्रायें तथा खेलते हुए बच्चों के प्रसन्नवदन—ये सब चीजें मन्दिर की शोभा को खूब बढ़ाती हैं। बहुत से मन्दिरों के बाहर 'बिनुजुरू' की मूर्त्ति बनी रहती है। इसके विषय में कहा जाता है कि इसने एक बार किसी स्त्री की ओर बहुत उत्सुकता से देखा था। इस पाप के कारण इसे मन्दिर-प्रवेश की आज्ञा नहीं है और यह सदा मन्दिर के बाहर ही रहता है।

मन्दिर की आन्तरिक व्यवस्था भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में भिन्न भिन्न प्रकार है। तैन्दाई मन्दिरों में एक जंगला होता है जो मुख्य

---

१. जापानी भाषा में इसे 'अमिदा–दो' = अमिताभ का भवन कहते हैं।

भवन को दो विषम भागों में विभक्त करता है। सबके सब पुजारी जंगले के पास आकर मूर्त्ति की ओर देखते हुए झुकते हैं। तैन्दाई मन्दिरों की प्रधानमूर्त्ति शाक्यमुनि, अमिताभ या घन–ग्यो–ताईशी की होती है। शिंगान मन्दिरों की व्यवस्था बहुत कुछ तैन्–दाई मन्दिरों की सी होती है। इनके मन्दिरों की प्रधानमूर्त्ति शाक्यमुनि, अमिताभ या कोबो–ताईशी की होती है। ज़ेन् सम्प्रदाय के मन्दिरों में निम्न सात वस्तुएं आवश्यक तौर से पाई जाती हैं—:

(१) द्वार
(२) बुद्धमन्दिर
(३) उपदेशभवन
(४) ध्यानशाला
(५) प्रधान पुरोहितवास
(६) घण्टाघर और
(७) स्नानागार

जेन् मन्दिरों में प्रधानमूर्त्ति शाक्यमुनि की होती है। अमित-सम्प्रदाय के मन्दिरों में दो भवन होते हैं। एक 'संस्थापक भवन' और दूसरा 'अमिताभ भवन'। एक में होनेन् की और दूसरे में अमिताभ की प्रतिमा रहती है। तैन्दाई मन्दिरों की तरह इनमें भी जंगला होता है। इनकी आन्तरिक व्यवस्था बहुत सादी होती है। निचिरेन् सम्प्रदाय के मन्दिरों की महत्त्वपूर्ण वस्तु ढोल है। यह विशेष प्रकार का होता है। इसका व्यास लगभग दो फ़ीट रहता है। इनके यहां भिक्षापात्र की आकृति का एक पात्र भी धरा रहता है। इनमें प्रधानमूर्त्ति शाक्यमुनि या निचिरेन् की होती है।

उपसंहार

अति प्राचीन काल से जापानियों का यह विश्वास है कि सूर्य्य का सर्वप्रथम उदय इनके देश में ही होता है। इसलिये ये जापान

को 'सूर्य्योदय का देश' कहते हैं। जापान में नाना प्रकार के रंग-बिरंगे फूलों की अत्यधिकता है। प्रायः प्रत्येक गृह उद्यान सा प्रतीत होता है। जापानियों को फूलों से बहुत प्रेम है। इसलिये ये अपने देश को 'फूलों का देश' भी कहते हैं। राजनीतिक उत्कर्ष, सामरिक सन्नाह, ललित कलायें, व्यापार—कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं जिसमें जापान, संसार के किसी देश से एक इञ्च भी पीछे हो। जापानी लोग अपनी समस्त उन्नति का श्रेय प्रायः कर एक दूसरे ही आध्यात्मिक सूर्योदय को देते हैं। वह है बौद्धधर्म। जापान के महात्माओं ने बड़े बड़े अत्याचार, सामाजिक धिक्कार, अन्धेरे कारागार, घोर से घोर शारीरिक यन्त्रणायें तथा विषम से विषम विघ्न बाधाओं को सहकर अपने प्रिय धर्म की रक्षा की है। कौन जानता है कि आज के वज्रवत् दुर्धर्ष, शक्तिशाली, सुखसमृद्धिसम्पन्न जापान के पुष्पवत् विकसित वदन पर यह आभा, यह दीप्ति और यह प्रकाश उन धार्मिक आहुतियों का ही है। जापान के शिशु आज भी बौद्ध-मन्दिरों में खेलते हुए, बालरवि की कोमल रश्मिमाला से प्रस्फुटित कलियों की मुग्धता के साथ, ममतामयी माता के स्तन्यपान के साथ, मन्द समीर के उच्छ्वास में विलीन होते हुए सौरभ के आत्मोत्सर्ग के साथ भगवान् अमिताभ की आभा से अपने हृदय-कमल को चिरकाल के लिये आलोकित किया करते हैं। 'नमः अमित बुद्धाय' का जो संजीवनी नाद लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व भारत की हृदय-गुहा से उठा था वह हिमालय के हिममण्डित शिखरों को प्रकम्पित कर, प्रशान्तमहासागर की ऊर्मिमालाओं को उद्वेलित करता हुआ आज जापान के वायुमण्डल में गूंज रहा है—'नामु अमिता बुत्सु।'

षष्ठ-संक्रान्ति

तिब्बत में बौद्ध संस्कृति

षष्ठ-संक्रान्ति

तिब्बत में बौद्ध संस्कृति

बौद्धधर्म के आगमन से पूर्व। बौद्धधर्म तिब्बत के द्वार पर—पण्डित और अनुवादक निराश लौटे, भारत में थॉन्-मि-सम्-भो-ता का आगमन, स्रोङ्-सेन्-गम्-पो महान्। तिब्बत में भारतीय पण्डित—आचार्य्य शान्तिरक्षित को निमंत्रण, पद्मसम्भव तिब्बत को, कमलशील ने जयमाला पहनी। तिब्बत का स्वर्णयुग। बहिष्कार और पुनरागमन—बौद्धधर्म पर घातक प्रहार, अव्यवस्था की उत्पत्ति, परिवर्त्तन, पुनरागमन, आचार्य्य अतिशा तिब्बत में। बौद्धधर्म राष्ट्रधर्म के रूप में—निरन्तर उन्नति के पथ पर, मर् पा महान्, कार्पास वस्त्रवेष्टित मी-ला, सा-क्या विहार की स्थापना, सा-क्या शासक के रूप में, सी-तू तिब्बत का एकछत्र अधिपति, बौद्धधर्म राष्ट्रधर्म के रूप में। सुधारकाल—पारस्परिक कलह, धार्मिक संशोधन। मङ्गोलों में बौद्धधर्म का प्रचार—सो-नम्-ग्या-सो मङ्गोलिया में, ताले-लामा प्रथा की प्रतिष्ठा, सो-नम्-ग्या-सो का मङ्गोलिया में पुनर्जन्म। ताले-लामा राजा और धर्माचार्य्य के रूप में—राज्यशक्ति की प्राप्ति, पोतला प्रासाद, मृत्यु गुप्त रक्खी गई, छठा ताले-लामा और उसका उत्तराधिकारी, चीनी प्रभुत्व से छुटकारा, चार अल्पवयस्क ताले-लामा, भविष्य भाषिणी झील। वर्त्तमान स्थिति—ताले-लामा का चुनाव, ताले-लामा की शिक्षा, ताले-लामा की कार्य्यप्रणाली, भिक्षुओं का रहन-सहन, भिक्षुओं की दिनचर्या, उपसंहार।

बौद्धधर्म के आगमन से पूर्व

पाटलिपुत्र की तृतीय सभा के पश्चात् सम्राट् अशोक ने विविध देशों में बौद्धधर्म के प्रचारार्थ जो प्रयत्न प्रारम्भ किया था, वह निरन्तर फल ला रहा था। लंका के पश्चात् खोतन, चीन, कोरिया तथा जापान में बौद्धप्रचारक भगवान् बुद्ध का सत्य सन्देश सुना चुके थे और अब सातवीं शताब्दी में तिब्बत भी बुद्ध का

अनुगामी बनने को तय्यार हो गया था। *यद्यपि तिब्बत, भारत के* बहुत समीप है और केवल हिमालय की पर्वतमाला ही दोनों देशों को विभक्त करती है, तो भी तिब्बत तक बौद्धधर्म पहुंचने में शताब्दियां व्यतीत हो गईं।

बौद्धधर्म के प्रवेश से पूर्व तिब्बत में पॉनधर्म प्रचलित था। तब तक वहां के निवासी दैवीय तथा पार्थिव शक्तियों में विश्वास रखते थे। पर्वत, नदी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्रों की पूजा करते थे। वर्ष में एक वार वे इकट्ठे होते थे और भेड़, कुत्ता तथा बन्दर की बलि देते थे। छठी शताब्दी तक तिब्बत में इसी धर्म का प्राधान्य था। सातवीं शताब्दी में बौद्धधर्म का सर्वप्रथम आगमन हुआ। बौद्धधर्म के आने पर पहले से विद्यमान पॉनधर्म से उसका मिश्रण होना स्वाभाविक था। इस मिश्रण का नाम ही 'लामाधर्म' है। फिर भी पूर्वहिमालय और पश्चिम-चीन की कुछ जातियां आज तक शुद्ध पॉनधर्म को मानती हैं। तिब्बत में—विशेषतया दक्षिणपूर्वीय तिब्बत में—इसका पर्याप्त प्रचार है। कई स्थानों पर इसके विहार भी हैं। चुम्बि घाटी में इसके चार विहार हैं। पॉन विहारों की मूर्त्तियां और चित्र बौद्ध विहारों जैसे ही हैं। भेद केवल इतना ही है कि इन्होंने उनके नाम बदल दिये हैं। गौतम-बुद्ध को वे 'शन्–रप्' नाम से पुकारते हैं। पद्मसम्भव की मूर्त्ति पॉन मन्दिरों में भी विद्यमान है। बौद्ध लोग कहते हैं कि इनका जन्म उद्यान[1] देश की झील के एक कमल में हुआ था और पॉन कहते हैं कि ये शक्-शक् में एक पुरुष के घर उत्पन्न हुए थे। पॉन-धर्म के ग्रन्थ भी बौद्ध ग्रन्थों से मेल खाते हैं। परन्तु पॉन लोगों ने उनके नाम परिवर्तित कर दिये हैं तथा कई भाग अपने धर्म के

---

१. उद्यान = वर्त्तमान स्वात देश, काश्मीर और अफगानिस्तान का मध्यवर्ती प्रदेश।

अनुकूल कर लिये हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि पॉनधर्म पर बौद्धधर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। फिर भी दोनों धर्मों में कुछ भेद अवश्य है। पॉनधर्म प्राचीन है और शङ्-शङ् प्रान्त से तिब्बत में प्रचलित हुआ है। बौद्धधर्म पीछे से आया और भारत से वहां फैला। पॉन लोग 'ओम्-म-त्रे-मु-ये-स-ले-दु, का जप करते हैं और बौद्ध लोग 'ओम्-मनि-पे-मे-हुन्' का।

बौद्धधर्म तिब्बत के द्वार पर

पण्डित और अनुवादक निराश लौटे

तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रवेश के संबन्ध में एक कथानक प्रचलित है। कहा जाता है—"चौथी शताब्दी में राजा के प्रासाद पर आकाश से एक सन्दूकड़ी गिरी। इसमें कुछ बौद्ध ग्रन्थ तथा एक स्वर्णनिर्मित चैत्य था। राजा ने उठा कर इनकी पूजा की। उस समय राजा की आयु साठ वर्ष थी। पूजा के पश्चात् वह साठ वर्ष तक और जीवित रहा। इसी बीच एक रात उसे स्वप्न में ज्ञात हुआ कि उसका पांचवां उत्तराधिकारी उन ग्रन्थों का अभिप्राय जानेगा।"[1] यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कथा बौद्धधर्म को चामत्कारिक धर्म सिद्ध करने के लिये गढ़ी गई है। वास्तविकता तो यह है कि चौथी शताब्दी में 'लो–सेम्–सो'[2] नामक एक पण्डित 'लि-ते-से' नामक एक अनुवादक के साथ कुछ बौद्धग्रन्थ लेकर तिब्बत पहुंचा।[3] परन्तु राजा के अपढ़ होने से पण्डित और अनुवादक ग्रन्थ देकर लौट आये। 'तो-तो-रि' के शासनकाल में ग्रन्थ फिर से राजा के सम्मुख उपस्थित किये गये। किन्तु इस समय तक भी तिब्बत में लिखना-पढ़ना प्रचलित न हुआ था। अतः उन ग्रन्थों का अभिप्राय न जाना जा सका।

---

१. देखिये, The religion of Tibet, by Charles bell, Page 33

२. यह उस पण्डित का तिब्बती नाम है।

३. देखिये, The religion of Tibet, Page 33.

भारत में तॉन्-मि-सं-बो-ता का आगमन

६२९ ई० में 'स्रोङ्-सेन्-गम्-पो'[1] राज्यारूढ़ हुआ। इसने अपने राज्याभिषेक के तीसरे वर्ष अनु के पुत्र 'तॉन्-मि-सं-बो-ता' को अन्य सोलह व्यक्तियों के साथ बौद्धग्रन्थ लाने तथा भारत की भाषा सीखने के लिये यहां भेजा। अनेक कठिनाईयां झेलता हुआ यह मण्डल भारत पहुंचा। यहां तॉन्-मि ने लिपिदत्त और सिंहघोष से भारतीय वर्णमाला का ज्ञान प्राप्त किया। यह वर्णमाला 'हर्हा' के मौखरी शिलालेख और काश्मीर की तात्कालिक लिपि से बहुत मेल खाती थी। इसी के आधार पर तॉन्-मि ने अपने देश के लिये एक नई वर्णमाला तय्यार की। स्वदेश लौटने से पूर्व उसने 'करण्डव्यूहसूत्र' और 'अवलोकितेश्वरसूत्र' आदि कई ग्रन्थ इस नई भाषा में अनूदित कर डाले। अठारह वर्ष तक भारत में रहने के उपरान्त यह दूतमण्डल बहुत से ग्रन्थ लेकर तिब्बत लौटा। वहां जाकर तॉन-मि ने इस नई भाषा का प्रचार किया। राजा को भी उसने यह भाषा सिखाई। इस भाषा का व्याकरण भी बनाया गया जो पाणिनि और चन्द्रगोमिन् के आधार पर तय्यार किया गया था।

स्रोङ्-सेन्-गम्-पो महान्

स्रोङ्-सेन् गम्-पो तिब्बत का महाप्रतापी सम्राट् माना जाता है। इसके समय देश की राजनीतिक स्थिति बहुत अच्छी थी। अपनी सुदृढ़ सेनाओं द्वारा इसने चीन और नैपाल पर आक्रमण कर उनके कुछ प्रदेश जीत लिये। ६४१ ई० में इसने चीनी राजकुमारी से विवाह किया और इसके कुछ ही समय पश्चात् नैपाल के राजा अंशुवर्मन् की लड़की भृकुटिदेवी से। ये दोनों राजकुमारियां बौद्धधर्मानुयायिनी थीं। इनके संसर्ग से राजा भी बौद्ध बन गया और बौद्धधर्म के प्रचारार्थ प्रयत्न करने लगा। उसने अनेक

१. इसका अर्थ है—'सच्चरित-सशक्त-गम्भीर' (Straight-Strong-Deep)

विहार बनवाये, मंदिर खड़े किये और विविध देशों से बौद्ध पण्डितों को आमंत्रित किया। इसी ने 'ल्हासा' को अपनी राजधानी बनाया। जिस पर्वत को वर्तमान समय में 'पोतळा' कहते हैं, उसका प्राचीन नाम 'रक्तपर्वत' है। इस पर इसने एक दुर्ग बनवाया। इन कृत्यों के कारण यह आज तक तिब्बतियों का आदरास्पद बना हुआ है। तिब्बती लोग इसे 'चेन्-रे-जी'[1] का अवतार मानते हैं। तिब्बती चित्रकारों को स्रोङ्-सेन्-गम्-पो का यह चित्र खींचना बहुत प्रिय है, जिस में यह धर्मचक्र का प्रवर्त्तन कर रहा है, इसके सिर पर अपार प्रकाश पड़ रहा है और इसने श्वेत रेशम का चीवर पहिना हुआ है, जिसे केवल बड़े बड़े सम्राट् ही पहन सकते हैं।

तिब्बत में भारतीय पंडित

स्रोङ्-सेन्-गम्-पो के उपरान्त उसके पोते 'त्रि-दे-सक्-तेन्' ने बौद्धधर्म के प्रचारार्थ बहुत प्रयत्न किया। इसने सूत्रग्रन्थ, ज्योतिष तथा वैद्यक ग्रन्थों का अनुवाद किया और लद्दाख से भिक्षु बुलवाये। यह सब कुछ करने पर भी कोई व्यक्ति भिक्षु बनने को उद्यत न हुआ। इसका कारण यह था कि तब तक पॉनधर्म का लोगों पर पर्य्याप्त प्रभाव था। सौ वर्ष तक यही दशा रही और तिब्बत में बौद्धधर्म की जड़ न जम सकी। सौ वर्ष पश्चात् 'ति-सोङ्-दे-सेन्' राजा हुआ। इसके मंत्री का नाम 'म-भ्रङ्' था। यह बहुत शक्ति-सम्पन्न तथा बौद्धधर्म का कट्टर विरोधी था। इस के डर से राजा बौद्धधर्म का पक्षपाती होता हुआ भी कुछ न कर सकता था। इसी समय एक सरकारी कर्मचारी चीन से बहुत से बौद्ध ग्रन्थ लाया परन्तु म-भ्रङ् के भय से उन्हें छिपाये रहा। कालान्तर में साहस करके उसने अपने द्वारा शासित प्रान्त में दो विहार बनवाये। इस

आचार्य शान्तिरक्षित को निमंत्रण

१. यह दया का देवता माना जाता है। इसका भारतीय नाम अवलोकितेश्वर है।

पर वह पदच्युत कर दिया गया। वहां से वह नैपाल गया, जहां भारतीय पण्डित शान्तिरक्षित से उसकी भेंट हुई। उसकी इच्छा थी कि वह उन्हें अपने साथ तिब्बत ले चले परन्तु वह उन्हें तब तक न ले जा सकता था जब तक वहां अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न न हो जायें। इसी बीच में मंत्रियों में से 'गॉ-त्रि-जङ्' नामक एक बौद्ध मंत्री ने राजा के साथ गुप्तरूप से षड्यन्त्र रच कर म-फङ् को जीवित ही पृथ्वी में गड़वा दिया।[1] अब बौद्धधर्म के लिये उपयुक्त वातावरण तय्यार हो गया था। अतः राजा ने शान्तिरक्षित[2] को आमंत्रित किया। तिब्बत पहुंचकर शान्तिरक्षित ने बौद्ध शिक्षाओं का प्रचार किया। इसी समय देश में एक भयंकर तूफ़ान आया। रक्तपर्वत का प्रासाद बिजली गिरने से खण्ड खण्ड हो गया। फसलें नष्ट हो गईं। मनुष्यों और पशुओं में रोग पैदा हो गया। परिणामत: जनता ने राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और खुले तौर पर कहना आरम्भ किया—ये सब अनर्थ बौद्धधर्म के ही कारण हैं। जब तक यह न आया था हम सुख से रहते थे। परन्तु इसके आते ही हम पर आपत्तियों के पहाड़ टूट पड़े हैं। विवश होकर राजा ने कुछ समय के लिये शान्तिरक्षित को नैपाल भेज दिया कुछ समय पश्चात् वे फिर से बुलाये गये। परन्तु उनकी शिक्षाएं सीधी तथा सरल थीं। दूसरी ओर तिब्बती लोग जादू-टोने से प्रभावित होने वाले थे। इस दशा में उनके उपदेशों का अधिक फल न हुआ। तब शान्तिरक्षित ने राजा को सलाह दी—"आप भारत से आचार्य पद्मसम्भव को बुलायें। वे जादू टोने को अच्छी तरह जानते हैं और इसके अद्वितीय विद्वान् हैं। वे ही इस देश के लोगों को भूत-प्रेतों से रहित

---

१ देखिये, The Religion of Tibet, Page 35

२. ये नालन्दा विश्वविद्यालय के उपाध्याय थे।

कर सकते हैं और जब तक भूत-प्रेत के विचार न हटें तब तक बौद्धधर्म का प्रचार कर सकना असम्भव है।" शान्तिरक्षित की प्रेरणा पर राजा ने पद्मसम्भव को आमंत्रित किया।

राजा का निमंत्रण पाकर ७४७ ई० में पद्मसम्भव[1] तिब्बत पधारे। वहां पहुंचने पर बड़ी धूमधाम से उनका स्वागत हुआ। पद्मसम्भव पद्मसम्भव तिब्बत को

१. तिब्बती ग्रन्थों में पद्मसम्भव का जीवन बड़े मनोरञ्जक रूप में वर्णित किया गया है—"कहा जाता है कि एक समय भारतवर्ष के जतुमती नगर में इन्द्रबोधी नाम का एक अन्धा राजा राज्य करता था। यह उद्यान देश का शासक था। राजा के एक ही लड़का था, जिसकी मृत्यु से राज्य में शोक छाया हुआ था। चारों ओर भीषण दुर्भिक्ष ताण्डव नृत्य कर रहा था। राजकोष निरन्तर खाली हो रहा था। ऐसी विषम परिस्थिति में राजा और प्रजा ने मिल कर बुद्ध को भेंट दी और इस दुःख से छूटने के लिये प्रार्थना की। प्रार्थना से प्रभावित होकर भगवान् स्वयं लाल किरणों के रूप में झील में अवतरित हुए। इसी रात राजा ने स्वप्न में देखा कि मेरे हाथ में स्वर्णमय वज्र है और मेरा शरीर सूर्य की भाँति चमक रहा है। प्रातःकाल होने पर राजकीय पुरोहित त्रिशधर ने राजा को सूचना दी कि पद्मझील महाप्रकाश से प्रकाशित हो रही है और अपने प्रकाश से तीनों लोकों में चकाचौंध कर रही है। इसके अनन्तर राजा ने, जिसे चमत्कार द्वारा चक्षुशक्ति प्राप्त हो गई थी, स्वयमेव जाकर झील को देखा। झील के बीचोंबीच एक अनुपम फूल खिला हुआ था, जिसके मध्य में एक अष्टवर्षीय दिव्य बालक बैठा हुआ था और उससे चारों ओर प्रकाश की किरणें विक्षिप्त हो रही थीं। बालक के चरणों पर मस्तक नँवा कर राजा ने कहा—ऐ अद्वितीय बालक! तुम कौन हो, तुम्हारा पिता कहां है और तुम किस देश के वासी हो? यह सुन कर बालक ने उत्तर दिया—मैं अपने पिता को जानता हूं। मैं बुद्ध शाक्यमुनि की भविष्योक्ति से यहां आया हूं। उसने भविष्यद्वाणी की थी कि मेरी मृत्यु के बारह सौ वर्ष पश्चात् उद्यान देश की पद्मझील में मुझ से भी अधिक यशस्वी एक बालक कमलपुष्प में जन्म लेगा। वह पद्मसम्भव नाम से विख्यात होगा। मेरे सिद्धान्तों का प्रचार करेगा और प्राणियों को दुःख से छुड़ायेगा। बालक की अलौकिक शक्ति से प्रभावित होकर राजा उसे राजप्रासाद में ले गया। उसका नाम पद्मसम्भव रक्खा और उसे अपने पुत्र की भाँति पालना आरम्भ किया। इस समय से देश की समृद्धि

ने अपनी चामत्कारिक शक्ति से भूत-प्रेतों को पराजित कर दिया। ७४६ ई० में उन्होंने ल्हासा से तीस मील दक्षिणपूर्व में 'सम्-ये' नामक स्थान पर एक विहार बनवाया। यह भारत के उदन्तपुरी विश्वविद्यालय के अनुकरण पर बनाया गया था।[1] यह आज भी विद्यमान है और तिब्बत के बड़े बड़े विहारों में गिना जाता है। इस विहार में सर्वास्तिवादिन् सम्प्रदाय के सिद्धान्त प्रचलित किये गये। भारत से इस सम्प्रदाय के बारह भिक्षु बुलाये गये और शान्तिरक्षित को उनका आचार्य नियुक्त किया गया। सात व्यक्तियों को भिक्षु व्रत धारण कराया गया। यह प्रथम समय था जब किसी तिब्बती ने भिक्षुवस्त्र पहिने थे। इससे पहिले एक-दो बार प्रयत्न किया गया था परन्तु उस में सफलता प्राप्त न हुई थी। अबकी बार भी परीक्षण के लिये सात योग्य व्यक्ति चुने गये थे। राजा यह देखने को उत्सुक था कि क्या तिब्बती लोग भिक्षुधर्म का पालन कर सकते हैं? राजा अपने प्रयत्न में कृतकार्य हुआ और तब से तिब्बती लोग भी भिक्षु बनने लगे।

इधर पद्मसम्भव के तांत्रिक प्रयोगों से पॉन लोग बिगड़ उठे। पॉन मंत्रियों ने राजा को पद्मसम्भव के विरुद्ध भड़का दिया।

बढ़ने लगी और सब ओर पवित्र धर्म का प्रसार होने लगा। यह घटना तिब्बती वर्ष के सातवें मास के दसवें दिन हुई थी।" देखिए, Lamaism, by Waddell, Page 380-83

इस मे सन्देह नही कि पद्मसम्भव का यह जीवन अनेक असम्भव घटनाओं से परिपूर्ण है। वस्तुस्थिति तो यह है कि पद्मसम्भव उद्यान देश के राजा इन्द्रबोधी के पुत्र थे। उन्होंने बुद्धगया मे शिक्षा प्राप्त की थी। विद्याध्ययन के पश्चात् वे नालन्दा विश्वविद्यालय में उपाध्याय नियुक्त हुए। जब उन्हें तिब्बती सम्राट् का निमंत्रण प्राप्त हुआ तब वे नालन्दा में ही रहते थे। निमंत्रण स्वीकार कर ७४७ ई० में पद्मसम्भव तिब्बत पहुँचे।

१. देखिये, The Religion of Tibet, Page 37.

परिणामतः राजा ने पद्मसम्भव को उसके शिष्यों और नौकरों के साथ सम्मानपूर्वक विदा किया।[1] वे कहां गये, इसका कुछ पता नहीं चलता। वर्त्तमान समय में तिब्बतियों का ऐसा विश्वास है कि वे भूतप्रेतों से घिरे हुए देश में रहते हैं और वह देश तिब्बत के दक्षिणपश्चिम में है। पद्मसम्भव के जो चित्र पाये जाते हैं उन में उन का तांत्रिक स्वरूप प्रकट किया गया है। उनके दायें हाथ में वज्र है और बांये में मनुष्य की खोपड़ी। भुजा के नीचे एक त्रिशूल है जो एक मनुष्य की खोपड़ी में घुसा जा रहा है। दोनों ओर दो स्त्रियां खड़ी हैं जो खोपड़ियों में रुधिर और शराब डाल कर भेंट कर रहीं हैं। तिब्बती लोग इसी रूप में उनकी पूजा करते हैं। वे उन्हें 'गुरु' अथवा 'परमगुरु' के नाम से स्मरण करते हैं। उनके कारण 'पद्म' लामाधर्म का एक चिह्न बन गया है। इसे अमरात्माओं का सिंहासन माना जाता है। यहां तक कि इस पर अनेक सूक्तियां भी बन चुकी हैं।

पद्मसम्भव के चले जाने के उपरान्त भी शान्तिरक्षित अपना कार्य्य करते रहे। उनके अतिरिक्त अन्य अनेक भारतीय पण्डित भी इस समय संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद कर रहे थे। इन में से आर्य्यदेव, बुद्धकीर्ति, कुमारश्री, कर्णपति, कर्णश्री, सूर्य्यध्वज, सुमतिसेन आदि पण्डितों के नाम उल्लेखनीय हैं। धर्मकीर्ति भी इस काल में तांत्रिक विधि द्वारा धर्मप्रचार में संलग्न थे। इसी बीच में घोड़े से गिरकर शान्तिरक्षित का प्राणान्त हो गया। अब चीनी पण्डित-'ह्वा-शङ्ग'-ने सुवर्णावसर जान शान्तिरक्षित का विरोध करना आरम्भ किया। इस दशा में शान्तिरक्षित के अनुयायिओं का ह्वा-शङ्ग से भयंकर संघर्ष हुआ। उन्होंने अपना

कमलशील ने जयमाला पहनी

१. देखिये, The Religion of Tibet, Page 39.

पक्ष समर्थन करने के लिये कमलशील नामक भारतीय पण्डित को आमंत्रित किया। वे तिब्बत पहुंचे। शास्त्रार्थ के लिये वेदी तय्यार की गई। राजा को मध्यस्थ बनाया गया। उसके दांई ओर ह्वा-शङ् और बांई ओर कमलशील बिठाये गये। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। दोनों अपना अपना पक्ष स्थापित करने लगे। चीनी पण्डित का पक्ष शिथिल रहा और उसे भरी सभा में अपने ही हाथों से कमलशील को जयमाला पहनानी पड़ी। ह्वा-शङ् की पराजय से उसके अनुयायी इतने लज्जित हुए कि उन्होंने पत्थरों से छाती कूट कूट कर आत्महत्या करली। तदनन्तर राजा ने आज्ञा दी—"अब से मेरी प्रजा माध्यमिक सम्प्रदाय का अनुसरण करे और चीनियों के शून्यवाद का प्रचार कोई न करे।" इस भयंकर पराजय के अनन्तर चीनी लोग तिब्बत छोड़ कर अपने देश लौट गये। शास्त्रार्थ के पश्चात् कमलशील वहीं निवास करने लगे। उन्होंने अपने अपूर्व पाण्डित्य द्वारा बहुतों को आकृष्ट किया। अनेक लोग उनके शिष्य बन गये। इन में सर्वप्रधान 'जेङ्' था। तिब्बती लोग उनसे इतने प्रभावित हुए थे कि वे आज तक उन्हें 'भारतीय महात्मा' अथवा 'महात्मा बुद्ध' के नाम से स्मरण करते हैं। इधर तो तिब्बत में कमलशील के पाण्डित्य की कीर्त्ति फैल रही थी, उधर चीन में उनकी हत्या के लिये षड्यंत्र हो रहे थे। स्वदेश लोटने के कुछ ही वर्ष पीछे चीनी पण्डितों ने चार कसाई भेजे, जिन्होंने कमलशील का बध कर डाला।[१] उनके प्रति आदर की भावना से प्रेरित होकर तिब्बतियों ने उनका शरीर आज तक मसाले लगा कर ल्हासा से बीस मील दूर एक विहार में सुरक्षित रक्खा हुआ है।[२]

---

१. देखिये, The religion of Tibet, Page 41

२. देखिये, The People of Tibet, by Charles Bell, Page 296.

तिब्बत का स्वर्णयुग

अट्ठसठ वर्ष की आयु में ति-सोङ्-दे-सन् की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् दो राजा और हुए। तदनन्तर 'रल्-पा-चन्'[1] उत्तराधिकारी हुआ। इस समय से तिब्बत में उस काल का आरम्भ हुआ जिसे तिब्बत का 'स्वर्णयुग' कहा जाता है। इस काल में रल्-पा-चन् ने सब झगड़ों और विवादों से निश्चिन्त होकर बौद्धधर्म की उन्नति में ध्यान दिया। संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद होने से संस्कृत के कुछ पारिभाषिक शब्द तिब्बती भाषा में जैसे के तैसे आ गये थे। उन्हें समझने में तिब्बतियों को बहुत कठिनाई होती थी। इस लिये रल्-पा-चन् ने तिब्बती भाषा में एक कोष तय्यार किया, जिस में उन सब शब्दों के अर्थ विस्तार पूर्वक समझाये गये थे। बौद्धधर्म को पवित्र बनाये रखने के लिये तंत्र ग्रन्थों का अनुवाद बन्द कर दिया गया। भारतीय आदर्श पर तिब्बती भार, नाप तथा मुद्रायें निश्चित की गई। भिक्षुओं को आजीविका से निश्चिन्त बनाने के लिये प्रत्येक भिक्षु पर छः घर नियत कर दिये गये। संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद करने के लिये भारत से जिनमित्र शीलेन्द्रबोधी, दानशील, प्रज्ञावर्मन् , सुरेन्द्रबोधी आदि बौद्ध पण्डित बुलाये गये।[2] साथ ही अनेक तिब्बती युवक भारतीय धर्म और भाषा सीखने भारत आये। इस साहसिक कार्य में जनहानि बहुत हुई। यदि तिब्बत से दस व्यक्ति प्रस्थान करते थे तो उन में से कठिनता से दो ही स्वदेश लौटते थे। शेष, मार्ग की कठिनाईयों और जलवायु की विषमता के कारण मृत्यु के ग्रास बन जाते थे। इन लौटे हुए भिक्षुओं ने अपने गुरु भारतीय पण्डितों के सहयोग

१. इसका अभिप्राय है—'Long-hair' = दीर्घकेश।

२. देखिये, Life of the Budha, By Rockhill, Page 224.

से सारा त्रिपिटक तिब्बती भाषा में अनूदित कर दिया। अनुवाद में इस बात का ध्यान रक्खा गया कि अपनी ओर से कुछ भी न जोड़ा जाये।[1]

बौद्धधर्म के इस बढ़ते हुए प्रचार को पॉनधर्मी मंत्री सहन न कर सके। वे रल्-पा-चन् को मारने का अवसर ढूंढने लगे। इसके लिये उन्हें बहुत प्रतीक्षा न करनी पड़ी। शीघ्र ही एक घटना ऐसी घटित हुई जिससे उन्हें अपनी इच्छा पूर्ण होने का सुयोग प्राप्त हो गया। राजकुमारियों में से एक ने भिक्षु व्रत धारण कर लिया। तब कुछ ज्योतिषियों ने पॉनधर्मियों से रिश्वत लेकर भविष्यद्वाणी कर दी कि या तो राजकुमारी को देशनिकाला दिया जाये अन्यथा देश पर महान् संकट आ पड़ेगा। परिणामतः राजकुमारी को देश से निकाल दिया गया। रानी और प्रधानमंत्री[2] पर अनुचित संबन्ध का दोषारोप किया गया। प्रधानमंत्री मार दिया गया। रानी ने आत्महत्या कर ली और पॉनधर्मावलम्बियों ने राजा का भी बध कर डाला।

बहिष्कार और पुनरागमन

बौद्धधर्म पर घातक प्रहार

रल्-पा-चन् की मृत्यु के उपरान्त तिब्बत का वातावरण बौद्धधर्म के प्रति विषपूर्ण हो गया। उसके उत्तराधिकारी 'लङ्-दर-मा' ने बौद्धों पर भयंकर अत्याचार किये। बहुत से भिक्षुओं का बलपूर्वक विवाह कराया गया। बहुत से धनुष-बाण देकर जंगली

१ तिब्बत में त्रिपिटक को 'कन्-ग्युर्' (अनूदित आदेश) कहते हैं और उनकी व्याख्याओं को 'तेन्-ग्युर्' (अनूदित व्याख्याएं) कहा जाता है। कन्-ग्युर् के १०० भाग हैं और तेन्-ग्युर् के २२५।

२. यह बौद्धमतावलम्बी था।

जन्तुओं का शिकार खेलने जंगलों में भेजे गये। जिन्होंने ऐसा करने से आना-कानी की वे तलवार के घाट उतारे गये। मन्दिरों के द्वार, दीवारें खड़ी कर के बन्द कर दिये गये और उन पर शराब पीते हुए भिक्षुओं के चित्र बनाये गये।[1] अनुवाद कार्य्य पूर्णरूप से समाप्त कर दिया गया। धार्मिक पुस्तकें जलवा डालीं। मन्दिर और विहार नष्ट कर दिये। इन अत्याचारों का वर्णन करते हुए 'गैल्-रब्'[2] में लिखा है—"लङ्-दर्-मा ने भिक्षुओं को आचार विरुद्ध कार्य्य करने को बाधित किया। जिन्होंने भिक्षुवस्त्र नहीं उतारे, उन्हें मार दिया गया। जो शेष बच रहे उनके हाथ में ढोल पकड़ा कर धनुष-बाण के साथ शिकार का पीछा करने की आज्ञा दी गई। कुछ एक को कसाई का काम करने के लिये भी बाधित किया गया।"[3] लङ्-दर्-मा के ये अत्याचार बहुत दिनों तक न रहे। तीसरे ही वर्ष 'पल्-दोर्-जे' नामक एक भिक्षु ने उसे मार डाला। उसकी मृत्यु के पश्चात् भी बौद्धविद्वेषी कार्य्यक्रम चलता रहा। लगभग सौ वर्ष तक तिब्बत की यही दशा रही। भारतीय पण्डित देश से निकाल दिये गये। अनुवादक अन्य देशों में भाग गये। भिक्षु मार डाले गये। धार्मिक उपदेश, व्रत और संस्कारों का कहीं चिह्न भी दिखाई न देता था। कहने का अभिप्राय यह है कि उस समय तिब्बत में बौद्धधर्म अपने अन्तिम सांस ले रहा था।

अव्यवस्था की उत्पत्ति

लङ्-दर्-मा की मृत्यु के अनन्तर देश अनेक छोटे छोटे टुकड़ों में बंट गया। सभी जगह स्वतंत्र सरदार शासन करने लगे। इस प्रकार तिब्बत में अब वह काल आरम्भ हुआ जिसे 'अव्यवस्था का काल' कहा जाता है।

---

१. देखिये, The Religion of Tibet, Page 47.

२. यह 'तिब्बती ऐतिहासिक ग्रन्थों के समूह' का नाम है।

३. देखिये, Life of the Budha, Page 226.

परिवर्त्तन

अव्यवस्था और असहिष्णुता की यह दशा शनैः शनैः परिवर्तित होने लगी। सभी ओर बौद्धधर्म का पुनरुत्थान करने की हल्की सी चर्चा उठ खड़ी हुई। इस दिशा में सर्वप्रथम पग 'अम्-दो' प्रान्त ने उठाया। यह स्थान ल्हासा से बहुत दूर तिब्बत के उत्तर-पूर्वीय भाग में ठीक चीनी सीमा पर स्थित है। यहां का एक मीण, जो शास्त्रों का अच्छा ज्ञाता था और भिक्षु बनने की योग्यता रखता था, दस व्यक्तियों को लेकर सम्-ये[1] पहुंचा और उसने भिक्षु बन कर कार्य्य आरम्भ कर दिया।

इसी समय 'ग-री'[2] प्रान्त का शासक राजसिंहासन त्याग कर भिक्षु बन गया। इसे तांत्रिक बौद्धधर्म से अत्यन्त घृणा थी। अतः शुद्ध धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसने 'रिन्-चेन्-जङ्-पो'[3] की अध्यक्षता में इक्कीस व्यक्तियों का एक दूतमण्डल भारत भेजा। दुर्भाग्यवश इन म से केवल वह स्वयं तथा एक अन्य व्यक्ति ही स्वदेश लौट सका। शेष सब मार्ग की विपत्तियों से समाप्त हो गये। रिन्-चेन्-जङ्-पो अपने समय का महान् अनुवादक था। इसने अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया। अनुवादक के अतिरिक्त यह चित्रकला तथा भवन-निर्माण-कला का भी अद्वितीय पण्डित था। तिब्बती इतिहास से ज्ञात होता है कि इसने अनेक चित्र रचे थे तथा तिब्बत में कई विहार और मन्दिर बनाये थे।

पुनरागमन

परिस्थितियां परिवर्तित हो जाने से भारत और तिब्बत में आवागमन पुनः प्रारम्भ हो गया। तिब्बती भिक्षु धार्मिक शिक्षा के लिये भारत आने लगे और भारतीय पण्डित प्रचारार्थ तिब्बत

इस समय तक भी बौद्धधर्म अक्षुण्णरूप में विद्यमान था। यहीं पर आकर उसने भिक्षु व्रत धारण किया।

२ यह तिब्बत के पश्चिमीय भाग में है।

३. इसका अभिप्राय है good-gein = सुरत्न।

पहुंचने लगे। इस काल में जो पण्डित वहां गये उनमें से एक 'स्मृति' था।[1] स्मृति के पश्चात् १०१३ ई० में आचार्य धर्मपाल पूर्व-भारत से अपने तीन साथियों—सिद्धपाल, गुणपाल और प्रज्ञापाल—के साथ तिब्बत गये। इसी समय सुभूति श्री शान्ति तिब्बत पहुंचे। इन्हें ग–री प्रान्त के शासक ने बुलाया था। ये वहां पर 'काश्मीरी-पण्डित' के नाम से अधिक विख्यात थे। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक पण्डित तिब्बत गये, परन्तु इन सब से बढ़कर 'अतिशा'[2] थे, जिनका वहां के निवासियों पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा।

---

१. 'स्मृति' की जीवन-कथा अत्यद्भुत है। तिब्बती लोग भारत आने से पूर्व नैपाल में ठहरा करते थे। यहां जलवायु परिवर्त्तन कर, भारतीय भाषा सीखकर भारत आया करते थे। फिर भारत से पण्डित लेकर, उनके दुभाषिये बनकर ग्रन्थों का अनुवाद करते थे। कहा जाता है कि ऐसा ही एक यात्री भारत से पण्डित स्मृति को तिब्बत ले चला। परन्तु दौर्भाग्य से मार्ग में उसकी मृत्यु हो गई। अब स्मृति इकले थे और तिब्बती भाषा से बिलकुल अपरिचित थे। इस दशा में वे साधारण व्यक्ति समझ लिये गये। एक तिब्बती ने उन्हें गडरिये का काम सौंपा। वह वर्षों तक उनसे यही काम लेता रहा और उनकी पीठ पर बैठकर दूध दोहता रहा। अचानक एक दिन पण्डितों से उनका सम्पर्क हुआ। उन्होंने इनके पाण्डित्य से प्रभावित होकर इन्हें इस अवस्था से मुक्त कराया। तदनन्तर इन्होंने व्याकरण शास्त्र पर 'वक्तृत्वकला के साधन' नामक एक ग्रन्थ लिखा।

२. 'अतिशा' का पूरा नाम 'दीपङ्कर श्रीज्ञान अतिशा' था। पर साधारणतया इन्हें अतिशा ही कहा जाता था। इनका जन्म ९८० ई० में गौड़देश के विक्रमपुर ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम कल्याणश्री और माता का नाम प्रभावती था। इनके पिता बहुत समृद्ध थे। परन्तु अतिशा ने सब सुखों को लात मारकर त्याग का जीवन स्वीकार किया। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा उदन्तपुरी विश्वविद्यालय में हुई थी। तदनन्तर ये सुमात्रा गये। वहां इन्होंने चन्द्रकीर्ति और सुधर्मनागर से ज्ञानोपार्जन किया। सुमात्रा में बारह वर्ष रहकर लंका होते हुए ये भारत लौटे। शीघ्र ही सर्वत्र अतिशा की ज्ञानचर्चा फैल गई। इनकी प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर पालवंशीय सम्राट् नयपाल ने इन्हें

आचार्य अतिशा तिब्बत में

१०३८ ई० में आचार्य अतिशा, पश्चिमतिब्बत के शासक चङ्-शुब्-ओ की प्रार्थना पर तिब्बत पहुंचे। राजा की प्रेरणा पर अतिशा ने राज्य में फैले हुए नास्तिक विचारों को दूर करने के लिये एक ग्रन्थ लिखा। यहां रहते हुए उन्हें द्रोम्-तॉन् नामक एक व्यक्ति मिला। इसने अतिशा को ल्हासा चलने के लिये प्रेरित किया। उन्होंने चलना स्वीकार कर लिया। मार्ग में स्थान स्थान पर भिक्षु समुदायों ने उनका स्वागत किया। ल्हासा पहुंच कर अतिशा ने तिब्बती पण्डितों की सहायता से कई संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया। यह देखकर वे बहुत चकित हुए कि जो ग्रन्थ इस समय भारत में भी न थे उनके अनुवाद सम्-ये विहार में विद्यमान थे।[1] अनुवाद करने के कुछ समय पश्चात् अतिशा ल्हासा से सोलह मील दूर 'त्रा-येर्-पा'[2] पर्वत की एक गुहा में निवास करने लगे। श्रद्धालु लोग दूर दूर से वहां आते और उपदेश लेकर चले जाते। यहां रहते हुए उनका शरीर निरन्तर शिथिल होने लगा। इस समय उनकी आयु भी तेहत्तर वर्ष की हो चुकी थी। इसी समय वहां यह समाचार फैला कि एक भारतीय पण्डित नैपाल आ रहा है। यह पण्डित शास्त्र विशेष में प्रवीण माना जाता था। उसके आगमन का समाचार सुनकर अतिशा के अनुयायी 'नक्-सो' ने नैपाल जाना चाहा। परन्तु वह अपने स्वामी को इस दशा में छोड़ने को उद्यत

विक्रमशिला का आचार्य नियुक्त किया। इसी समय पश्चिमतिब्बत के शासक 'चङ्-शुब्-ओ' ने अतिशा को अपने देश में आमन्त्रित किया। १०३८ ई० में अतिशा भूमिगर्भ, भूमिसंघ, वीर्यचन्द्र आदि पण्डितों के साथ तिब्बत पहुंचे।

१. कोई आश्चर्य नहीं कि आज भी सैंकड़ों ऐसे ग्रन्थ तिब्बती विहारों में पड़े हों जिनका नाम तक भी हमें ज्ञात नहीं है।

२. इसका अभिप्राय है—The Rock of Purity = पवित्र पर्वत।

न हुआ। तब अतिशा ने कहा—"तुम प्रसन्नतापूर्वक जाओ। मैं परलोक जाने वाला हूं और शीघ्र ही स्वर्गलोक में उत्पन्न होऊंगा।"[1] यह सुनकर नक्-सो ने उनकी प्रतिमा बनाने की आज्ञा तथा आशीर्वाद मांगा। अपने गुरु से आशीर्वाद लेकर वह भारतीय पण्डित से मिलने नैपाल चल दिया। इधर अतिशा की इहलीला समाप्त हो गई। उनकी मृत्यु के पश्चात् ल्हासा से बीस मील दूर 'क्यी-चू' नदी के तट पर 'ये-तङ्' स्थान पर उनकी समाधि बनाई गई। यह आज भी विद्यमान है। समाधि मंदिर के मध्य में अतिशा की वह प्रतिमा आज भी प्रतिष्ठित है जिसे नक्-सो ने अपने स्वामी से विदा होते हुए बनाया था।

अतिशा ने अपने जीवन काल में लगभग दो सौ ग्रन्थ लिखे तथा अनूदित किये। परन्तु उनका इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य और ही था, जिसे उनके पूर्वगामी पण्डितों ने नहीं किया था। अतिशा से पूर्व जितने भी पण्डित तिब्बत गये उनका कार्य ग्रन्थ लिखने तथा अनूदित करने तक ही सीमित रहा। परन्तु अतिशा उनसे बहुत आगे गये। उन्होंने जनता में धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिये सार्वजनिक भाषण दिये और अन्त में एकान्त में रह कर शिष्यों को जीवन सुधार के लिये आवश्यक निर्देश दिये। यह वह कार्य था, जिस ओर अतिशा से पूर्व किसी का ध्यान न गया था। इससे ऐसे बीसियों व्यक्ति उत्पन्न हो गये जिन्होंने अपने गुरु की मृत्यु के पश्चात् भी उनकी शिक्षाओं का प्रचार जारी रक्खा। इनमें सबसे प्रमुख 'ड्रोम्-तॉन्' था। इसने एक नये सम्प्रदाय को जन्म दिया जिसे 'का-दम्-पा'[2] कहा जाता है। तिब्बती बौद्धधर्म

१. देखिये, The Religion of Tibet, Page 57.

२. इसका अभिप्राय है—The adviser = उपदेष्टा।

का यह प्रथम सम्प्रदाय था। तीन शताब्दी पश्चात् इसी से तिब्बत के प्रधान सम्प्रदाय 'गे-लुक्-पा'[1] का विकास हुआ।

बौद्धधर्म राष्ट्रधर्म के रूप में

निरन्तर उन्नति के पथ पर

ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में बौद्धधर्म अपने मध्याह्नकाल में था। स्थान स्थान पर नये विहार बन रहे थे। अतिशा की मृत्यु के पश्चात् उनका प्रधान शिष्य ड्रोम्-तॉन् अपने सम्प्रदाय का नेता बना। इसने ल्हासा से साठ मील की दूरी पर 'रे-तिङ्' नामक विहार बनवाया। यहां नौ वर्ष रहने के उपरान्त साठ वर्ष की आयु में इसकी मृत्यु हो गई। इसके पश्चात् 'पो-तो-वा' नेता बना। यह भविष्यद्वक्ता था और आगे आने वाली घटनाओं को पहले ही बता दिया करता था। छियासठ वर्ष की आयु में इसका भी देहान्त होगया। अतिशा की मृत्यु के बाईस वर्ष पश्चात् १०७६ ई० में भिक्षुओं की एक सभा हुई। इसमें तिब्बत के प्रायः सभी पण्डित तथा अनुवादक इकट्ठे हुए। इन्होंने मिल कर बहुत से ग्रन्थों का अनुवाद किया।

मर्-पा महान्

इस काल का सबसे मुख्य व्यक्ति 'मर्-पा' था। यह अपने समय में तिब्बत में बौद्ध सिद्धान्तों, संस्कारों तथा कर्मकाण्ड का अद्वितीय पण्डित माना जाता था। मर-पा का जन्म १०११ ई० में दक्षिण तिब्बत में हुआ था। बचपन में यह बहुत शरारती था। यद्यपि पढ़ाई में अच्छा था परन्तु झगड़ालू स्वभाव का होने से इसे कोई भी अपने पास न फटकने देता था। पिता ने तंग आकर स्वभाव परिवर्तन की आशा से इसे एक दूरस्थ पाठशाला में भेज दिया। पन्द्रह वर्ष की आयु में मर-पा ने अनुवादक की योग्यता प्राप्त करली।

१. इसका अभिप्राय है—The Virtuous way = धर्मपथ।

अब इसके मन में भारत आने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। यह घर गया और कुछ धन ले आया। इसी समय इसे एक ऐसा मित्र मिल गया जिसने यात्रोपयोगी सब सामान खरीद दिया। पूरी तय्यारी करके मर्-पा ने भारत के लिये प्रस्थान किया। मार्ग में यह तीन वर्ष तक नैपाल ठहरा। यहां रहते हुए इसने एक पण्डित से तंत्र-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। तीसरे वर्ष की समाप्ति पर यह भारत आया। यहां आकर इसने 'नरोपा' नामक पण्डित से तंत्रशास्त्र का अध्ययन किया। स्वदेश लौट कर मर्-पा ने तांत्रिक उपचार आरम्भ किये। उनसे प्रभावित होकर एक बड़ा व्यक्ति इसका शिष्य बन गया। इसने मर्-पा के लिये बहुत सा धन एकत्र कर दिया। इस धन से इसने दुबारा भारतयात्रा की। परन्तु इस समय तक नरोपा परलोक सिधार चुका था। अब की वार स्वदेश लौट कर इसने 'का-ग्यो'[1] नाम से एक नवीन सम्प्रदाय चलाया। कुछ समय पश्चात् इसने तीसरी वार भारतयात्रा की। छयासी वर्ष की आयु में मर्-पा का देहान्त हुआ। अपने साहसिक कृत्यों के कारण यह तिब्बतियों के लिये एक पहेली बना हुआ था। उनके लिये यह आज भी एक समस्या है। वे इसे योगी कहते हैं। उनका कहना है कि इसने अपने शिष्यों को चार वार अपनी आत्मा मृत शरीर में प्रविष्ट करके दिखाई थी।[2] मर्-पा इस विद्या का अद्वितीय ज्ञाता था। इसके चार शिष्य थे। इनमें से तीन ने शिक्षामार्ग का अवलम्बन किया और उपदेशों द्वारा अपने गुरु की शिक्षाओं का प्रचार किया। चौथा 'मी-ला-रे-पा' था। इसने भक्तिमार्ग का आश्रय लिया। तिब्बत में जितनी पवित्रता

१. यह सम्प्रदाय भारतीय 'महामुद्रा' सिद्धान्त पर आश्रित है। इसका आज भी तिब्बत तथा भूटान में बहुत प्रचार है।

२. परकायप्रवेश।

से मी-ला का स्मरण किया जाता है उतना अन्य किसी का नहीं। धर्मपुस्तकें भिक्षुओं द्वारा पढ़ी जाती हैं, इतिहास साधारण जनता पढ़ती है, परन्तु मी-ला का जीवन चरित्र तथा उसके बनाये सहस्रों गीत तिब्बत के प्रत्येक नर-नारी जपते हैं।

कार्पासवस्त्र-वेष्टित मी-ला

मी-ला का जन्म १०३८ ई० में नैपाल और तिब्बत के सीमावर्ती 'गुङ-तुङ' जिले के 'क्या-गा' स्थान में हुआ था। उत्पत्ति के समय इनका पिता कहीं बाहर व्यापार करने गया हुआ था। उत्पत्ति का समाचार सुन कर वह इतना प्रसन्न हुआ कि उसने इनका नाम ही 'तॉ-पा-गा'[1] रख दिया। मी-ला इनका आनुवंशिक नाम था। इनके पिता पर्य्याप्त स्मृद्ध थे। परन्तु वे इन्हें छुटपन में ही छोड़ कर स्वर्गवासी हो गये। इस समय मीला की आयु केवल सात वर्ष थी और इनकी बहिन चार वर्ष की। मरते समय इनके पिता अपना परिवार तथा सब सम्पत्ति अपने भाई को सौंप गये। किन्तु भाई अधिक समय तक विश्वासपात्र न रहा और सारी सम्पत्ति स्वयं हथिया कर बैठ गया। मी-ला, इनकी बहिन और माता को विवश होकर भीख मांगनी पड़ी। वे इसमें भी प्रसन्न थे और आनन्द से गाते थे। एक दिन जब मी-ला गाते हुए घर आये तो इनकी माता क्रुद्ध हो गई। उसने राख की मुट्ठी भर कर मी-ला के मुंह पर फेंकी, लाठी उठा कर सिर पर मारी और गालियां देते हुए कहने लगी—इस दुःखद अवस्था में भी तुझे गाना सूझता है। यह कहती हुई वह अचेत होकर गिर पड़ी। माता की यह दशा देख मी-ला ने प्रतिज्ञा की—"जो आप आज्ञा देंगी वही करूंगा।" माता ने आज्ञा दी—"जाओ, तंत्रविद्या सीखो और शत्रुओं का नाश करो।" मी-ला ने तंत्रशास्त्र के एक गुरु से शत्रुओं का नाश करना, आंधी चलाना, मकान गिराना आदि अनेक विधियां सीख लीं। एक दिन जब इनका भतीजा विवाह भोज

१. इसका अभिप्राय है—Delightful to hear = श्रवण-सुखद।

में व्यापृत था इन्होंने तांत्रिक विधि से मकान गिरा दिया, जिससे पचीस व्यक्ति मर गये। तत्पश्चात् इन्होंने आंधी चलाई और जिले भर की जौ की फसल नष्ट कर डाली। इस प्रकार कुछ समय तक संहार करने के उपरान्त इनके मन में श्रेयमार्ग का अवलम्बन करने की इच्छा उत्पन्न हुई। इन्होंने मर्-पा को अपना गुरु चुना। मर्-पा ने पिछले दुष्कृत्यों का प्रायश्चित करवाना आवश्यक समझा। वे मी-ला से तांत्रिक विधि द्वारा मकान बनवाते, उन्हें गिरवाते और फिर मलबा भी उठवाते थे। इन्हें कई बार यही प्रक्रिया दोहरानी पड़ी। एक बार तो मर्-पा ने नौ मंजिला मकान बनवा कर गिरवाया और उसका मलबा भी उठवाया। इस प्रकार इनकी संहार क्रिया का प्रायश्चित समाप्त हुआ। परन्तु मर्-पा इतने से ही सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने मी-ला की श्रद्धाभक्ति की भी पूरी परीक्षा ली। कभी कभी वे क्रुद्ध होकर मी-ला को बुरी तरह पीटते पर ये चुप-चाप सह जाते। कभी वे इन से मनुष्यों और पशुओं की हत्यायें करवाते और मी-ला नरहत्या की अपेक्षा गुरु की आज्ञाभङ्ग को अधिक बड़ा पाप समझ कर वह भी कर डालते। मर्-पा ने इन्हें तरह तरह की यातनायें दीं। पीटते पीटते इनकी पीठ ही एक भयंकर फोड़ा बन गई परन्तु इन्होंने अपने गुरुका साथ न छोड़ा। अन्ततः ये सब कष्ट फल लाये। मी-ला परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और मर्-पा ने इन्हें उपदेशों से कृतार्थ किया। जिस ममय ये मर्-पा के पास अध्ययनार्थ आये थे तब इनकी आयु अड़तीस वर्ष थी और अब ये चवालीस वर्ष के थे। निरन्तर छः वर्ष तक भीषण यातनायें सहकर मी—ला ने ज्ञान प्राप्त किया। अब ये घर गये। वहां जाकर देखा कि घर में तो केवल माता की सूखी हड्डियां ही पड़ी हुई हैं और बहिन भीख मांग कर जीवन बिता रही है। इन्होंने अस्थियों का तकिया बनाया और सात दिन तक उसी के सिरहाने बैठ कर ध्यान लगाया। ध्यान से न्हें आत्मबोध हुआ

कि अपने माता-पिता को सांसारिक दुःखों से छुड़ाने का यही एक मार्ग है कि मैं समाधि लगा कर बुद्धत्व प्राप्त करूं।

यह सोच कर मी-ला फिर अपने गुरु के पास गये और उनके आदिष्ट मार्ग के अनुसार ऊँचे पर्वत की एक गुहा में समाधिस्थ हो गये। समाधि अवस्था में इन्होंने भोजन की चिन्ता भी छोड़ दी। प्रत्येक क्षण समाधि में लगाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। 'रे-चङ्' जो मी-ला का प्रधान शिष्य था और जिसने अपने गुरु की जीवनी लिखी है, लिखता है—"समाधि लगाये हुए उनके कपड़े फट गये, परन्तु कड़ाके का जाड़ा पड़ने पर भी उन्होंने शरीर नंगा ही रहने दिया। कोई शक्तिवर्धक अन्न उन्होंने नहीं खाया। छोटी छोटी घास जो गुहा के बाहर उग आई थी उसी से वे पेट भर लेते थे। छः वर्ष तक वे यही खाते रहे। अन्न न खाने से वे अस्थिपिंजरमात्र रह गये। एक वार विचार उठा कि फटे कपड़े और पुरानी खालों को जोड़ कर कपड़े सी लिये जाएं। तुरन्त ही ध्यान आया—यदि मैं इसी रात मर गया तो सीना व्यर्थ सिद्ध होगा। इस लिये अच्छा है ध्यान में ही लगा रहूं। सारे धार्मिक जीवन में उनके मन में यही विचार घूमता रहा कि जीवन अत्यन्त अनिश्चित है इस लिये प्रत्येक क्षण ध्यान में लगाना चाहिये।"[1] उपवास ने इन्हें शिथिल कर दिया। यहां तक कि इन में गर्मी नष्ट हो गई और सारा शरीर ठण्डा पड़ गया। इस अवस्था में एक रात एक चोर इनके पास आकर कहने लगा—साधु लोग सदा अपने पास भोजन छिपाये रखते हैं। बताओ, तुमने अपना भण्डार कहां छिपाया हुआ है? इस पर ये हंस कर कहने लगे—यहां तो दिन में भी भोजन नहीं मिलता, यदि तुम्हें रात्रि में मिल सके तो ढूंढलो। यह सुन कर चोर भी हंस पड़ा और उल्टे पैर लौट गया। मी-ला का देह निरन्तर शिथिल होरहा था।

---

१ देखिये, The Religion of Tibet, Page 85—86

इन की इस शोचनीय दशा को देख कर पे-ता[1] कहने लगी—"अब तपस्या छोड़िये और भोजन करना आरम्भ कीजिये।" मी-ला ने भी देखा अब भोजन के बिना आगे बढ़ना असम्भव है। इस लिये खाना-पीना आरम्भ कर दिया। वर्षों की निरन्तर तपस्या से इन में पर्याप्त गर्मी उत्पन्न हो चुकी थी। अतः ये भयंकर से भयंकर शीत में भी नङ्गे रह सकते थे। इन में अनेक गुप्त शक्तियां उद्भूत हो गई थीं। ये पक्षी की तरह उड़ सकते थे। अपने शरीर को अग्निशिखा, जलधारा तथा नदीप्रवाह के रूप में परिणत कर सकते थे। शरीर को सैंकड़ों टुकड़ों में बांटना भी ये जानते थे।[2] अब इन्होंने पुरानी गुहा को त्यागकर 'लप्-ची'[3] पर्वत की एक गुहा में रहना आरम्भ किया। पे-ता भिक्षा मांगकर लाती और उसी में से इन्हें दे देती थी। इस समय तक इनके चाचा की मृत्यु हो चुकी थी। परन्तु चाची अभी जीवित थी। उसे अपने कृत्यों पर बहुत दुःख हुआ। वह मी-ला से क्षमा-याचना करने लगी। किन्तु इन्होंने कर्मसिद्धान्त का महत्त्व समझाया। इस उपदेश का उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह भी ध्यान में बैठने लगी। कुछ समय पश्चात् इसी गुहा में मी-ला की इहलीला समाप्त होगई।

मी-ला के धार्मिक विश्वास कर्मसिद्धान्त पर आश्रित थे। इनका विश्वास था कि अच्छे कर्म, शब्द और विचारों का अच्छा परिणाम होता है और बुरों का बुरा। इनका अपने शिष्यों को यही उपदेश था—"कर्मसिद्धान्त में विश्वास करो। यदि तुम ऐसा करोगे तो संसार के कष्ट आप से आप तुम्हें बुद्ध बनने के लिये प्रेरित करेंगे।

१. यह मी-ला की बहिन थी, जो समाधि अवस्था में भी उनकी परिचर्या कर रही थी।

२. देखिये, The Religion of Tibet, Page 88.

३. यह पर्वत गौरीशंकर के समीप है।

सन्तों की जीवनियां पढ़ो और सांसारिक बुराइयों पर विचार करो। स्मरण रक्खो कि ऐसी परिस्थितियों में मनुष्य के रूप में उत्पन्न होना, जिसमें वह धर्म का आचरण कर सके अत्यन्त कठिन है। इसलिये विश्वास करते हुए, अध्ययन करते हुए और सब बातों को दृष्टि में रखते हुए ध्यान तथा समाधि की ओर बढ़े चलो। यदि तुम मेरे विषय में पूछो, मैंने तो भोजन, वस्त्र, बातचीत—सभी कुछ त्यागा है। मेरे मन में उत्साह है और देह में नम्रता। मैंने प्रत्येक कठोरता का सामना किया है और ऐसे निर्जन स्थानों में ध्यान लगाया है जहां मनुष्य का चिन्ह भी दिखाई नहीं देता। इस प्रकार मुझे बुद्धत्व प्राप्त हुआ। आओ! तुम सब मेरे पदचिह्नों पर चलो और बुद्धत्व प्राप्त करो।"[१]

सा-क्या विहार की स्थापना

जिस समय मी-ला अपने गुरु मर्-पा की भीषण यन्त्रणायें झेल रहे थे, उसी समय तिब्बत में एक ऐसी घटना हो रही थी जिसने कुछ ही काल पश्चात् तिब्बतीय इतिहास को परिवर्तित कर दिया। १०७१ ई० में नैपाली सीमान्त से लगभग पचास मील की दूरी पर सा-क्या नामक स्थान पर एक विहार की स्थापना की गई। इसके महापण्डित, प्रतापी सम्राट् ती-सोङ्-दे-सन् के निजू पुरोहित के वंशज थे। लङ्-दर्-मा की मृत्यु के अनन्तर राजाओं की शक्ति क्षीण हो गई थी और सारा राज्य छोटे छोटे सरदारों में बंट गया था। परन्तु ज्यों ज्यों बौद्धधर्म प्रबल होने लगा त्यों त्यों भिक्षुओं का प्रभाव बढ़ने लगा। इस प्रभाव को बढ़ाने में सा-क्या विहार ने बहुत सहायता की, क्योंकि यह सब विहारों से बड़ा था और इसके पण्डित बहुत योग्य थे।

सा-क्या शासक के रूप में

ग्यारहवीं शताब्दी में चंगेजखां और उसके साथियों ने एशिया के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भाग लेना आरम्भ किया। १२०६ ई० में मारकीट्स, करेट्स, नेमन्स आदि भिन्न भिन्न मंगोल जातियां

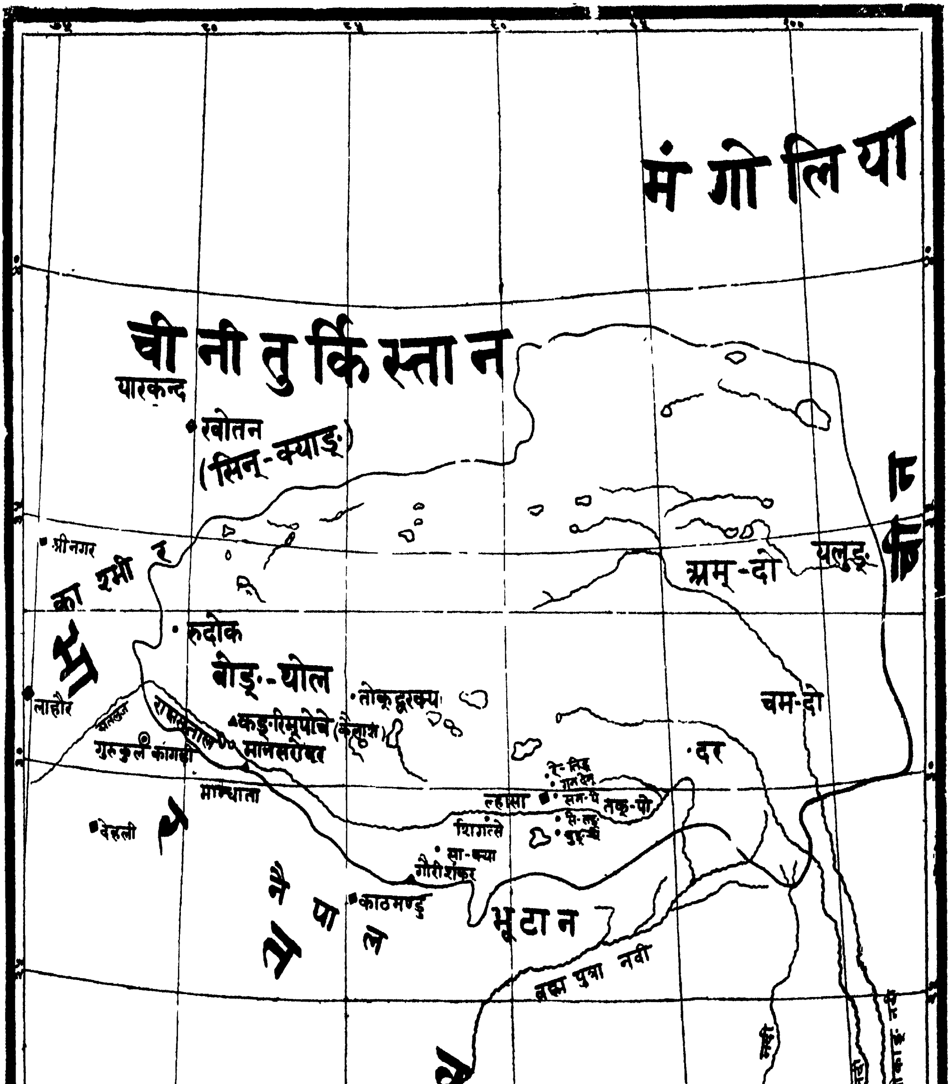
१. देखिये, The Religion of Tibet, Page 93

चंगेजखां के नेतृत्व में इकट्ठी हुई। इनको लेकर चंगेजखां ने वह विशाल साम्राज्य स्थापित किया जो बल्गेरिया, सर्बिया, हंगरी और रशिया तक विस्तृत था। पूर्व में वह प्रशान्त महासागर को छूता था। दक्षिण में चीन, तिब्बत और भारत की सीमा तक विस्तृत था और पश्चिम में नार्वे तक उसकी पहुंच थी। इस विशाल साम्राज्य की राजधानी कराकुरम थी। १२२७ ई० में चंगेजखां की मृत्यु होने पर कुबलेईखां सम्राट् बना। १२०६ई० में तिब्बत जीता जा चुका था। मंगोल लोग अधीनस्थ राज्य के रूप में तिब्बत के सम्पर्क में आये। एक वार कुबलेईखां रोगी हुआ। उसने सा—क्या के महापण्डित को अपनी चिकित्सा के लिये आमंत्रित किया। महापण्डित को इसमें सफलता प्राप्त हुई। यह प्रथम अवसर था जब मंगोल सम्राट् और सा-क्या के महापण्डित का परस्पर साक्षात्कार हुआ। कुबलेई को धार्मिक विवाद सुनने की बहुत रुचि थी। वह समय समय पर धर्म-सभाएं बुलाया करता था। इन में बौद्ध, इसाई, मुसलमान, कन्फ्यूशस और ताऊधर्म के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। उसके छोटे भाई मनकूखां को भी धर्मचर्चा सुनना अच्छा लगता था। १२५४ई० से लगातार तीन वर्ष तक उसकी अध्यक्षता में राजप्रासाद में धर्मसभाएं बुलाई जाती रहीं। अन्तिम सभा १२५६ई० में कराकुरम के दक्षिण में 'सिरा ओर्दो' नामक स्थान में हुई। इसमें प्रसिद्ध बौद्धभिक्षु एकत्र हुए। शास्त्रार्थ की समाप्ति पर मनकूखां ने इन शब्दों में बौद्धधर्म की सर्वोच्चता स्वीकार की—"जिस प्रकार हथेली से पांच अंगुलियां निकलती हैं वैसे ही सब धर्म बौद्धधर्म से निकले हैं। बौद्धधर्म हथेली है और अन्य धर्म अंगुलियां।"[1] मनकूखां ने अन्तिम निर्णय

१. देखिये, Greater India Society Bulletin No. 2. India and China by Dr. Prabodhchandra Bagchi, Page 32.

कुबलेईखां पर छोड़ दिया। १२५८ ई० में एक महान् धार्मिक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें तीनसौ बौद्ध भिक्षु, दो सौ कन्फ्यूशसधर्मी तथा दो सौ ताऊधर्मी उपस्थित हुए। बौद्ध भिक्षुओं में 'शिओ-लिन्' का आचार्य नेमो और सा-क्या का महापण्डित भी सम्मिलित हुआ था। सा-क्या के महापण्डित की वक्तृत्त्वकला के कारण बौद्धलोग विजयी हुए। ताऊधर्मियों के दस नेताओं ने सिर मुंडा कर बौद्धधर्म स्वीकार किया। यह दूसरा समय था जब मंगोल सम्राट् और सा-क्या के महापण्डित का परस्पर मेल हुआ। इस बार कुबलेई इतना प्रसन्न हुआ कि उसने सा-क्या के महापण्डित को मध्य तिब्बत का शासक नियुक्त किया। कुबलेई का एक आध्यात्मिक सलाहकार था। उसका नाम 'ड्रो-गॉन्-पक्-पा' था। यह भी तिब्बती था। इस पर वह इतना प्रसन्न था कि उसने इसे 'भारतीय–देवपुत्र, बुद्धावतार, लिप्यधिदेवता, साम्राज्यशान्ति-विधायक और पञ्चविधविधाविज्ञ'[1] की उपाधियां प्रदान की थीं। उसने ड्रो-गान् को मंगोलिया में तिब्बती वर्णमाला का प्रचार करने की भी प्रेरणा की। परन्तु यह बहुत कठिन प्रतीत हुई। निदान 'उईगुर' लिपि को थोड़ा सा परिवर्तित करके प्रचलित किया गया। इसका प्रचार करने वाले भी तिब्बती भिक्षु ही थे। इस समय अनुवादकों की चाह से कुबलेई ने भारत की ओर देखा। परन्तु यहां तो उस समय इस्लामी पताका फहरा रही थी। विश्वविद्यालय जलकर राख हो चुके थे। पण्डित कुछ भाग गये थे, कुछ मार दिये गये थे और कुछ बलपूर्वक मुसलमान बना लिये गये थे। जो शेष बचे थे उन्हें अपनी ही चिन्ता सता रही थी। मंगोलिया जाकर ग्रन्थों का अनुवाद करना तो अब उनके स्वप्न का भी विषय न रहा था। इस

१. ये उन उपाधियों के संस्कृतरूप हैं।


मंगोलिया
चीनी तुर्किस्तान
यारकन्द
खोतन
(सिन्-क्याङ्)
श्रीनगर
काश्मीर
लाहौर
बोड्-थोल
मानसरोवर
गुरुकुल कांगड़ी
मान्धाता
देहली
ल्हासा
शिगात्से
गौरीशंकर
काठमण्डू
नैपाल
भूटान
अम्-दो
चम-दो
दर
ब्रह्मपुत्रा नदी

तिब्बत का मान चित्र

दशा में कुबलेई को भारत से निराश होना पड़ा और तिब्बती तथा चीनी पण्डितों पर ही आश्रित होना पड़ा।

सा-क्या विहार का शासन पचहत्तर वर्ष से अधिक न चल सका। १३४५ ई० में सी-तू नामक एक वीर योद्धा ने सा-क्या को पछाड़ कर शासनसूत्र अपने हाथ में कर लिया। विविध प्रदेशों के शासकों ने उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया और अपने प्रतीकचिह्न[1] उसे भेंट कर दिये। इस प्रकार कुछ समय के लिये तिब्बत में एकछत्र राज्य स्थापित हो गया। जब यह समाचार चीनी सम्राट् को मिला तो सी-तू ने कुछ उपहार तथा दूत भेज कर अपने को वहां से भी स्वीकार करा लिया। सब ओर से निश्चिन्त होकर सी-तू ने अनेक सुधार किये। उसने नई नियम-व्यवस्था प्रचलित की और प्राणदण्ड पूर्णरूप से हटा दिया। सीतु तिब्बत का एकछत्र अधिपति

लङ्-दर्-मा के समय से परिस्थितियां अब बिल्कुल बदल चुकी थीं। बौद्धधर्म प्रबल आँधी के रूप में बन्द द्वारों को भी धक्का मार कर अन्दर घुस रहा था। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रक्रिया में वह वहां के प्राचीन पॉनधर्म के साथ मिल कर आगे बढ़ा। परन्तु सभी जगह पुनरुत्थान के चिन्ह स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो रहे थे। एक के अनन्तर दूसरा विहार बन रहा था। सा-क्या के पश्चात् ड्री-कुङ्, ता-लुङ् आदि बड़े बड़े विहार स्थापित हो चुके थे। तिब्बति लोग निरन्तर बौद्धधर्म की ओर आकृष्ट हो रहे थे। प्रति दिन बड़े बड़े महात्मा स्वयं तिब्बत में ही उत्पन्न हो रहे थे। मर्-पा, मी-ला आदि महात्माओं ने अपनी यौगिक शक्तियों द्वारा जनता को मोह लिया था। अनेक भक्त निर्वाण प्राप्ति के लिये हिमाच्छादित पर्वतों की निर्जन गुहाओं में बैठे ए समाधियां लगा बौद्धधर्म राष्ट्रधर्म के रूप में

१ Seals.

रहे थे। भारतीय पण्डित भी इस विषय में पीछे न रहे। आचार्य अतिशा ने अपने उच्चतम आचार तथा अपूर्व पाण्डित्य द्वारा तिब्बतियों के कठोरतम हृदयों को भी जीत लिया था। उनसे प्रेरणा पाए हुये ड्रोम्-तान् आदि अनेक शिष्य धर्मप्रचार में तत्परता से संलग्न थे। भारतीय पण्डित इस समय भी तिब्बत पहुंच रहे थे। इस काल का सबसे बड़ा पण्डित 'शाक्यश्री' था। यह काश्मीरी था और इसने वृद्धावस्था में प्रयाण किया था। यह वहां इतना आदरास्पद बना हुआ था कि तिब्बती इतिहास में इसे 'भावी बुद्ध' के नाम से स्मरण किया गया है। शाक्यश्री के अतिरिक्त अन्य भी अनेक भारतीय पण्डित तिब्बत गये। भारतीयों की भाँति चीनी पण्डित भी तिब्बत में कार्य कर रहे थे। इस समय तिब्बत विद्या का केन्द्र बना हुआ था। विविध विहारों में ज्ञानोपार्जन की स्वतन्त्रता होने का परिणाम यह हो रहा था कि तिब्बती पण्डित कुछ अंश में अपने गुरु भारतीय पण्डितों को भी पछाड़ रहे थे। ग्रन्थों का अनुवाद करते हुए कई बार वे भारतीय पण्डितों को भी उनकी अशुद्धियां बता कर ठीक अर्थ सुझाते थे। कहने का अभिप्राय यह है कि इस समय[1] बौद्धधर्म तिब्बत का राष्ट्रधर्म बन चुका था। परन्तु इसी समय भारत में मुसलमानों की विध्वंसकारी नीति के कारण बौद्धधर्म का पूर्णतया अन्त हो रहा था। पण्डित लोग भाग भाग कर तिब्बत, नैपाल, स्याम आदि देशों में शरण पा रहे थे। भारतीय पण्डितों के ये अन्तिम जत्थे थे, फिर कोई पण्डित तिब्बत नहीं गया। अपने ही देश में इनके लिए अपना धर्म बचाना कठिन हो गया फिर दूसरों की सुध तो क्या ही लेते?

वर्तमान समय में भारतीय पण्डित फिर से तिब्बत आने लगे हैं। परन्तु यह प्रक्रिया पहले से ठीक विपरीत है। पहले

१ तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में।

भारतीय लोग तिब्बतियों को कुछ देने जाते थे, लेते कुछ न थे। परन्तु अब देने को तो कुछ है ही नहीं, जो कुछ उन्होंने बड़ी सुरक्षा से बचा रक्खा है उसी को ला ला कर अपने प्राचीन परिडतों की बुद्धि का गुणगान करना ही शेष रह गया है। पर ऐसा करने वाले भी कितने हैं ? सम्भवतः करोड़ों में से एक-दो।

सुधारकाल

शान्ति का यह वातारण देर तक न रह सका शीघ्र ही भीषण पारस्परिक कलह उठ खड़ा हुआ। एक विहार दूसरे विहार के विरुद्ध लड़ने लगा। ड्री-कुङ् ने सा-क्या का विरोध करना प्रारम्भ किया। सा-क्या के महापण्डित ने ड्री-कुङ् जीत लिया और उसे जला कर स्वाहा कर दिया। परस्पर की फूट से लाभ उठा कर मङ्गोलों ने तिब्बत पर कई वार आक्रमण किया। एक स्थान पर मंगोल सैनिकों ने आठ भिक्षुओं को जीवित ही जला डाला और कितने ही विहार नष्ट कर दिये। मंगोलों की इस विनाशक प्रक्रिया के चिन्ह वहां आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। पारस्परिक कलह

जिस समय तिब्बत पर पारस्परिक कलह के कारण मंगोलों के आक्रमण हो रहे थे और सारे देश में उथल-पुथल मची हुई थी, उस समय वहां एक नेता उत्पन्न हुआ जिसने पॉनधर्म तथा तन्त्रवाद से मिले हुए बौद्धधर्म को अपने शुद्धरूप में लाने के लिये आन्दोलन किया। इस व्यक्ति का नाम 'सोङ्-का-पा' था। इनका जन्म अमू-दो प्रान्त में हुआ था। इस समय दशा इतनी बिगड़ चुकी थी कि गिनती के ही ऐसे भिक्षु थे जिन्होंने विवाह न किया हो और जो शराब न पीते हों। इस स्थिति को सुधारने के लिये इन्होंने भाषण तथा लेख द्वारा एक भीषण आन्दोलन चलाया। 'गन्-देन्'[१] नामक धार्मिक संशोधन

१ इसका अभिप्राय है—The Joyous = आल्हादमय।

एक नवीन विहार स्थापित किया। इनके अनुयायी गे-लुक्-पा कहलाये। इन्होंने अपने अनुयायिओं के टोपों का रङ्ग पीला निश्चित किया, जबकि अन्य सम्प्रदायों के भिक्षु लाल रङ्ग के टोपे पहनते थे। इसी वर्ष इन्होंने ल्हासा में महान्-प्रार्थना[1] नाम से एक नये उत्सव का आयोजन किया। यह उत्सव आज भी मनाया जाता है। यह इक्कीस दिन तक रहता है। इस पर्व पर चालीस-पचास सहस्र भिक्षु ल्हासा में इकट्ठे होते हैं। पन्द्रहवें दिन ताले-लामा भिक्षुओं को धर्मोपदेश देता है। सोङ्-का-पा ने अपना सम्प्रदाय अतिशा के का-दम्-पा सम्प्रदाय के आधार पर चलाया था। इन्हें अपने उद्देश्य में पर्याप्त सफलता हुई थी। अपने अनुयायिओं में ये 'द्वितीय बुद्ध' माने जाते हैं। मध्य तिब्बत के निवासी बात बात में इनकी उक्तियां उद्धृत करते हैं। ल्हासा और उसके समीपवर्ती जिलों के घर घर में इनकी प्रतिमा विराजमान है। १४१६ ई० में इकसठ वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हुई। गन्-देन् विहार में इनकी समाधि बनी हुई है। श्रद्धालु भक्तों ने समाधि को सोने के पत्रों से सजाया हुआ है। प्रति प्रातःकाल समाधि पर पूजा होती है। इनका मृत्युदिवस आज तक बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। उस दिन राजकुमार पर दीपावली की जाती है और सभी राजकर्मचारी उत्सव में सम्मिलित होते हैं। इनके पश्चात् इनके प्रधान शिष्य 'गे-दॅान्-रुप्-पा' ने ल्हासा से चार मील दूर 'ड्रे-पुङ्' विहार बनाया। आज इसमें दस सहस्र भिक्षु रहते हैं और यह संसार में सबसे बड़ा विहार माना जाता है। १४१६ ई० में सोङ्-का-पा के एक अन्य शिष्य ने ल्हासा से दो मील दूर से-रा नामक एक नवीन विहार की स्थापना की। तिब्बत के विहारों में इसका स्थान दूसरा है। गन्-देन्, ड्रे-पुङ्

१. The Great prayer.

और से-रा ये तीनों तिब्बत में 'विद्या के तीन केन्द्र' के नाम से विख्यात हैं। १४५३ ई० में 'गे-दॅान्-त्रुप्-पा' ने एक और विहार स्थापित किया, जिसका नाम 'ताशि-ल्हुन-पो'[1] रक्खा गया। यह सब विहारों में सुन्दर है। यहीं पर ताशिलामा निवास करता है। १४७५ ई० में गे-दॅान्-त्रुप्-पा की मृत्यु होने पर उत्तराधिकार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। इसका समाधान अवतारवाद के सिद्धान्त से किया गया। अब से उत्तराधिकारी अवतारवाद के सिद्धान्त से चुने जाने लगे। १५४३ ई० में 'सॉ-नम्-ग्या-सो'[2] उत्तराधिकारी हुए। ये तीसरे उत्तराधिकारी थे। इनके समय अवतारवाद का सिद्धान्त जड़ पकड़ चुका था। इन अवतारों में से किसी ने भी बौद्धधर्म के प्रचारार्थ उतना प्रयत्न नहीं किया जितना सॉ-नम्-ग्या-सा ने किया।

मंगोलों में बौद्धधर्म का प्रचार

जब सॉ-नम्-ग्या-सो ने गद्दी प्राप्त की उस समय मंगोलिया का शासक 'अल्तन-खगन' था। इसके आक्रमणों से सारा चीन काँप उठा था। इन आक्रमणों में मंगोल सैनिकों के हाथ एक तिब्बती भिक्षु लग गया। इस द्वारा वे सॉ-नम्-ग्या-सो से परिचित हुए। वे इनकी कीर्त्ति से आकृष्ट होकर मंगोल सरदार ने इन्हें अपने यहां आमन्त्रित किया।

मंगोलिया में बौद्धधर्म के सर्वप्रथम प्रवर्त्तक सा-क्या के महा-पण्डित थे। परन्तु उनका प्रभाव चिरस्थायी न हुआ। इसी लिये मंगोल सरदार ने सॉ-नम्-ग्यासो को आमंत्रित करने की आवश्यकता समझी। उनके पहुंचने पर सम्राट् ने उनका बहुत स्वागत किया। उन्होंने जनता से प्रार्थना की कि दस नियमों का पालन करो। पशुबलि

सॉ-नम्-ग्या-सो मङ्गोलिया में

१. इसका अभिप्राय है—The Mount of Blessing = कल्याणगिरि।

५. इसका अभिप्राय है—Ocean of merit = गुणोदधि।

बन्द कर दो। देवताओं को मांस के स्थान पर दूध, घी और दही से रिझाओ। उनके उपदेश का जनता ने पर्याप्त स्वागत किया।

तालें-लामा प्रथा की प्रतिष्ठा

तदनन्तर इन्होंने मंगोल सम्राट् अल्तन-खगन को पुनर्जन्म का सिद्धान्त समझाया। सॉ-नम्-ग्या-सो ने उसे बताया—"पूर्वजन्म में तुम कुबलेईखां थे और मैं तुम्हारा आध्यात्मिक उपदेष्टा—द्रो-गॉन्-पक् पा।" मंगोल सम्राट् ने इसमें सचमुच विश्वास कर लिया। फिर इन्होंने पूर्वजन्म के सिद्धान्त को और अधिक गहराई में ले जाते हुए कहा—"जिस समय बुद्ध जीवित थे तब तुम कोसलदेश के राजा थे। उस समय तुमने बौद्धधर्म स्वीकार किया था। तुम्हारा बौद्धधर्म से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है।" इस प्रकार की बातों से इन्होंने मंगोल सम्राट् को मोह लिया और अपना अनुयायी बना लिया। उसके धर्मपरिवर्तन करते ही छोटे छोटे सरदार तथा जनता भी बौद्धधर्म में दीक्षित होती चली गई। प्रसन्न होकर मंगोल सम्राट् ने इन्हें 'ताले-लामा'[1] की उपाधि प्रदान की। इसे परम्परा रूप से सभी उत्तराधिकारी धारण करते गये। इस प्रकार मंगोलिया में अपने धर्म का प्रचार करके वे चीन होते हुए स्वदेश लौट गये।

सॉ-नम्-ग्या-सो का मङ्गोलिया में पुनर्जन्म

१५८२ ई० में अल्तन-खगन की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उसका लड़का 'सेङ्-गे-दु-गु' उत्तराधिकारी हुआ। १५८७ ई० में मंगोल सम्राट् की प्रार्थना पर सॉ-नम्-ग्या-सो पुनः मंगोलिया गये। वहीं पर भयंकर रोग से पीड़ित होने के कारण १५८८ ई० में इनका देहावसान हो गया। मंगोलों ने इनके शरीर की स्मृति स्थिर करने के लिये एक वस्त्रखण्ड पर इनका चित्र बनाया। इनकी वाणी की स्मृति को स्थिर रखने के लिये सम्पूर्ण कन्-ग्युर् सुनहरी अक्षरों में छापा गया और मन की स्मृति स्थिर रखने के लिये इनकी रजत-

१ इसका अभिप्राय है—समुद्र नामक गुरु।

समाधि बनाई। इस प्रकार उन्होंने इनके मन, वाणी तथा देह की रक्षा की। मृत्यु से पूर्व मंगोल सम्राट् ने ताले-लामा से प्रार्थना की कि आप अगले जन्म में इसी देश में उत्पन्न होने की कृपा करें। उसकी प्रार्थना स्वीकृत हुई। मृत्यु के अगले ही वर्ष १५८९ ई० में ताले-लामा उत्पन्न हुए उनका अवतार 'सेङ्-गे-दु-गु' में माना गया। उसका नाम 'यॉन्-तेन्-ग्या-सो' रख दिया गया। तेरह वर्ष तक मगोलिया में रह कर नवीन ताले-लामा ल्हासा चले गये।

ताले-लामा राजा और धर्माचार्य के रूप में

१६१५ ई० में नये ताले-लामा की उत्पत्ति हुई। यह पांचवे ताले-लामा के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी प्रभुता को जनता ने स्वीकार न किया। कारण यह था कि इस समय का-दम्-पा सम्प्रदाय ने अपना सिर उठा लिया था। और 'दे-सी-सङ्-पा'[1] सारे मध्य तिब्बत का शासक बन गया था। इसने अपने राज्य की राजधानी शिगात्से को बनाया। इसकी शक्ति इतनी अधिक बढ़ चुकी थी कि इसने ताले-लामा को, जो अभी बच्चा ही था, मारने के लिये भी आदमी तैनात किये। वे उसे तो न मार सके परन्तु उसकी माता को मारने में सफल हो गये। ताले-लामा बहुत साहसी था। वह इससे घबराया नहीं। जब वह बीस वर्ष का हुआ तो उसे अपने मंगोल मित्रों का ध्यान आया। तुरन्त ही उसने मंगोल सरदार गुसरीखां से सहायता मांगी। गुसरीखां और ताले लामा दोनों ने एक ही

राज्यशक्ति की प्राप्ति

से विद्याभ्यास किया था, इसके अतिरिक्त गुसरीखाँ को आशा थी कि सम्भवतः ताले-लामा की सहायता से मैं पुनः चीन में मंगोल साम्राज्य स्थापित कर सकूं, इस लिये वह सहायता करने को उद्यत हो गया। १६४२ ई० में गुसरीखां ने तिब्बत पर आक्रमण किया।

१. यह का-दम्-पा सम्प्रदाय का अनुयायी था।

दे-सी-सङ्-पा बुरी तरह परास्त होकर भूटान भाग गया और वहां राजकीय विहार में अध्यापन करने लगा। गुसरीखां ने सम्पूर्ण तिब्बत जीत कर ताले-लामा की भेंट कर दिया। तब से ताले-लामा केवल धर्माचार्य ही न रहा अपितु तिब्बत का राजा भी बन गया। दोनों शक्तियां ताले-लामा के आधीन हो जाने से तिब्बत की सम्पूर्ण राजनीतिक और धार्मिक शक्ति ल्हासा में केन्द्रित हो गई। छोटे छोटे स्वतंत्र शासकों का प्रभाव नष्ट हो गया। भिन्न भिन्न विहारों का शासन समाप्त होकर गे-लुक्-पा सम्प्रदाय का प्रभाव दृढ़ हो गया।

पोतला प्रासाद

राज्यशक्ति प्राप्त करके ताले-लामा ने अपने को 'अवलोकितेश्वर' का अवतार प्रसिद्ध किया। जनता ने इसमें कोई आना-कानी न की क्योंकि उन्होंने सोचा कि हमारा राजा मानवीय न होकर दैवीय है, वह देवता का अवतार है। उसने पुराना निवास स्थान छोड़ कर रक्त पर्वत पर नया प्रासाद बनवाया। यही वह पर्वत है, जिस पर तिब्बत का महाप्रतापी सम्राट् स्रोङ्-सेन्-गम्-पो रहता था। इस प्रासाद के पूर्ण होने में चालीस वर्ष लगे। इस बीच में ताले-लामा की मृत्यु हो चुकी थी। प्रासाद का नाम दक्षिण भारत के एक पर्वत के नाम पर पोतला रक्खा गया (?)। यह पर्वत भारत में अवलोकितेश्वर का पवित्रस्थान माना जाता है और ताले-लामा अवलोकितेश्वर का अवतार समझा जाता है। इसलिये उसने अपने प्रासाद का नाम भी पोतला ही रक्खा। इस प्रासाद में अनेक द ीय पदार्थ विद्यमान हैं। इसमें स्रोङ्-सेन्-गंम्-पो तथा ठॉन्-मी-सम्-बो-ता की स्मृति में भवन बने हुए हैं, जिनमें उनकी प्रतिमायें विराजमान् हैं। इनमें उन्होंने लाल रंग की पगड़ियां पहनी हुई हैं। इन मूर्त्तियों को देख कर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि तिब्बत में बौद्धधर्म उत्तर-पश्चिमीय भारत से प्रविष्ट

हुआ था। एक भवन में पांचवें ताले-लामा की मूर्त्ति भी है। इसी प्रासाद के पश्चिमीय भाग में छठे ताले-लामा को छोड़ कर क्योंकि इसकी मृत्यु तिब्बत से बाहर हुई थी, शेष सब ताले-लामाओं की समाधियां बनी हुई हैं। इन समाधियों पर चान्दी मढ़ी हुई है। उस पर सोने का काम किया हुआ है। बीच बीच में लाल, नीलम, हीरे, मोती आदि बहुमूल्य पत्थर जड़े हुए हैं।

मृत्यु गुप्त रक्खी गई

१६५२ ई० में पंचम ताले-लामा चीनी सम्राट् से मिलने पेकिङ् गया। सम्राट् ने एक स्वतंत्र शासक के रूप में उसका स्वागत किया। उसने ताले-लामा को एक पट्टी भेंट की जिसमें उसकी स्तुति की गई थी। १६८० ई० में पंचम ताले-लामा की मृत्यु हो गई। कई वर्ष तक उसकी मृत्यु का समाचार गुप्त रक्खा गया। जब कोई व्यक्ति उसके विषय में पूछता तो उत्तर मिलता— 'वे ध्यान में मग्न हैं।' यह समाचार क्यों गुप्त रक्खा गया इसका ठीक ठीक कारण तो ज्ञात नहीं होता, कहा जाता है कि इस बीच में नवीन अधिकारी को ढूंढा गया। सभी ताले-लामाओं में पञ्चम ताले-लामा का बहुत महत्त्व है। यह तिब्बती इतिहास में नवयुग का प्रवर्त्तक माना जाता है। यही कारण है कि देश में इसका बहुत आदर है। प्रातः काल इसकी समाधि पर पूजा प्रारम्भ होती है और सूर्यास्त होने पर समाप्त होती है। दिन भर श्रद्धालु लोग आते हैं और अपने श्रद्धा-भाजन पर पत्र-पुष्प चढ़ा जाते हैं।

छठा ताले-लामा और उसका उत्तराधिकारी

पंचम ताले-लामा की मृत्यु के दस वर्ष पश्चात् छठा ताले-लामा गद्दी पर बैठा। यह नाच-गान, मद्यपान और भोगविलास में बहुत रुचि रखता था। इन प्रवृत्तियों को देख कर चीनी और मंगोल सम्राट् ने इसका विरोध किया। परिणामतः चीनी सैनिक उसे पकड़ कर पेकिङ् ले जाने लगे। तिब्बती लोग अपने धर्मगुरु का यह अपमान न सह सके। उन्होंने विद्रोह किया पर सेना न होने से

कुछ न कर सके। उधर पेकिङ् पहुंचने से पूर्व ही मार्ग में ताले-लामा की मृत्यु हो गई। अब प्रश्न था कि अगला ताले-लामा किसे बनाया जाये। चीनी सम्राट् ने पच्चीस वर्ष की आयु के एक व्यक्ति को सप्तम ताले-लामा नियुक्त किया। परन्तु जनता ने उसे स्वीकार न किया। उन्होंने एक अन्य बच्चे को ताले-लामा बनाया। मंगोल सम्राट् ने तिब्बतियों का साथ दिया। बहुत देर तक दोनों में संघर्ष रहा। अन्ततः चीनी सरकार को झुकना पड़ा और तिब्बतियों द्वारा घोषित बालक को ही ताले-लामा स्वीकार करना पड़ा। कुछ समय पश्चात् चक्र पल्टा और वे तिब्बती जो चीनियों के शत्रु थे, अब चीनियों से मिल कर अपने देश से मंगोलों को खदेड़ने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि मंगोलों के स्थ न पर चीनी प्रभुत्त्व स्थापित हो गया और देश का वास्तविक शासनसूत्र चीनियों के हाथ में चला गया।

चीनी प्रभुत्व से छुटकारा

संसार का यह नियम है कि जब किसी जाति या राष्ट्र के दुर्दिन आते हैं तो वह उज्ज्वल भूत को स्मरण करता है। ठीक यही दशा आज भारत की है और यही दशा अठारहवीं शताब्दी में तिब्बतियों की थी। चीनियों के शिकंजे में कसे हुए तिब्बती लोग उन पुराने दिनों को स्मरण करने लगे जब तिब्बती सेनाएं तुर्किस्तान और चीन के मैदानों को रौंदती हुई जाती थीं और जब तिब्बत के प्रतापी सम्राटों से चीनी सम्राट् भी भय खाया करते थे। उन्हें वह समय स्मरण हो आया जब प्रचण्ड मंगोलों पर भी उनका प्रभाव पड़ा था और मंगोल सम्राटों ने तिब्बती धर्म को राजधर्म बनाया था। उनके मन में वे दिन फिर से लाने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। चीनियों के कठोर नियन्त्रण ने उनमें आत्मसम्मान की अग्नि प्रज्वलित कर दी। स्वातंत्र्यप्रेम ने उन्हें चीनी प्रभुत्त्व से छुटकारा पाने के लिए विवश कर दिया। इस दशा में १७४५ ई० में

चीनियों के विरुद्ध भयंकर विद्रोह हुआ। यद्यपि वे स्वतंत्र न हो सके फिर भी चीनियों का शिकंजा कुछ ढीला पड़ गया। उन्होंने उसे रक्षितराज्य[1] स्वीकृत करते हुए स्थानीय शासक को स्वतंत्रता-पूर्वक शासन करने के लिए मार्ग खोल दिया।

चार अल्प-वयस्क ताले-लामा

१७५८ ई० में सातवें ताला–लामा की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् आठवां बैठा। इसने १८०५ ई० तक शासन किया। १८०६ में नवां बना। यह केवल १० वर्ष जीवित रहा। दसवां बीस वर्ष की आयु में ही चल बसा। ग्यारहवां सत्रह वर्ष की आयु में १८५३ ई० में परलोकगामी हुआ और बारहवें का १८७४ ई० म अठारह वर्ष की ही अवस्था में देहान्त हो गया। ये चारों बहुत कम समय जिये। तिब्बती लोग इनकी अकालमृत्यु का समाधान एक अन्य ही प्रकार से करते हैं।

भविष्यभाषिणी झील

ल्हासा से सौ मील दक्षिणपूर्व में एक झील है। यह 'तक्-पो' प्रान्त में है। इसका नाम 'पॉ–कोर्-ग्यल्-क्यी-नम्-सो' है। प्रत्येक ताले–लामा के लिये अपने जीवन में इसका दर्शन कम से कम एक बार करना आवश्यक है क्योंकि यह उसके भावी जीवन और मृत्यु के सम्ब ध में बतलाती है। झील पर एक मन्दिर है, जिसमें इस झील की अधिष्ठातृ देवी की प्रतिमा विद्यमान है। वह इतनी भयानक है कि केवल ताले–लामा ही उसके दर्शन कर सकता है। वह अकेला मन्दिर में जाता है और देवी से अपने भावी जीवन के संबन्ध में प्रश्न करता है। कहा जाता है कि ये चारों बहुत छोटी आयु म वहां गये थे और इन्हें यह ज्ञान न था कि देवी को किस प्रकार प्रसन्न किया जाता है। परिणामत: देवी क्रुद्ध हो गई और उसके दर्शन करने के कुछ ही दिन अनन्तर इनकी मृत्यु

१. Mendate

हो गई। तेरहवां ताले-लामा जिसकी मृत्यु अभी ही हुई है, पचीस वर्ष की आयु में देवी के पास गया था। यह जानता था कि उसे कैसे रिझाया जाता है। इसी लिये यह दीर्घजीवी हुआ। अब तक कुल तेरह ताले-लामा हो चुके हैं। तेरहवें की मृत्यु हो जाने से तिब्बती सरकार दो-तीन वर्षों से नये ताले-लामा को ढूँढ रही थी। अभी ज्ञात हुआ है कि वह मिल गया है।

वर्त्तमान परिस्थिति

ताले-लामा का चुनाव

प्रत्येक ताले-लामा मरने पूर्व इस बात का निर्देश करता है कि कहां उत्पन्न होगा। उसकी मृत्यु के तीन-चार वर्ष पश्चात् ताशी-लामा[1] तथा पन्द्रह-बीस अन्य बड़े बड़े लामा जिनमें ले-रा, ड्रे-पुङ्, गन्-देन्, सम्-ये तथा ल्हासा विहार के लामा भी सम्मिलित होते हैं, नवीन ताले-लामा का उत्पत्ति स्थान, उसके चारों ओर की परिस्थितियां, उसका घर, परिवार तथा माता-पिता का पता बताते हैं। इन निर्देशों के अनुसार उस बच्चे को ढूँढा जाता है। यह आवश्यक है कि उस बच्चे की उत्पत्ति के समय कुछ अलौकिक घटनाएं घटित हों। यथा उसके घर पर निरभ्रव्योम में इन्द्रधनुष का निकलना, उत्पत्ति से पूर्व माता-पिता को उसके संबन्ध में स्वप्न आदि आना। अवलोकितेश्वर का अवतार होने के लिये उसमें निम्न चिह्न होने चाहियें:—

(१) उसकी टांगों पर चीते की खाल जैसे चिह्न हों।
(२) उसकी आँखें और भौंहें लम्बी हों।
(३) उसके कान लम्बे हों।

१. ताशि-ल्हुन्-पो विहार का आचार्य।

(४) उसके कन्धे के पट्ठों के समीप मांस के लोथड़े हों, जो इस बात के चिह्न होते हैं कि ये अवलोकित की दो अतिरिक्त भुजाएं हैं।

(५) उसके हाथ की हथेली पर शंख का चिह्न हो। तेरहवां ताले-लामा जिसकी अभी मृत्यु हुई है उसमें पिछले तीन चिह्न थे। इस प्रकार जो बच्चे इन चिह्नों से युक्त पाये जाते हैं। उनके नाम काग़ज़ के टुकड़ों पर लिख कर उस सोने के पात्र में डाले जाते हैं जो १७९३ ई० में चीनी सम्राट् ने भेंट किया था। फिर दो पतली लकड़ियों द्वारा उनमें से एक पर्ची निकाली जाती है। उसे महामंत्री खोलता है। इस प्रकार जिसका नाम निकल आता है उसे ताले-लामा[1] स्वीकार कर लिया जाता है। उसे पुराने ताले-लामा का वस्त्र, घण्टी आदि कई धार्मिक उपकरण लेकर यह कहना पड़ता है कि मैं ही पूर्वजन्म में इनका प्रयोग करता था। उसके पिता को तिब्बत की सबसे ऊँची कुलीन श्रेणी—कुङ्—में सम्मिलित किया जाता है तथा कई बहुमूल्य चिह्न भेंट किये जाते हैं।[2]

इस प्रकार चुने गये ताले-लामा को विशेष प्रकार की शिक्षा दी जाती है। उसे बचपन में तीन-चार वर्ष की ही आयु में माता पिता से पृथक् कर लिया जाता है। विशेष पण्डित उसे शिक्षित करने के लिये नियुक्त किये जाते हैं जो उसे उसकी दैवीय शक्ति तथा कर्त्तव्य ताले-लामा की शिक्षा

---

१. यह मंगोल उपाधि है। तिब्बती लोग इसे प्रायःकर 'क्यम्-गॉन्-रिम्-पो-चे' (The precious protector = महान् रक्षक), 'ग्ये-वा-रिम्-पो-चे' (The precious sovereign = महाराज; 'बक्' (The Inner-most one = अन्तरङ्गतम) आदि नामों से पुकारते है।

२. देखिये, Tibet Past and Present, By Charles Bell, Page 48-54.

के योग्य शिक्षा देते हैं। इस अवस्था में उसे स्त्रियों के सम्पर्क से दूर रक्खा जाता है। यहां तक कि माता के दर्शन भी नहीं कराये जाते। शराब आदि मादक द्रव्यों के सेवन से उसे बचाया जाता है। यह शिक्षा उसे इसलिये दी जाती है जिससे वह धर्ममार्ग का अनुसरण कर सके।[१] बाल्यकाल में इस प्रकार की शिक्षा देने का बहुत प्रभाव भी पड़ता है। अब तक तेरह ताले-लामा हो चुके हैं। इनमें से केवल छठा ही ऐसा था जिसने धर्मपथ का अनुसरण नहीं किया। शेष सब अच्छे थे। छठे के पथभ्रष्ट होने का कारण भी शिक्षकों की असावधानता बताया जाता है। जब ताले-लामा सात वर्ष का होता है और कभी कभी इससे भी छोटी आयु में उसे ल्हासा के पोतला प्रासाद में लाया जाता है। अठारह वर्ष की आयु में उसे राजकीय तथा धार्मिक कार्यभार सौंपा जाता है। उसका राजनीतिक अधिकार तो केवल तिब्बत पर ही रहता है परन्तु उसका धार्मिक अधिकार तिब्बत के अतिरिक्त लद्दाख, सिक्किम, भूटान, मंगोलिया, चीनीतुर्किस्तान, चीन का कुछ भाग, एशियाई साएबेरिया में बुरिअत प्रदेश तथा योरुप में कल्मुल्क प्रदेश पर भी माना जाता है। यद्यपि यह बहुत विस्तृत क्षेत्र है परन्तु इसकी जनसंख्या अत्यल्प है। अपना कार्यभार ग्रहण करने के अनन्तर भी ताले-लामा विवाह नहीं करता। वह सम्पूर्ण आयु ब्रह्मचारी रहता है। स्त्रियों के सम्पर्क से पृथक् रहता है। मद्य आदि मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करता। मांस वह खा

१. यह गुरुकुल शिक्षाप्रणाली का ही एक रूप है।

देखिये, मनुस्मृति अ० २, श्लोक० ११७

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥

सकता है क्योंकि तिब्बत में मांस साधारण भोजन का अंग माना जाता है।

ताले-लामा की कार्यप्रणाली

ताले-लामा के बचपन की अवस्था में शासन का कार्य एक अभिभावक करता है। यह आवश्यकतौर पर लामा[1] होता है। अब तक केवल एक बार साधारण नागरिक इस पद पर प्रतिष्ठित किया गया है और वह भी विशेष परिस्थिति में, क्योंकि उसने गुरखों को भगाने में सरकार की जी तोड़ सहायता की थी। अभिभावक का चुनाव से रा, ड्रे-पुङ् और गन्-देन् इन विहारों के लामाओं में से किया जाता है जिसे तिब्बत की 'नैशनल असेम्बली' स्वीकार करती है। यदि वह इन तीनों में से किसी को भी योग्य न समझे तो गन्-देन् विहार के महालामा को यह पद प्रदान किया जाता है। यदि वह भी स्वीकार न हो तब ताले-लामा के शिक्षक को ही अभिभावक बना दिया जाता है। जब तक ताले-लामा शासनकार्य ग्रहण नहीं करता तब तक अभिभावक ही शासन करता है।

तिब्बत की शासनव्यवस्था बड़ी अद्भुत है। वह सामन्त-पद्धति और नवीन पद्धति की खिचड़ी सी है। ताले-लामा के नीचे अनेक कर्मचारी होते हैं। इनमें भिक्षु और गृहस्थ दोनों ही रहते हैं। भिक्षु कर्मचारियों को 'से-दङ्' और नागरिकों को 'उङ्-खोर' कहते हैं। इन दोनों के ऊपर चार महामंत्री होते हैं। इन चारों में से एक अध्यक्ष बनाया जाता है और शेष तीन उसके सहायक। ताले-लामा की कैबिनिट में कुल सोलह व्यक्ति होते हैं। चार प्रधानमंत्री, तीन अर्थसचिव, दो युद्धसचिव, एक नगरमंत्री, एक धर्मसचिव, एक न्यायमंत्री और चार महामंत्री। साधारण जनता का

१. तिब्बत में 'लामा' सब भिक्षुओं को नहीं कहा जाता। केवल बड़े बड़े भिक्षुओं को ही कहा जाता है। इसीलिये प्रस्तुत ग्रन्थ में साधारणतया 'भिक्षु' शब्द का व्यवहार किया गया है।

संबन्ध जमीदारों के साथ है और यह संबन्ध ताल्लुकेदारी का सा है।[1]

ताले-लामा को स्वयं भी बहुत कार्य करना पड़ता है। वह विहारों और भिक्षुओं पर नियन्त्रण रखता है। वह प्रतिदिन कई घण्टे झगड़े निपटाने में भी व्यय करता है। लोग छोटे छोटे झगड़े भी उसके पास ले आते हैं। यहां तक कि मकान के स्वामी से किराया कम करने के संबन्ध के प्रार्थनापत्र भी उसके पास आते हैं। वह उनका भी निपटारा करता है। न्यायधीश और व्यवस्थापिका-सभा के निर्णय के पश्चात् ताले-लामा से सीधी प्रार्थना की जा सकती है। राजनीतिक मामलों में बड़े बड़े विहारों की सम्मति भी जानी जाती है परन्तु सर्वोच्च निर्णय ताले-लामा पर ही छोड़ दिया जाता है।

भिक्षुओं का रहन-सहन

तिब्बत का बौद्धधर्म दो भागों में बंटा हुआ है। एक प्राचीन सम्प्रदाय और दूसरा नवीन। प्राचीन सम्प्रदाय वालों को 'लाल टोपी वाले' और नवीन सम्प्रदाय वालों को 'पीली टोपी वाले' कहा जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में बौद्धों के 'रक्ताम्बर' और 'पीताम्बर' ये दो भेद मिलते हैं। इसलिये इन्हें इन नामों से कहना अनुचित नहीं है। यद्यपि रक्ताम्बर सम्प्रदाय शाक्य, कर्माप आदि कई भागों में बंटा हुआ है परन्तु मूल सिद्धान्तों की दृष्टि से इन में कोई भेद नहीं है। रक्ताम्बर सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक पद्मसम्भव थे। इस सम्प्रदाय की सभी पुस्तकें संस्कृत में हैं, जिनका तिब्बती में अनुवाद कर लिया गया है। अबसे पांच सौ वर्ष पूर्व तिब्बत में इस सम्प्रदाय का बहुत प्रचार था। इसके प्रचार से देश का भयंकर अधःपतन हुआ। परिणामतः इसके विरुद्ध आन्दोलन हुआ और एक नये

१ देखिये, तिब्बत में तीन वर्ष, इकाईकावागुचीकुन, पृष्ठ ३१६-१७

सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसे पीताम्बर सम्प्रदाय कहते हैं। इसके आदि प्रवर्त्तक तो आचार्य अतिशा थे, परन्तु पीछे से शिष्यों ने उन्हीं की शिक्षाओं को आधार मानकर इस सम्प्रदाय की सृष्टि की। वर्त्तमान समय में तिब्बत में इस सम्प्रदाय का बहुत प्रचार है। इसी सम्प्रदाय के लामाओं का वहां शासन है। पीताम्बरों का चोगा, टोपी आदि सब कुछ पीला और रक्ताम्बरों का लाल होता है। भिक्षुकियों के वस्त्र भी भिक्षुओं जैसे ही होते हैं।

भिक्षुओं के वस्त्रों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु माला है। इसे केवल भिक्षु ही नहीं अपितु तिब्बत का प्रत्येक स्त्री-पुरुष रखता है। माला में १०८ मनके होते हैं। १०८ संख्या इसलिये रक्खी गई है कि सौ वार मंत्र का जाप किया जा सके। यदि जपते हुए कोई छूट जाये अथवा कोई मनका गिर जाये तो उसकी पूर्ति के लिये शेष आठ मनके हैं। १०८ संख्या भारतीय है। यहां की मालाओं में भी १०८ मनके होते हैं। इनकी माला में भेद इतना है कि जहां माला के दोनों सिरे मिलते हैं वहां गांठ के पश्चात् तीन अतिरिक्त मनके लगे होते हैं। ये तीनों बुद्ध, धर्म और संघ के प्रतिनिधि समझे जाते हैं। बीच का मनका बड़ा होता है और उसे बुद्ध का प्रतिनिधि माना जाता है। माला के साथ दो अतिरिक्त धागे होते हैं। इसके साथ कभी कभी घन्टी और वज्र और कभी केवल मनके ही होते हैं। मनके किस वस्तु के हों, यह रखने वाले पर निर्भर करता है। गे-लुग्-पा सम्प्रदाय के लोग पीले मनकों की माला रखते हैं, जिसे वे बोधिद्रुम की लकड़ी से बना बताते हैं। पर वास्तव में वह साधारण लकड़ी की होती है।

भिक्षुओं के लिये अविवाहित रहना आवश्यक नहीं है। गे-लुग्-पा सम्प्रदाय के भिक्षु तो अविवाहित रहते हैं परन्तु दूसरे सम्प्रदायों में दोनों तरह के पाये जाते हैं। कई भिक्षु भिक्षापात्र

और दण्ड भी रखते हैं परन्तु यह केवल दिखावे के लिये ही होता है। कारण यह कि भिक्षु लोग भिक्षा से पेट नहीं पालते। विहारों के पास निजू सम्पत्ति है। उनके अनेक गांव हैं, जिनसे वे स्वयं कर इकट्ठा करते हैं। अधिक सहायता प्राप्त करने के लिये वे उपज के दिनों में भिक्षायात्रा को भी निकलते हैं। चित्र और मूर्त्तियां बना कर भी वे धन एकत्र करते हैं। कुण्डली और जन्मपत्री बनाने से भी उन्हें धन प्राप्त होता है। कई विहार व्यापार भी करते हैं। इसके द्वारा वे बहुत समृद्ध हो गये हैं। यही कारण है कि भिक्षु लोग तिब्बत के मुख्य व्यापारी तथा पूंजीपति हैं। भिक्षु केवल पण्डित ही नहीं होते। वे सेना और सरकारी विभागों में भी काम करते हैं। ऐसे भिक्षुओं को युवावस्था में ही विहारों से निकाल कर उस कार्य के लिये शिक्षित किया जाता है। प्राय: सभी विभागों में भिक्षु लोग कार्य करते हैं। यहां तक कि राजकोष और सेना में भी उनकी पहुंच है।

भिक्षुओं की दिनचर्या

भिक्षुओं की दिनचर्या इस बात पर आश्रित है कि वे गांव में रहते हैं या विहार में। भारत की तरह के भिक्षु तिब्बत में बहुत कम हैं। भिक्षुओं की अधिकांश संख्या तो खेती, व्यापार, सेना तथा प्रबन्ध में लगी हुई है। शेष विहारों में रहते हैं। इनकी दिनचर्या इस प्रकार है— "नींद खुलने पर, चाहे नींद मध्यरात्रि में ही क्यों न खुली हो, भिक्षु अपनी चारपाई से उठ खड़ा होता है और अपने सिरहाने की वेदी के सम्मुख तीन बार सिर झुका कर स्पष्ट ध्वनि में कहने लगता है—"हे दयालु दर्शक! हे कृपानिधान प्रदर्शक! मुझे समर्थ बनाओ। मैं २५३ नियमों का पालन कर सकूं। गाने-बजाने और नाचने की ओर मेरी कभी रुचि न हो। सांसारिक समृद्धि मुझे कभी प्रलोभित न कर सके। विलासिता की ओर मैं कभी आकृष्ट न होऊं। मैं उस वस्तु को कभी

ग्रहण न करूं जो मुझे नहीं दी गई।" वह फिर प्रार्थना करता है "हे बुद्धो और बोधिसत्त्वो ! मेरी नम्र विनती की ओर ध्यान देवो। मैं शुद्धचित्त भिक्षु हूं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि मैं अपना जीवन प्राणियों के हित के लिये बलि चढ़ा दूं। मैं सच्चे हृदय से कहता हू कि मेरे जीवन का एकमात्र उद्देश्य प्राणि-मात्र का कल्याण करना है।' तदनन्तर वह 'ओ३म् आहुम्' मंत्र का सात वार उच्चारण करता है। यह प्रार्थना कर वह फिर से सो जाता है, किन्तु यदि दिन चढ़ने ही वाला हो तो थोड़ी देर और प्रार्थना करता है कि इतने में सत्संग का प्रथम घन्टा बज उठता है।"

"प्रथम सत्संग सूर्योदय से पूर्व लगता है। उस समय विशाल घन्टा बजता है जिससे सोते हुए सब भिक्षु उठ बैठते हैं। शीघ्र ही शंखध्वनि होती है और तुरही बजती है। सब भिक्षु कपड़े पहन कर शौचार्थ कमरे से बाहिर निकल जाते हैं। शौच से निवृत्त होकर चबूतरे पर इकट्ठे होते हैं। बिना हाथ धोये खड़े होकर 'ओ३म् अर्घं सर्घं विमंश। उच्छुष्म महाक्रोध हुम्फट' इस मंत्र को यह समझते हुए जपते हैं कि हमारे सब पाप और मल धुल गये हैं। इसके अनन्तर ताम्बे के पात्र में रखे जल से हाथ धोते हैं। हस्त-प्रक्षालन के अनन्तर प्रत्येक भिक्षु माला पर अपने प्रिय देवता का मंत्र जपता है। पन्द्रह मिनिट पीछे द्वितीय शंखध्वनि होती है। सब भिक्षु मंदिर के द्वार पर सिर झुकाते हुए भीतर प्रवेश करते हैं, और चुप-चाप आसनों पर बैठ जाते हैं। तृतीय शंखध्वनि पर प्रार्थना आरम्भ होती है। प्रार्थना के पश्चात् चाय बंटती है। चायपान के उपरान्त कुछ छोटी-मोटी प्रार्थनाएं होती हैं। फिर सूप बंटता है और तत्पश्चात सत्संग समाप्त हो जाता है। अपने अपने कमरे में जाकर भिक्षु लोग निजू देवताओं को उपहार देते हैं।"

"नौ बजे दूसरा सत्संग होता है। उसी प्रकार तीन शंख-ध्वनियां होने पर सब भिक्षु मंदिर में इकट्ठे होकर प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना के उपरान्त चाय बंटती है। चाय पीकर सब मंदिर से चले जाते हैं और नये भिक्षु अध्यापकों से पाठ पढ़ते हैं।"

"दोपहर को तीसरी बार सत्संग होता है। उसी प्रकार तीन शंखध्वनियों से भिक्षु इकट्ठे होते हैं और मंदिर में जाकर पूजा करते हैं। पूजा के पश्चात् चाय बंटती है और फिर सभा समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात् सब भोजन करते हैं।"

"तीन बजे चौथी बार सत्सङ्ग लगता है। उसी प्रकार भिक्षु इकट्ठे होते हैं, पूजा करते हैं और देवों को भोजन अर्पित करते हैं। फिर चायपान के पश्चात् सत्सङ्ग विसर्जित हो जाता है।"

"रात को सात बजे अन्तिम सत्संग जुटता है। तीन बार शंख बजा कर भिक्षु इकट्ठे किये जाते हैं। सब मिल कर पूजा करते हैं। पूजा के पश्चात् चाय बंटती है। तत्पश्चात् सत्संग समाप्त होता है और भिक्षु कमरों में लौट जाते हैं। इतने में विशाल घन्टा फिर दुबारा बज उठता है। तब सब लोग सो जाते हैं।"[१]

उपसंहार

इस प्रकार भारतीय प्रचारक आवागमन के मार्गों से सर्वथा शून्य, समय से बहुत पिछड़े हुए उन तिब्बतियों के देश में भी एक दिन हिमाचल की बर्फीली चोटियों को पार कर, सब प्रकार की विपत्तियों को झेल कर प्रविष्ट हुए। उन्होंने कैलाश के श्वेत शिखरों और राजहंसों की जन्मभूमि मानसरोवर के तट पर खड़े होकर 'बुद्धं शरणं गच्छामि' के पवित्र नाद से सारे तिब्बत को गुंजा दिया। स्थान स्थान पर मंदिरों और विहारों की स्थापना की। भारतीय विश्वविद्यालयों की शैली पर विश्वविद्यालय खोले। भारतीय

---

१. देखिये, Lamaism, Page 212—220.

वर्णमाला व्याकरण साहित्य दर्शन ज्योतिष और तंत्रशास्त्र का प्रचार किया। भारतीय भार, नाप और मुद्रा को प्रचलित किया। सहस्रों संस्कृतग्रंथों को तिब्बती में अनूदित कर सर्वसाधारण के हृदय तक उस महान् रक्षक बुद्ध के संदेश को पहुंचाया। यह कहा जा सकता है कि विशुद्ध भारतीय नींव पर तिब्बती धर्म का विशालकाय महाप्रसाद खड़ा किया गया। उसकी एक एक ईंट भारतीय साचे में बनी है। बीच बीच में आँधियां चलीं, तूफ़ान आये, संहार और वध हुए, पर भारत का वह रंग जिसे आज से १३०० वर्ष पूर्व भारतीय प्रचारकों ने अपने हाथों से चढ़ाया था, आज भी फीका नहीं पड़ा है। विहारों के उन्नत, विशालकाय मस्तक भारत की उज्ज्वल महिमा को आज भी सुरक्षित बनाये हुये हैं। रहनसहन में, आचारव्यवहार में, कलाकौशल में—सब जगह भारत की अमिट छाप स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। उन्हें देख कर अन्तस्तल से स्वयं ध्वनि उठती है:—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्य च हेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

एक समय इसी देश से संस्कृतिप्रचारक अपने हाथों म प्रदीप्त ज्योतियों को लेकर निकले थे। उन्होंने अपने प्रकाश से संसार को जगमगाया था, और बिना बल प्रयोग किये, बिना जन-धन का संहार किये, रुधिर की एक बून्द भी गिराये बिना, प्रेम और शान्ति से वह सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किया था, जिसे आज सम्पूर्ण पाश्चात्य विजेता भरसक प्रयत्न करने पर भी स्थापित नहीं कर सके हैं और उनके लिए आज भी यह एक आश्चर्य का विषय बना हुआ है। सिल्विन लिवि के शब्दों में—"भारत ने उस समय आध्यात्मिक और सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किये थे जब कि सारा संसार बर्बरतापूर्ण कृत्यों में डूबा हुआ था और जब उसे

इसकी तनिक भी चिन्ता न थी। यद्यपि आज के साम्राज्य उनसे कहीं अधिक विस्तृत हैं, पर उच्चता की दृष्टि से वे इनसे कहीं बढ़ कर थे क्योंकि वे वर्त्तमान साम्राज्यों की भाँति तोप, तमंचे, वायुयान और विषैली गैसों द्वारा स्थापित न होकर सत्य और श्रद्धा के आधार पर खड़े हुए थे।"

सप्तम-संक्रान्ति

अरब पर भारत का ऋण

सप्तम-संक्रान्ति

अरब पर भारत का ऋण

प्रारम्भिक परिचय

प्रारम्भिक परिचय । संस्कृतिप्रवेश—अरब व्यापारी, बरामका वंश के मंत्री । अरब मे भारतीय साहित्य—महाभारत, नीतिग्रन्थ, पञ्चतंत्र, बोधिसत्त्व । गणितविद्या । ज्योतिषविद्या । चिकित्साशास्त्र । सङ्गीत । भारतीय धर्म । भारत में अरब यात्री । भारतीयों के प्रति अरबों के उद्‌गार ।

पिछले अध्यायों में बौद्धसंस्कृति के विस्तार का वर्णन किया जा चुका है। परन्तु यह केवल बौद्धधर्म ही न था जो हिमालय और समुद्र के पार पहुंचा था। बौद्ध प्रचारकों की भाँति हिन्दू प्रचारक भी अपनी मातृसंस्कृति का प्रचार विविध देशों में कर रहे थे। जिस समय बौद्ध प्रचारक हिमालय की बर्फीली और विकट शिखरावली पर चढ़ते उतरते हुए, पद पद पर हड्डियों तक को कँपा देने वाली तुषार वर्षाओं से विचलित न होते हुए, त्रिविष्टप में प्रविष्ट हो रहे थे, ठीक उसी समय हिन्दू प्रचारक अति उत्तुङ्ग उर्मिमालाओं से क्रीड़ायें करते हुए, अरब सागर के विशाल वक्षःस्थल को चीरकर अतितप्त बालुका पर अपने को तपाते हुए, हज़रत मुहम्मद के अनुयायिओं में राम और कृष्ण के प्रति, गङ्गा और यमुना के प्रति भव्य भावनायें उत्पन्न कर रहे थे।

अरब की यह मरुभूमि इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। कारण यह कि इसी मरुस्थली में वह महापुरुष उत्पन्न हुआ था जिसे सत्ताईस करोड़ नरनारी अवतार मानकर पूजते हैं, और जिसके एक एक शब्द पर आज भी उसके अनुयायी प्राण न्यौछावर करने को तय्यार हैं। इस महापुरुष का नाम मुहम्मद है। इसने अरब के उन असभ्य लोगों को, जिन्हें इससे पूर्व कोई भी वश में करने को समर्थ न हुआ था बत्तीस वर्ष तक अपने कठोर नियंत्रण में रक्खा। और आगे चलकर इन्हीं सैनिकों के द्वारा अरब का वह विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ जिसका एक छोर पर्शिया और दूसरा स्पेन था, और जो सिन्ध से लेकर उत्तरीय अफ्रीका तक विस्तृत था। बौद्धधर्म के प्रसार में जो स्थान मगध का है, इसाईयत के विस्तार में जो स्थिति रोम की है, वही स्थान इस्लाम के प्रचार में अरब का है। अरब इस्लाम की जन्मभूमि है, यहीं से सर्वत्र इस्लाम का प्रचार हुआ है। किन्तु अरब पर भी भारतीय संस्कृति की पर्याप्त छाप अब तक विद्यमान है। जिस प्रकार चीन निवासी भारत को शाक्यमुनि का देश समझ कर पवित्र मानते रहे, और तीर्थ समझ कर समय समय पर इसकी यात्रा के लिये आते रहे, उसी प्रकार अरब में भी यह पैतृकभूमि के रूप में पूजा जाता रहा, और बड़े बड़े ख़लीफ़ा तक अपनी ज्ञानपिपासा शान्त करने के लिये हिन्दू पण्डितों को सम्मानपूर्वक आमंत्रित कर उनसे विद्यादान ग्रहण करते रहे। हदीसों में वर्णन आता है कि जब हज़रत आदम को स्वर्ग से निकाल दिया गया तो वे पृथ्वी के स्वर्ग भारत में[1] उतारे गये। भूमि पर उतरते समय उन्होंने अपना प्रथम चरण लंका के एक पर्वत पर रक्खा जिसे आज तक आदम का शिखर[2] कहा जाता है।

---

१. वहां लिखा है—'हिन्दोस्तान जन्नत निशान।'

२. Adem's peak

भारतवर्ष के जिस भाग में हज़रत आदम उतरे उसे दजनाय[1] कहा गया है। यही कारण है कि दक्षिणभारत में होने वाले मसालों को अरब लोग स्वर्ग का मेवा समझते हैं, और ऐसा मानते हैं कि इन्हें आदम अपने साथ स्वर्ग से नीचे लाये थे। इतना ही नहीं, मुसलमानों का एक प्रख्यात वंश जो सय्यद्‌वंश के नाम से विख्यात है, अपनी नसों में भारतीय रुधिर रखता है। सैय्यदवंश के निर्माताओं में हज़रत इमाम जैनुल् आबिदीन का बहुत बड़ा भाग है। इस जैनुल् आबिदीन की माता अरब नहीं थी, वह सिन्ध की रहने वाली थी। इस प्रकार अरबों का एक प्रसिद्ध वंश बहुत प्राचीन समय से अर्धभारतीय है।[2] इन बातों से यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि इस्लाम के गढ़ अरब पर भी भारतीयों ने अपना असर छोड़ा है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि अरब में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ किस प्रकार ?

संस्कृतिप्रवेश

अरबों में भारतीय संस्कृतिप्रवेश के दो कारण हैं:—

(क) अरब व्यापारी,

(ख) बरामका वंश के मंत्री

यहां दोनों पर संक्षेप से प्रकाश डाला जायेगा और यह बताने का प्रयत्न किया जायेगा कि भारतीय संस्कृति के प्रसार में इनका कितना कितना भाग है।

अरब व्यापारी

अरब और भारत दो ऐसे देश हैं जिनके बीच में एक समुद्र दोनों को एक दूसरे से मिलाता है। इस समुद्र का एक तट यदि भारत है तो दूसरा अरब। अरब के तीन ओर समुद्र है। पूर्व

१. दक्षिणभारत।

२. देखिये, किताबुल् आरिफ।

में ईरान की खाड़ी, पश्चिम में लाल सागर, और दक्षिण में हिन्द-महासागर। इसके चारों ओर संसार के बड़े बड़े देश हैं। एक ओर ईराक, दूसरी ओर ईरान, तीसरी ओर मिश्र और सामने भारतवर्ष। इसकी भौगोलिक स्थिति ही ऐसी है जिसके कारण अत्यन्त प्राचीन समय से ही यह व्यापार मे संलग्न देखा जाता है। हजरत इब्राहीम के दो ही पीढ़ी पश्चात् हजरत यूसुफ के समय से वास्कोडिगामा तक अरब लोग भारतीय सामान को विदेशों मे बेचते रहे। प्राचीन समय में अरब लोग जिस मार्ग से व्यापार करते थे वह इस प्रकार है—अरब से मिश्र और वहां से लालसागर के किनारे किनारे चलकर कुछ लोग अफ्रीका चले जाते थे। कुछ लोग ईरान की खाड़ी पार कर बिलोचिस्तान के बन्दरगाह 'तेज' में उतरते थे। वहां से सिन्ध के बन्दरगाह 'देवल'[1] पहुचते थे। देवल से काठियावाड़ के बन्दरगाह थानाखम्भात आते थे। वहां से कुछ तो अंदमान चले जाते थे, और शेष बंगाल की खाड़ी में से होकर बर्मा और स्याम होते हुए चीन तक जाते थे और व्यापारिक सामान को लेकर इसी मार्ग से वापिस लौट आते थे। व्यापारी होने के कारण अरबों को भारत के विषय में अच्छा परिचय था। उनको यह भी मालूम था कि भारत में कौन बड़े बड़े पण्डित हैं, और कौन कौन से अच्छे वैद्य हैं। यही कारण है कि जब खलीफाओं को वैद्यों की आवश्यकता अनुभव हुई तो इन व्यापारियों ने ही भारतीय वैद्यों का परिचय दिया और वे अरब ले जाये गये। यह पहला कारण था जिससे भारतीय वैद्य और पण्डित अरब पहुंचे और वहां जाकर उन्होंने अपनी विद्या के चमत्कार दिखाये।

बरामका वंश के मंत्री

लेकिन दूसरा कारण जो भारतीय संस्कृति के प्रसार में अत्यधिक सहायक हुआ, बरामका वंश का मन्त्रीपद पर आरूढ़ होना

१. वर्तमान कराची।

था। प्रश्न होता है कि बरामका लोग कौन थे? आमतौर पर कहा जाता है कि ये लोग अग्निपूजक थे। 'बलख' में मनोचहर का बनाया हुआ नौबहार नामका एक अग्नि मन्दिर था। ये लोग इसी अग्निमदिर के पुजारी थे। ६५१ ई० में जब मुसलमानों ने बलख पर आक्रमण किया तब अग्निमन्दिर गिरा दिया गया और कुछ अग्निपूजक लोग मुसलमान बन गये। मुसलमान बन कर ये दमिश्क गये। तदनन्तर जब अरबों के शासन का केन्द्र बग़दाद बना तो धीरे धीरे उन्नति करते हुए ये लोग प्रधानमन्त्री के पद पर पहुंच गये।

ऊपर का वर्णन कुछ असंगत सा जान पड़ता है, क्योंकि तत्कालीन तथा पश्चात्कालीन लेखकों में से किसी ने भी नौबहार को अग्निमन्दिर नहीं लिखा।

मसऊदी लिखता है, "नौबहार का मन्दिर बहुत ऊँचा था। उस पर बांसों में हरे रेशम के बहुत बड़े बड़े झण्डे लहराते थे।"[1]

प्रसिद्ध लेखक इब्नुल् फ़कीह नौबहार का वर्णन इस प्रकार करता है—"नौबहार का मन्दिर बरमका ने बनवाया था। बरमका का धर्म मूर्त्तिपूजा था। जब उन्हें मक्का के मन्दिर का पता चला तब उन्होंने यह उपासनामन्दिर बनवाया। मन्दिर का नाम नौबहार रक्खा गया। इस के चारों ओर पुजारियों के रहने के लिए ३६० कमरे थे। इनमें साल के प्रत्येक दिन के लिये एक एक पुजारी रहता था। पुजारियों के प्रधान को बरमका और प्रत्येक पुजारी को बरमक कहते थे। चीन और काबुल के बादशाह इस धर्म को मानते थे। जब वे यहां आते थे तो इसके सम्मुख नत-मस्तक होते थे।"[2]

१ देखिये, अरब और भारत के सम्बन्ध, रामचन्द्रवर्माकृत. पृष्ठ ८९

२. देखिये, किताबुल् बुल्दान, पृष्ठ ३२२

मन्दिर का वर्णन करते हुए याकूत लिखता है, "उमर बिन[1] अजरक किरमानी ने कहा है कि बलख में बरामका लोगों का बड़ा आदर था। इनका धर्म मूर्त्तिपूजा था। इन्होंने मक्का के मन्दिर के अनुकरण पर नौबहार मन्दिर बनवाया था। नौबहार का अर्थ नई बहार अर्थात् वसन्तऋतु है। इस ऋतु में मूर्त्तियों पर नये फूल चढ़ाये जाते थे। मन्दिर के शिखर पर झण्डे खड़े किये जाते थे। भारत, चीन और काबुल के राजा इस धर्म को मानते थे और मूर्त्ति के सम्मुख आदर से सिर झुकाते थे।"

प्रसिद्ध अरब ऐतिहासिक कजवीनी बलख का वर्णन करते हुए लिखता है, "यहीं पर वह मन्दिर था जिसका नाम नौबहार था और जो सब मन्दिरों में बड़ा था। वह मक्के की नकल पर बनाया गया था। उस पर रेशम लिपटा हुआ था। मन्दिर के भीतर मूर्त्तियां खड़ी थीं। उसके पुजारी बरामका कहलाते थे। भारत और चीन के राजा यहां आकर मूर्त्ति के सामने प्रणाम करते थे।"[2]

ये सब वर्णन पढ़ कर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि यह अग्निमन्दिर न होकर बौद्धमन्दिर था। क्योंकि:—

(क) चीन, भारत और काबुल के राजा अग्निपूजक न थे। साथ ही वर्णनों में अग्नि का उल्लेख कहीं नहीं मिलता, प्रत्युत मूर्त्तिपूजा की ओर निर्देश किया गया है। बात यह है कि विहार शब्द ही बिगड़ कर 'बहार' बन गया है। नौबहार वस्तुत: 'नव-विहार' है जिसका अर्थ नया विहार है। और 'बरमक' संस्कृत के 'परमक' का विकृतरूप है जिसका अभिप्राय बड़ा, श्रेष्ठ और पूज्य

१ बिन का अर्थ है लड़का। उमर बिन = उमर का लड़का।

२ देखिये, अरब और भारत के सम्बन्ध, पृष्ठ ९०–९१।

होता है। मुसलमानों के आगमन से पूर्व सिन्ध में नव-विहार नाम से बहुत से विहार बने हुए थे।

(ख) जखाऊ ने 'किताबुल् हिन्द' के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका लिखते हुए पृष्ठ इक्कीस पर 'नौबहार' का वास्तविक रूप 'नव-विहार' ही दिखाया है, और इसे बौद्ध भिक्षुओं का निवास स्थान बताया है।

(ग) डब्ल्यू बर्थोल्ड ने भी 'इस्लाम के विश्वकोष' में बरामका शीर्षक पर लिखा है, "नौबहार बौद्धों का नवविहार जान पड़ता है।

(घ) मसऊदी नौबहार का वर्णन करते हुए लिखता है, "लोग ऐसा कहते हैं कि उन्होंने नौबहार मन्दिर के द्वार पर एक लेख पढ़ा था जिसमें लिखा था, बुज़[1] आसफ का कथन है कि राजाओं के द्वार तीन गुणों के इच्छुक रहते हैं-बुद्धि सन्तोष और धन।" यदि यह अग्निमंदिर था तो इस पर बुद्ध के वचनों को उद्धृत करने का क्या अभिप्राय था? तब तो जरथुस्त्र के वचन खुदे होने चाहियें थे।

(ङ) बलख़, खुरासान का एक प्रसिद्ध नगर है। इस्लाम से पूर्व यहां बौद्धधर्म का प्रचार था। इब्ननदीम लिखता है, "इस्लाम के आगमन से पूर्व खुरासान का धर्म बौद्ध था।"[2]

(च) याकूतकृत 'मुअज्मुल् बुल्दान' के पृष्ठ ३२४ पर लिखा है, "बलख़ पर मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् बरमक की स्त्री अपने सबसे छोटे पुत्र को लेकर काश्मीर गई। वहां उस बालक को चिकित्सा, ज्योतिष आदि अनेक भारतीय विद्यायें सिखाई गई।

---

१ ईरानी भाषा में कई जगह ज़ाल के स्थान पर दाल का प्रयोग होता है। इसलिये बुज़ = बुद = बुद्ध।

२. देखिये, किताबुल् फेहरिस्त पृ४ ३४५।

कुछ समय पश्चात् बलख में बहुत ज़ोर से महामारी फैली। लोगों ने समझा कि यह पुराने धर्म को छोड़ने के कारण आई है। इस लिये उन्होंने छोटे बालक को काश्मीर से बुलवा कर नौबहार का नये सिरे मे शृङ्गार किया।"[1] इससे स्पष्ट है कि इस वंश का संबन्ध भारत से था और यह बात तो सर्व विदितही है कि उस समय काश्मीर बौद्धशिक्षा का महान् केन्द्र था। यदि बरामका लोग अग्निपूजक होते तब तो वे काश्मीर न आकर ईरान की शरण लेते।

(छ) अभी हाल में ही अरबी का एक विश्वकोष प्रकाशित हुआ है जिसका नाम 'मसालिकुल् अब्सार फी ममालिकिल् अम्सार' है। इसके प्रथम खण्ड के पृष्ठ २२३ पर लिखा है, "नौबहार को भारत के राजा मतोशहर ने बलख में बनवाया था। यहां नक्षत्रों और चन्द्रमा की पूजा करने वाले वे लोग आते थे, जो चन्द्रमा को पूजते थे। इसके प्रधान पुजारी को 'बरमक' कहते थे। यह मन्दिर बहुत ऊँचा था और हरे रेशम से ढका रहता था। सबसे ऊपर हरे रेशमी झण्डे फहराते थे। मन्दिर पर लिखा था, बुज़ आसफ का कथन है कि राजाओं के द्वार तीन गुणों के इच्छुक रहते हैं। बुद्धि, सन्तोष और धन।"

इन सब बातों से यही परिणाम निकलता है कि बरामका लोग बौद्ध थे। ये जिस मूर्त्ति की पूजा करते थे वह महात्मा बुद्ध की थी। इनका मन्दिर बौद्धविहार था जिसका दर्शन करने भारत, चीन और काबुल के राजा तक जाया करते थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि बरामका लोग बग़दाद पहुंचने से पूर्व ही इस्लामधर्म स्वीकार कर चुके थे। पर भारतीय संस्कृति के प्रति इनका प्रेम अभी तक अगाध था। यही कारण है कि मुसलमान बन चुकने पर भी इन्होंने भारतीय चिकित्सा ज्योतिष, साहित्य और

१. देखिये, अरब और भारत के सम्बन्ध, पृष्ठ १०२

नीति के ग्रन्थ अरबी में अनूदित कराने का महान् उद्योग किया था। इन्हीं बरामका लोगों के समय पहलेपहल संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया गया। जब खिलाफत के सिंहासन पर 'मंसूर' आरूढ़ था तो उसके विद्याप्रेम की चर्चा सब जगह फैलने लगी। यह ख्याति भारत में भी पहुंची। इसे सुन कर ७७१ ई० में गणित, ज्योतिष आदि का एक महान् पण्डित अपने साथ 'बृहस्पतिसिद्धान्त' नामक ग्रन्थ तथा कुछ पण्डितों को लेकर बग़दाद पहुंचा। ख़लीफा की आज्ञा से और इब्राहीमफिज़ारी की सहायता से इसने अरबी भाषा में 'बृहस्पति-सिद्धान्त' का अनुवाद किया।[१] तदन्तर जब हारूंरशीद बीमार पड़ा तो उसकी चिकित्सा के लिये भारत से वैद्य बुलाये गये। इस प्रकार इन मंत्रियों के समय अरब में भारतीय संस्कृति निरन्तर जड़ पकड़ रही थी।

अरब में भारतीय साहित्य

अब्बासी ख़लीफाओं के समय बरामका मंत्रियों की प्रेरणा पर भारत के बहुत से पण्डित बग़दाद पहुंचे। जिस प्रकार बौद्ध प्रचारकों ने सुदूरस्थ प्रदेशों में पहुंचकर वहां की भाषाओं में संस्कृतग्रन्थों का अनुवाद किया, उसी प्रकार हिन्दु पण्डितों ने राजाज्ञा से प्रेरित होकर संस्कृतग्रन्थ अरबी में अनूदित करने आरम्भ किये। जिन पण्डितों ने इस कार्य में हाथ बंटाया उनके नाम अरबी में जाकर इतने बिगड़ चुके हैं कि उनके वास्तविक रूपों को ढूंढ़ना कठिन हो गया है। लेकिन जो कार्य उन्होंने किया वह आज भी विद्यमान है और उनकी स्मृति को सुरक्षित बनाये हुये है।

पेरिस के पुस्तकालय में 'मुजम्मिल उत्तवारीख' नाम की एक ईरानी भाषा की पुस्तक है। इसमें महाभारत की बहुत सी कथायें महाभारत

१. देखिये, अरब और भारत के सम्बन्ध, पृष्ठ १०२

संगृहीत हैं। इसकी भूमिका में लिखा है, "अबू-सालह-बिन-शुएब ने संस्कृत से अरबी में इसका अनुवाद किया था।"[1]

नीतिग्रन्थ इब्ननदीम अपनी पुस्तक 'किताबुल् फेहरिस्त' के पृष्ठ ३१५ पर लिखता है, "शानाक और बाफ़र[2] इन पण्डितों की राजनीति विषयक पुस्तकों का अरबी में अनुवाद किया गया था।" इससे पहले पृष्ठ ३१२ पर लिखा है, "भारतवासी जादू और मंत्र पर बहुत विश्वास रखते हैं। वे इस विद्या के बड़े जानकार होते हैं। इस विषय पर उनकी बहुत सी पुस्तकें हैं जिनमें से कुछ का अरबी में अनुवाद हुआ है।" इससे पता चलता है कि इस समय तक अनेक तंत्रग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया जा चुका था।

पञ्चतन्त्र ईरानी और अरबी में एक पुस्तक बड़ी विख्यात रही है। इसका नाम 'कलेला-दमना' है। बैरूनी लिखता है, "यह ग्रन्थ संस्कृत का पंचतंत्र है।"[3] ईरान के सासानी सम्राटों के समय इसका ईरानी में अनुवाद हुआ। फिर अब्दुल्लाह बिन मुकफ्फा ने नवीं शताब्दी में इसका अरबी में अनुवाद किया। इस पुस्तक ने इतनी अधिक प्रसिद्धि पाई कि गद्य से पद्य और पद्य से गद्य में इसके बहुत से अनुवाद हुए, और अनुवादों पर बादशाहों ने बड़े बड़े पुरस्कार दिये। नवीं शताब्दी में अरबी के 'अब्बान' नामक महाकवि ने इसे पद्य में लिख कर खलीफा हारूंरशीद से एक लाख दरहम पुरस्कारस्वरूप प्राप्त किये।[4] अरबों के प्रयत्न से यह पुस्तक योरुप के कोने कोने में फैल गई और इसके अनेक अनुवाद हुए।

१ देखिये, History of India By Eliot, Page 100.

२. सम्भवतः चाणक्य और व्याघ्र।

३. देखिये, अरब और भारत के सम्बन्ध, पृष्ठ १३६

४. देखिये, वही ग्रन्थ, वही पृष्ठ।

'बोज़ासफ' नाम से एक अन्य पुस्तक अरबी में प्राप्त होती है। पुरानी फारसी में ज़ाल के स्थान पर दाल प्रयुक्त होता है और जखाऊ के कथनानुसार सफ=सत्त्व के। इस प्रकार बोज़ासफ, बोदसत्त्व बना। वास्तव में यह संस्कृत शब्द बोधिसत्त्व है। इस पुस्तक में बुद्ध के जन्म, शिक्षा आदि का वर्णन है और बताया गया है कि किस प्रकार एक घटना के कारण बुद्ध ने संसार त्याग दिया। इस्लाम के एक सम्प्रदाय के लोग इसे अपना धर्मग्रन्थ मानते हैं। इसके कई अध्याय 'इखवानुस सफ़ा' पुस्तक में मिला लिये गये हैं।' बोधिसत्त्व

गणितविद्या

संस्कृतसाहित्य के अतिरिक्त गणित का प्रचार भी अरबों में भारतीयों द्वारा हुआ था। अब तक अरब वाले यह मानते हैं कि हमने एक से नौ तक के अंक लिखने की विधि भारतवर्ष से सीखी है। इसीलिये वे इन अंकों को 'हिन्दसा' कहते हैं। आगे चलकर जब अरबों ने अपना विशाल साम्राज्य स्थापित किया तो इन्हीं द्वारा योरुप भर में इन अंकों का प्रचार हुआ। योरुप में इन्हें अरबी अंक कहा जाता है। भारतीय अंकों का अरब में बहुत पहले ही प्रचार हो गया था। इस बात का प्रमाण यह है कि प्रसिद्ध मुसलमान हकीम 'बूअली सैना' ने इन अंकों का ज्ञान एक कुंजड़े से प्राप्त किया था। इससे ज्ञात होता है कि सर्वसाधारण तक में भारतीय अङ्क बड़ी शीघ्रता से प्रचलित हो चुके थे।

ज्योतिषविद्या

७७१ ई० में जो पण्डितमण्डली बग़दाद पहुंची थी वह अपने साथ ज्योतिष की एक पुस्तक ले गई थी। इसका नाम

१. देखिये, अरब और भारत के सम्बन्ध, पृष्ठ १७० ।

'बृहस्पतिसिद्धान्त' था। इसका अरबी में अनुवाद किया गया। इस अनुवाद का नाम 'अस्सिंद हिन्द' है। इसके अनन्तर आर्य्यभट्ट' नामक ग्रन्थ 'अरजबन्द' नाम से और 'खण्डनखाद्यक' 'अरकन्द' नाम से अरबी में अनूदित किये गये। आर्यभट्ट ने कल्प के कई भाग करके उसे युग और महायुग में बांटा था। अरबों के एतद्विषयक ग्रन्थ का नाम 'अरजबहर' है। ब्रह्मगुप्त ने वर्ष को ३६५ दिन, छः घण्टे, बारह मिनट और नौ सैकण्ड में बांटा है। वर्ष का यही विभाग अरबी ग्रन्थों में पाया जाता है। आर्यभट्ट ने लिखा है कि पृथ्वी घूमती है। अरब लोग भी पृथ्वी के घूमने को स्वीकार करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ भी भाषान्तरित किये गये थे। अरबों ने भारत की इस ज्योतिष-विद्या को बग़दाद से लेकर स्पेन तक फैलाया, और स्पेन द्वारा यह सम्पूर्ण योरुप में फैल गई। स्पेननिवासी अबुल-कासिम-अस्लबग ने बृहस्पतिसिद्धान्त पर बहुत बड़ी टीका की। भारतीय ज्योतिष का अरबों पर इतना असर हुआ था कि जहां पहले ख़लीफ़ाओं के दरबार में ईरानी ज्योतिषी रहा करते थे वहां ख़लीफ़ा मंसूर के समय उनके स्थान पर हिन्दू ज्योतिषी रक्खे गये।

चिकित्साशास्त्र

साहित्य, गणित और ज्योतिष के अतिरिक्त भारतीय चिकित्सा-पद्धति का भी अरबों में प्रचार हुआ था। इसके प्रचार की कथा इस प्रकार है—एक बार ख़लीफा हारूंरशीद रोगी हुए। बड़े बड़े हकीमों से चिकित्सा कराई गई, परन्तु रोग शान्त न हुआ जब बग़दाद के सब हकीम हाथपैर पटक कर रह गये और ख़लीफा को अच्छा न कर सके तो एक व्यक्ति ने कहा कि भारत में 'मनका'[1]

१. सम्भवतः माणिक्य।

नामक एक बड़ा प्रसिद्ध वैद्य रहता है। आप उससे चिकित्सा करायें। ख़लीफा ने मार्गव्यय आदि देकर मनका को भारत से बुलाया। इसकी चिकित्सा से ख़लीफा अच्छे हो गये। एक दिन ऐसा हुआ कि ख़लीफा हारूँरशीद के भाई मूर्च्छित हो गये और उस के सब वैद्यों ने कह दिया कि ये बच नहीं सकते। तब एक भारतीय वैद्य ने—जिसका नाम 'बहला' था, और जो उस समय बग़दाद में रहता था—उसे सचेत कर दिया।[१]

इन दो घटनाओं से राज्य का ध्यान भारतीय चिकित्सा की ओर आकृष्ट हुआ, और बरामका लोगों ने इसके प्रचार में बहुत सहायता की। इन्होंने अपने चिकित्सालय का प्रधान चिकित्सक एक भारतीय वैद्य को बनाया। इतना ही नहीं, प्रत्युत एक व्यक्ति जड़ी-बूटियां लाने के लिये भारत भेजा गया, और मनका तथा इब्नदहन[२] को चिकित्सा विषयक संस्कृतग्रन्थों के अनुवादकार्य में लगाया गया।[३] ख़लीफा मवफ्फिक-बिल्लाह अब्बासी ने नवीं शताब्दी में कुछ व्यक्ति जड़ीबूटियों का निरीक्षण करने के लिये भारत भेजे थे।[४] धीरे धीरे भारतीय चिकित्साग्रन्थों का अनुवाद आरम्भ हुआ। प्रधानमंत्री ख़ालिद बरामकी की आज्ञा से मनका ने 'सुश्रुत' का अरबी में अनुवाद किया, जिससे बरामका लोगों के चिकित्सालय में उसी के अनुसार चिकित्सा की जा सके। अरब लोग सुश्रुत को 'ससरो' कहते हैं। सुश्रुत के अनन्तर चरक का अनुवाद हुआ। यह सीधा अरबी में अनूदित नहीं हुआ, परन्तु पहले ईरानी में और फिर ईरानी से अरबी में अनूदित किया गया। 'रूसा' नामक एक

१. देखिये, तारीख़ुल अतिब्बा, पृष्ठ ३३

२. ये भारतीय पण्डितों के अरबी नाम हैं

३. देखिये, किताबुल् फेहरिस्त, पृष्ठ २४५

४. देखिये, जखाऊकृत 'इण्डिया' नामक पुस्तक का पृष्ठ ३०

हिन्दूविदुषीकृत पुस्तक का भी अनुवाद हुआ। इसमें स्त्रीरोगों पर अच्छा प्रकाश डाला गया था। पशुचिकित्सा के सम्बन्ध में 'शानाक' पण्डित की पुस्तक का अरबी में उल्था हुआ। सर्पविद्या पर 'राय' नामक भारतीय पण्डित की पुस्तक का अनुवाद किया गया।[1] अन्य भी अनेक चिकित्साविषयक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद हुआ;[2] यथाः—नशे की चीजों के सम्बन्ध में, जड़ीबूटियों के विषय में, गर्भवती स्त्रियों के विषय में। कहने का अभिप्राय यह है कि इस समय, भारतीय चिकित्साशास्त्र के बहुत बड़े भाग का अरबी में अनुवाद किया गया। अब तक भी सोंठ, त्रिफला आदि दवाइयों का प्रयोग अरबी चिकित्सा में होता है। मुहम्मद ख्वारिज़्मी लिखता है, "एक औषध तिरीफल[3] है। यह तीन फल अर्थात् हरड़ बहेड़े और आंवले से बनता है।" आगे चलकर वह फिर लिखता है, "भारत में आम नाम का एक फल होता है। इसको शहद, नींबू और हरड़ में मिला कर अंबजात बनाते हैं।"[4] एक अन्य स्थान पर वह पुनः लिखता है, "बहतः रोगियों का भोजन है। इसे दूध और घी में चावल डालकर बनाया जाता है।"[5]

संगीत

भारतीय संगीत से अरब लोगों को बहुत प्रेम था। जाहिज़ ने अपने लेख में भारतीय संगीत की बड़ी प्रशंसा की है। स्पेन के

१. देखिये, किताबुल् फेहरिस्त, पृष्ठ २४५।

२. इनके वर्णन प्राचीन लेखकों की पुस्तकों में मिलते हैं। पर इन ग्रन्थों के संस्कृत नाम ज्ञात नहीं होते।

३. यह संस्कृत 'त्रिफला' है।

४. सम्भवतः यह 'गुड़म्बे' जैसी कोई वस्तु होगी।

५. यह 'खीर' जान पड़ती है।

काज़ी-साईद-अन्दलासी ने 'तबकातुल्-उमम' नामक पुस्तक के बीसवें पृष्ठ पर लिखा है कि भारतीय संगीत की नाफर[1] नामक पुस्तक हमें प्राप्त हुई है। इसमें रागों और स्वरों का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि संगीत की पुस्तकों का भी अरबी में अनुवाद हुआ था।

भारतीय धर्म्म

भारतीय साहित्य के अतिरिक्त भारतीय धर्म से भी अरब लोग परिचित थे। प्रधानमंत्री -'यहिया बरमकी' ने एक व्यक्ति को विशेषरूप से इसलिये भारत भेजा था कि वह यहां की औषधियों और धर्मों का वृत्तान्त लिख कर लाये। उस समय बग़दाद विविध धर्मों का केन्द्रस्थान बना हुआ था। अब्बासी वंश के ख़लीफा शास्त्रार्थों के बहुत प्रेमी थे। विशेष दिनों में धार्मिक उत्सव और शास्त्रार्थ हुआ करते थे। उनमें प्रत्येक को बोलने का अवसर दिया जाता था। अरबों को हिन्दुओं के मन्दिरों, मूर्त्तियों, तीर्थों और सम्प्रदायों का भलीप्रकार ज्ञान था। यरुसलम के अरब वक्ता मुतहरिर ने, 'किताबुल् विदुअ वत्तारीख़' में इस प्रकार वर्णन किया है—"भारत में ९०० सम्प्रदाय हैं। इनमें से केवल निन्यानवे का वृत्तान्त ज्ञात है, ये सब पैंतालीस धर्मों के अन्तर्गत हैं, और ये भी चार सिद्धान्तों में ही परिमित हैं। इनके मोटे विभाग दो ही हैं। समनी[2] और बरहमनी[3]।......मुसलमानों को ये अपवित्र मानते हैं। मुसलमान जिस वस्तु को छू दें उसे ये फिर नहीं छूते। गौ को मातृतुल्य मानते हैं। जिसकी स्त्री न हो वह किसी दूसरे आदमी की

१. यह एक अरबी शब्द है जिसका अर्थ है—बुद्धिमत्ता के फल।

२. बौद्ध। समनी, श्रमण शब्द का अपभ्रंश है।

. ब्राह्मण। बरहमनी, ब्राह्मण शब्द का अपभ्रंश है।

स्त्री से सम्भोग कर सकता है, जिससे वंश चलता रहे।[1] व्यभिचारी को प्राणदण्ड दिया जाता है। जब कोई मुसलमान का हाथ पकड़ कर पुनः लौट कर आता है तो उसे मारते नहीं, प्रत्युत उसके सारे सिर को मूंड कर प्रायश्चित कराते हैं। ये लोग पास के संबन्धी से विवाह नहीं करते। ब्राह्मण लोग शराब और मांस को हराम समझते हैं।"[2] इसके आगे हिन्दू देवताओं और उनके उपासकों का वर्णन करते हुए महादेव, काली, और लिंगपूजा आदि का वर्णन है। 'जलभक्तियः' और 'अग्निहोतरियः' नाम से दो अन्य सम्प्रदाय भी बताये हैं। ये वस्तुतः जलभक्त और अग्निहोत्री हैं।

अबूजैद सैराफी लिखता है, "हिन्दू पुनर्जन्म में इतना विश्वास रखते हैं कि लोग जीते जी जल जाते हैं। जो जलना चाहता है वह राजा से आज्ञा प्राप्त करता है, और फिर बाजारों में घूमता है। दूसरी ओर खूब आग जलाई जाती है और झांझ बजाई जाती है। उसके सम्बंधी उसके चारों ओर इकट्ठे हो जाते हैं। फिर फूलों का एक मुकुट बनाकर, जिसमें जलती हुई आग रक्खी जाती है, उसके सिर पर रख देते हैं, जिससे सिर की खाल जलने लगती है। वह उसी तरह शान्त खड़ा रहता है और धीरे धीरे बढ़ता हुआ चिता में कूद पड़ता है।"[3]

भारत में अरब यात्री

जिस प्रकार अनेक चीनी यात्री भारत की ज्ञानचर्चा सुन कर विद्याध्ययन के उद्देश्य से भारत आये थे उसी प्रकार कई

---

१. यह 'नियोगप्रथा' है। नियोग के स्वरूप को ठीक न समझने से ऐसा लिख दिया है।

२. देखिये, अरब और भारत के सम्बन्ध, पृष्ठ १७१-७२

३. देखिये, अबूज़ैद का यात्राविवरण पृष्ठ ११५-११८

अरब यात्री भी विद्याध्ययन के लिये यहां आये थे। इनमें से एक 'बैरूनी' था। यह चालीस वर्ष तक भारतवर्ष में रहा। इस दीर्घकाल में इस ने संस्कृत सीखी। अनेक संस्कृतग्रन्थ पढ़े। विविध धर्मों और रीतिरिवाजों का अनुशीलन किया। स्वदेश लौट कर इसने 'किताबुल् हिन्द' और 'कानून मसऊदी' आदि ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों में भारत का तात्कालिक यथार्थ चित्र खींचा गया है।

भारतीयों के प्रति अरबों के उद्‌गार

भारतीय साहित्य के अरबी में अनूदित होते ही अरबों के हृदय भारतीयों के प्रति श्रद्धा से उमड़ पड़े। वे केवल अरबी अनुवादों को पढ़कर ही सन्तुष्ट न रहे, प्रत्युत अनेक यात्रियों ने भारत की यात्रा की, और यहां के स्थानों को अपनी आँखों से देख कर आनन्द प्राप्त किया। जिस प्रकार चीनी लोग भारत को शाक्यमुनि का देश समझते थे वैसे ही अरब लोग इसे आदम की भूमि और विद्या तथा साहित्य का निकेतन मानते थे। उनके हृदयों में भारत के प्रति महान् आदर के भाव भरे हुए थे, जिन्हें वे अपने लेखों में प्रकट भी किया करते थे। सुप्रसिद्ध दार्शनिक जाहिज[१] अपने एक लेख में लिखता है, "हम देखते हैं कि भारतवर्ष के निवासी यद्यपि काले हैं पर ज्योतिष और गणित में बढ़े हुए हैं। चिकित्सा में भी वे आगे हैं। उनके पास असाध्य रोगों की भी अचूक औषधियां हैं। मूर्त्तियां, चित्र और भवन बनाने में भी वे बहुत योग्यता रखते हैं। शतरंज का खेल उन्हीं का निकाला हुआ है, जो बुद्धि का सब से अच्छा

---

१ यह बसरा का रहने वाला था। बड़ा दार्शनिक और तार्किक था। इसकी मृत्यु ८७२ ई० में हुई थी। इसने एक निबन्ध लिखा था। इसका शीर्षक था 'गोरी और काली जातियों में से कौन बढ़कर है ?' जाहिज़ अपना निर्णय काली जातियों के पक्ष में देता हुआ भारतीयों के प्रति उपरोक्त बातें लिखता है।

खेल है। वे लोग विष उतारने और दर्द दूर करने के मंत्र जानते हैं। उनका संगीत बड़ा मनोरम होता है। उनके यहां सब प्रकार का नाच भी है। कविता का भण्डार है। भाषणों की भरमार है। दर्शन, साहित्य, और नीति भी उनके पास है। उनमें विचार और वीरता भी है। और भी कई ऐसे गुण उनमें हैं जो चीनियों में भी नहीं हैं। स्वच्छता और पवित्रता उनमें बहुत है। उनकी स्त्रियों को गाना और पुरुषों को भोजन बनाना बहुत अच्छा आता है। वे ईमानदार और स्वामिनिष्ठ हैं। सर्राफ और रुपये पैसे का कारोबार करने वाले लोग अपनी थैलियां उनके सिवा और किसी को नहीं सौंपते। गणित और ज्योतिष उन्हींने निकाली है। वे ऐसे मन्त्र जानते हैं जिनके उच्चारण से विष निरर्थक हो जाता है।"

प्रसिद्ध अरब ऐतिहासिक याकूबी लिखता है, "भारतवर्ष के लोग बड़े बुद्धिमान् और ईमानदार हैं। इस विचार से ये सब जातियों से बढ़ कर हैं। गणित और फलितज्योतिष में इनकी बातें सबसे ठीक निकलती हैं। 'सिद्धान्त' इन्हीं की विचारशीलता का परिणाम है, जिससे यूनानियों तक ने लाभ उठाया है। चिकित्सा-शास्त्र में इनके निर्णय सब से आगे हैं। इस विद्या पर इनकी पुस्तक चरक और निदान है।"[1]

ऊपर जो कुछ दिखाया गया है उसका अभिप्राय केवल इतना है कि अरब के मुसलमानों ने भारतीय साहित्य, गणित, ज्योतिष, सङ्गीत, चिकित्साशास्त्र और राजनीति तक का ज्ञान भारतीय पण्डितों से प्राप्त किया था। इस सब का उन पर इतना गहरा असर हुआ था कि उनके हृदयों में भारतीयों के प्रति अटूट श्रद्धा पैदा हो गई थी और वे भारत को विद्यागुरु मानने लग गये थे।

---

१. देखिये, अरब और भारत के सम्बन्ध, पृष्ठ १०३-५

द्वितीय भाग

राजनीतिक व आर्थिक विस्तार

उत्थानिका

प्रथम भाग में भारत के सांस्कृतिक विस्तार का वर्णन किया जा चुका है, परन्तु विदेशों में भारत का विस्तार केवल सांस्कृतिकरूप में ही नहीं हुआ, अपितु राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से भी भारत बहुत दूर तक फैला हुआ था। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारत का पश्चिम से व्यापारिक सम्बन्ध था। चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों के व्यापारी ग्रीस, रोम और चीन के बाजारों में व्यापार किया करते थे। व्यापार के कारण इन प्रदेशों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया था। दक्षिणभारत से रोम को दूत भेजे गये थे।[1] सीरियन लोग लड़ाईयों में भारतीय हाथियों का प्रयोग करते थे। यहां उत्पन्न होने वाले मसाले, कपड़े, लकड़ी और पत्तियों को इन देशों के निवासी बड़े चाव से खरीदते थे। मिश्र में प्राप्त ममियों पर लिपटा हुआ कपड़ा भारतीय है, इस विषय में प्रायः सभी ऐतिहासिक एकमत हैं। ६८ ई० में रोमन लोगों के अत्याचारों से सताये हुये कुछ यहूदियों ने दक्षिणभारत में शरण ली। कालान्तर में ये मालाबार में बस गये।[2] तामिल भाषा

---

१. देखिये, A History of Indian shipping and maritime activity from the earliest Times By Radha Kumud Mukerji, Page 116.

२. ये लोग वर्त्तमान समय में कोचीन राज्य के मटँजी नामक नगर के पास बसे हुए हैं, जिसे 'Jew Town' बोलते हैं।

की अनेक कवितायें आज भी ग्रीक शराब, बर्त्तन और लैम्पों की महिमा से तथा जावा और सुमात्रा जाने वाले व्यापारियों के साहसिक कृत्यों से भरपूर हैं। व्यापार के कारण यहां के निवासी नौकानयन में अतीव निपुण हो गये थे। चाणक्य के अर्थशास्त्र को पढ़ने से ज्ञात होता है कि मौर्य्यसम्राट् चन्द्रगुप्त की जलसेना बहुत उन्नत थी।[1] इसका परिचय मेगास्थनीज के यात्रावृत्तान्त से भी मिलता है। चोलराजा राजेन्द्रचोल का जंगीबेड़ा इतना शक्तिशाली था कि उसने श्रीविजय और नक्कवरम्[2] को जीता, और फिर प्रोम् और पेगू[3] पर आक्रमण कर उन्हें भी जीत लिया। आन्ध्रों और पल्लवों के सिक्कों पर दो मस्तूल वाली नौकाओं के चित्र तथा सांची, अजन्ता, जगन्नाथ और बोरोबुदूर के मन्दिरों पर नौकाओं और समुद्रीय जहाजों की प्रतिमायें जलसेना की महत्ता का स्पष्ट वर्णन कर रही हैं। नौसंचालन में प्रवीण भारतीयों ने व्यापार तथा साम्राज्यविस्तार की दृष्टि से नवीन प्रदेशों को ढूँढना आरम्भ किया। जिन लोगों ने इस दिशा में कदम उठाया उन्होंने समुद्र और स्थल— दोनों मार्गों का आश्रय लिया। उस समय सुदूरपूर्व और भारत के बीच खुला आवागमन था। 'महाजनक' जातक को पढ़ने से ज्ञात होता है कि बर्मा से व्यापारी लोग चम्पा[4] आया करते थे। बहुत से लोग बनारस और पटना से जल और

१. सामुद्रिकः व्यापारिणः महासमुद्रं प्रवहणैस्तरन्ति।

२. अन्दमान और निकोबार।

३ वर्त्तमान बर्मा।

४. प्राग्बौद्धकाल में यह 'अङ्ग' देश की राजधानी थी और पूर्वीय व्यापार की केन्द्र थी।



आन्ध्र राजाओं के दो मस्तूल वाली नौकाओ से युक्त सिक्के

श्री राधाकुमुद मुकर्जी के सौजन्य से प्राप्त

स्थल– दोनों द्वारा बंगाल जाते और वहां से ताम्रलिप्ती[1] के बन्दरगाह से सुदूरपूर्व की ओर प्रस्थान करते थे। 'पैरिप्लस' के लेखानुसार वर्त्तमान मछलीपत्तन[2] के समीप तीन बन्दरगाह थे। यहां से व्यापारी लोग पूर्वीय द्वीपसमुद्द की ओर रवाना होते थे। 'सुस्सोन्दि' जातक को पढ़ने से पता चलता है कि भरुकच्छ[3] से भी एक मार्ग पश्चिमतट के साथ साथ होता हुआ पूर्वीय द्वीपों की ओर जाता था। जावा के इतिवृत्तों में यह कथानक संगृहीत है कि इस द्वीप को जीतने वाला प्रथम व्यक्ति ७४ ई० में सौराष्ट्र से आया था। जावा में ही यह कथा भी प्रचलित है कि कलिङ्ग के किनारे से आये हिन्दू लोगोंने जावा को बसाया था। इस प्रकार उपनिवेशक लोग ताम्रलिप्ती,[4] गोपालपुर,[5] में भरुकच्छ,[6] और मछलीपत्तन[7] के समीपस्थ तीन बंदरगाहों से सुदूरपूर्व की ओर गये। ये मार्ग उस समय बहुत चलते थे। बृहत्तर भारत के प्राचीन इतिहास में इसके बहुत से प्रमाण उपलब्ध होते हैं। २४० ई० में फू–नान के राजा चन्द्रवर्मा ने एक दूतमण्डल भारत भेजा था जो एक वर्ष पश्चात् गंगा के मुहाने पर पंहुचा। पांचवी शताब्दी में चम्पा[8] का राजा गंगाराज राजसिंहासन त्याग कर अपने अन्तिम दिन गंगा के तट पर व्यतीत करने के लिये

---

१. वर्त्तमान ताम्रुल्क।

२. वर्त्तमान मछलीपट्टम।

३. वर्त्तमान भड़ौंच।

४. बंगाल में।

५. कलिङ्ग में।

६. गुजरात में।

७. मद्रास में।

८. वर्त्तमान 'अनाम'।

भारत चला आया था।[१] नवीं शताब्दी में बंगाल के राजा देवपाल और जावा के राजा में परस्पर मैत्रीसम्बन्ध था। इस समय जावा का दूतमण्डल नालन्दा में भगवान् बुद्ध का एक मन्दिर बनवाने को आया था। देवपाल ने दूतमण्डल की प्रार्थना स्वीकार कर पांच गांव दान में दिये थे।[२] नयपाल के समय कुछ भारतीय भिक्षु अध्ययनार्थ सुमात्रा गये थे। सुमात्रा से भी कुछ लोग भारत आये थे। नालन्दा में एक थाल मिला है जो सुमात्रा के किसी राजकुमार ने नालन्दा मठ में भेंट चढ़ाया था।[३] दसवीं शताब्दी में भट्टदिवाकर यमुना के किनारे से कम्बुज गया था। इस प्रकार इस समय भारत और सुदूरपूर्व में समुद्रीय मार्ग द्वारा निरन्तर आवागमन होता था, और वहां के निवासी भारत से पूर्णतया परिचित थे।

समुद्रीय मार्ग के अतिरिक्त भारतीय प्रवासियों ने पूर्वीय बंगाल, मणिपुर और आसाम के स्थलमार्ग से होकर बर्मा, स्याम और चम्पा के कुछ भागों में अपनी बस्तियां बसाईं, और जलमार्ग से जाने वालों ने कम्बुज, चम्पा, जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्निया और मलायाद्वीपसमूह को आवासित किया। वहां जाकर इन्होंने मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृकला को विकसित किया। भारतीय नगरों के नाम पर मातृभूमि से सहस्रों मील दूर अयोध्या, कौशाम्बी श्रीक्षेत्र, द्वारवती, तक्षशिला, हस्तिनापुर, मथुरा, चम्पा, कलिङ्ग आदि नगर बसाये। जावा, अनाम और कम्बोडिया में आज भी

१ गंगाराज इति श्रुतो नृपगुणप्रख्याततौर्य्यश्रुतिः।
राज्यं दुस्त्यजं ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···प्रग्रहे।
गंगादर्शनजं सुखं महदिति प्रायादतो जाह्नवीम्॥

२. देखिये, A short History of Muslim rule in India by Ishwari Prasad, Page 10.

३. देखिये, Art of Java and India, by Voget.

कला के सैंकड़ों उत्कृष्ट नमूने इन प्रवासियों की अमर स्मृति के रूप में विद्यमान हैं।

सुदूरपूर्व में भारत का राजनीतिक विस्तार ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ। कुछ प्रवासियों ने तो मलायाद्वीपसमूह में और दूसरों ने हिन्दचीन में भारतीय बस्तियां बसाईं। भारत का यह विस्तार मुख्यतः आर्थिक और अंशतः राजनीतिक दृष्टि से हुआ। जो व्यापारी इन देशों में बसे उन्होंने सुदूर देशों में रहते हुए भी मातृभूमि भारत के साथ व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध जारी रक्खा।

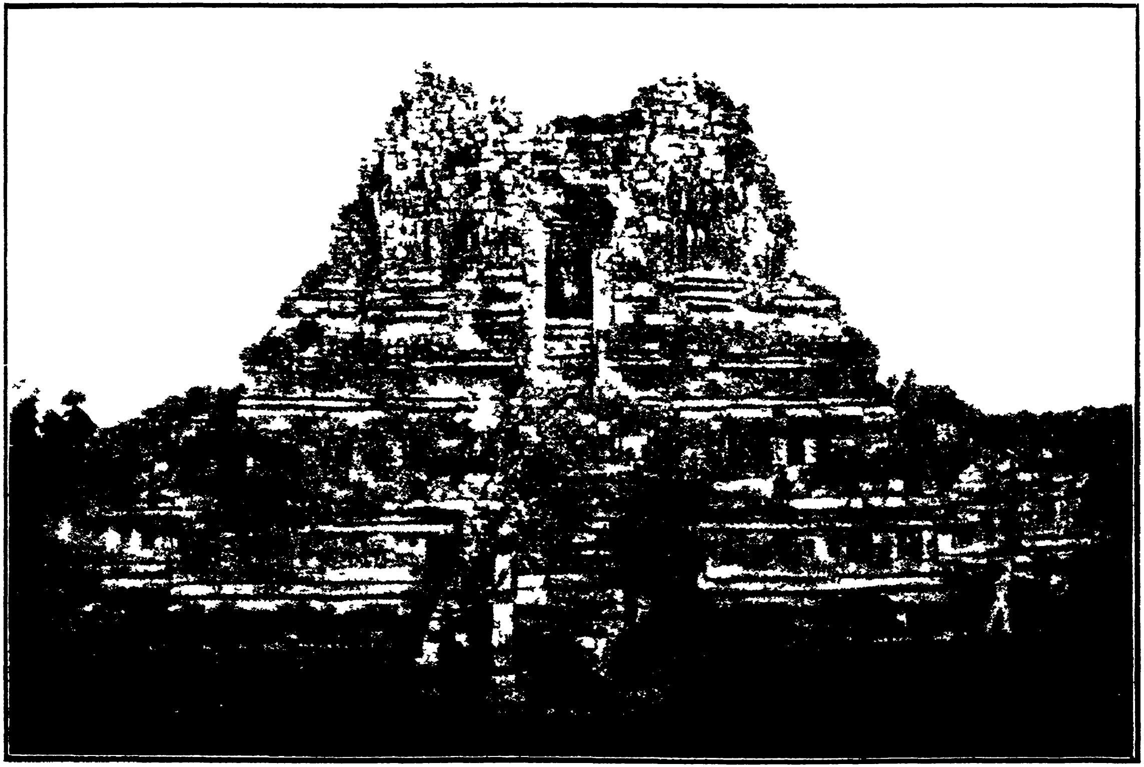
जावा के कथानकों से ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र के राजा प्रभुजयभय के प्रधानमंत्री 'अजिशक' ने सर्वप्रथम ७४ ई० में जावा में पदार्पण किया। उस समय यह देश राक्षसों से भरा हुआ था। अजिशक ने राक्षसों को परास्त कर जावा जीत लिया। परन्तु महामारी फैल जाने से इसे शीघ्र ही लौट जाना पड़ा। इसके पश्चात् ७५ ई० में पुनः कुछ साहसी लोग कलिङ्ग से रवाना हुए। बङ्गाल की खाड़ी को पार कर ये विशाल हिन्दमहासागर में प्रविष्ट हुए। इस लम्बी यात्रा के पश्चात् इनका बेड़ा जावा के तट पर लगा। यहां के निवासी अजिशक द्वारा पहले ही परास्त हो चुके थे। इसलिये इन्हें बसने में विशेष कठिनाई उपस्थित नहीं हुई। यद्यपि यहां सर्वप्रथम गुजराती लोग आये, पर पहलेपहल उपनिवेश कलिङ्ग-निवासियों ने बसाये। इस कारण जावानिवासी कलिङ्गनिवासियों को इस द्वीप का सर्वप्रथम आवासक मानते हैं। वहां जाकर इन्होंने बहुत सी बस्तियां बसाईं और भारत के साथ व्यापार प्रारम्भ किया। भारतीयों की यह प्रवृत्ति सैंकड़ों वर्षों तक चलती रही। ६०३ ई० में प्रभुजयभय के छठे उत्तराधिकारी ने पांच हज़ार अनुयायिओं को साथ लेकर छः बड़े जहाज और सौ छोटे जहाजों के साथ जावा की

ओर प्रस्थान किया। पहलेपहल ये लोग सुमात्रा पहुंचे। पर इस देश को अजिशक द्वारा वर्णित देश से भिन्न देखकर आगे चल पड़े। अन्ततः ये जावा के पश्चिमीय किनारे पर जा पहुंचे। इसके पश्चात् इन्होंने सौराष्ट्र से और मनुष्यों की मांग की। शीघ्र ही दो सहस्र स्त्रीपुरुष और बच्चे जावा पहुंचे।[1] इन्होंने वहां प्रम्बानम् नामक नगर बसाया और अठारह वर्ष उपरान्त वर्त्तमान प्रम्बानम् मन्दिर का निर्माण किया। इस घटना से एक परिणाम स्वभावतः निकलता है कि इस समय सौराष्ट्र की जनसंख्या बढ़ रही थी, और यहां की सरकार आजकल की सरकारों की तरह जनवृद्धि की समस्या का समाधान करने का प्रयत्न कर रही थी। इसी दृष्टि से इनके व्यापारी नये प्रदेशों का अन्वेषण करने लगे। इन्होंने जावा को ढूंढा और उसे बसाया। इस प्रकार जावा के आवासित होने में आर्थिक समस्या बलवती थी। इन गुजराती लोगों ने वहां बस कर शताब्दियों तक गुजरात से व्यापारिक सम्बन्ध कायम रक्खा। गुजरातियों की यह व्यापारिक प्रवृत्ति आज भी प्रत्यक्ष है। जहां जहां भी प्रवासी भारतीय व्यापार के लिये गये हैं उनमें सर्वत्र गुजराती व्यापारियों की संख्या विशेष पाई जाती है।

जिस समय भारतीय लोग जावा में बस रहे थे लगभग उसी समय 'कौडिन्य' नामक एक ब्राह्मण ने हिन्दचीन में फूनान नाम से एक हिन्दू-राज्य की स्थापना की। शीघ्र ही यह एक शक्तिशाली राज्य बन गया। कई सौ वर्ष तक फूनान का उत्कर्ष रहा। छठी शताब्दी के अन्त में फूनान के अधीनस्थ कम्बुज नामक राज्य ने इसे परास्त कर दिया। इसी समय से फूनान का नाम इतिहास के पृष्ठों से मिट गया और कम्बुज का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। यह कम्बुज ही वर्त्तमान समय में कम्बोडिया नाम से विख्यात है।

---

१. देखिये, Some notes on Java By Henry scott Boys, Page 5.



प्रम्बानम् का भग्न शिवमन्दिर

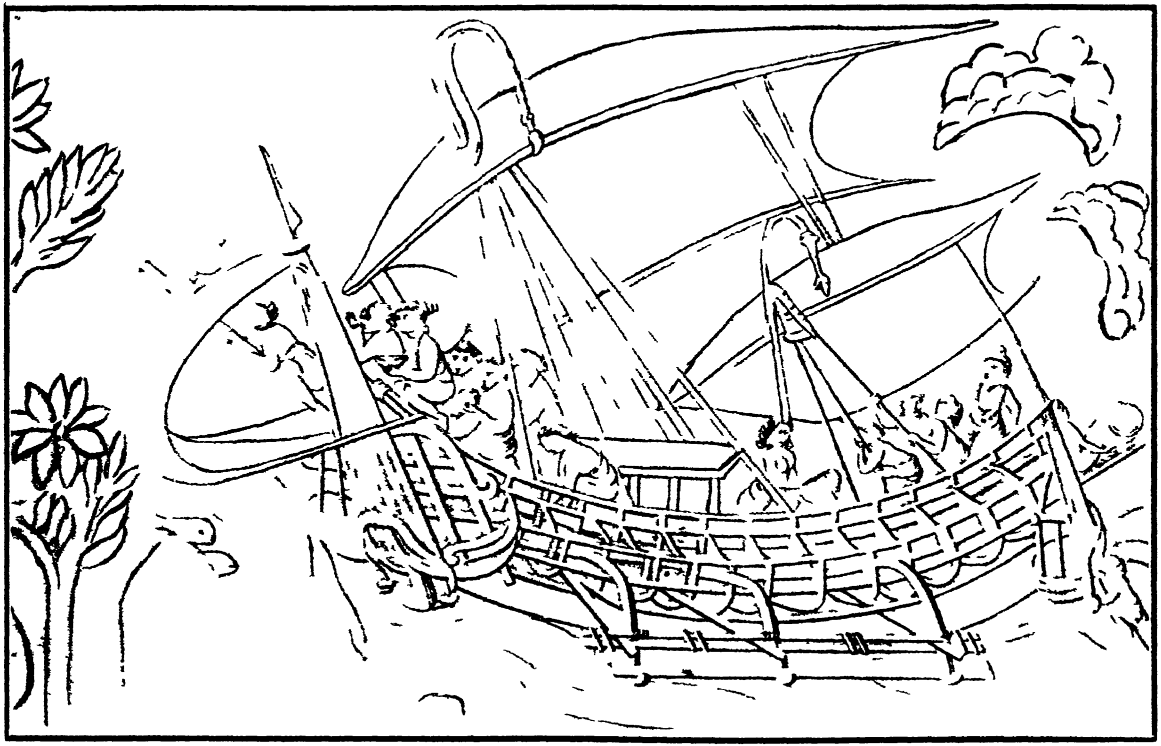
ठीक उसी समय जब फूनान का हिन्दूराज्य उन्नति के पथ पर अग्रसर था, उसके पड़ोस में ही वर्त्तमान स्यामराज्य का उद्भव हो रहा था। दसवीं शताब्दी तक यहां के राजा कम्बुजाधिपति की आधीनता मानते रहे। दसवीं शताब्दी के मध्यभाग में स्याम अनेक छोटे छोटे स्वतंत्र राज्यों में बंट गया। ये सब राजा न्यूनाधिक रूप में कम्बुजराज का प्रभुत्त्व स्वीकार करते थे। लगभग ३०० वर्ष तक स्याम की यही दशा रही। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में राम-खम्-हेङ् ने अपने को कम्बुजाधिपति की आधीनता से मुक्त कर लिया। इस समय स्याम की राजधानी सुखोदय थी। १३५० ई० में हृदयराज के समय अयोध्या[1] को स्याम की राजधानी बनाया गया। देश का नाम स्याम कर दिया गया। 'स्याम' शब्द संस्कृत 'श्याम' का अपभ्रंश नहीं है, प्रत्युत स्यामी 'थेई' लोगों के वंशज हैं। स्याम का यह राज्य आज भी विद्यमान है।

इसी समय चम्पा का हिन्दूराज्य भी विकसित हो रहा था। वो-चह्न में प्राप्त १६२ ई० का एक लेख हिन्दू राजा श्रीमार के वंश की ओर निर्देश करता है। इससे परिणाम निकलता है कि इस समय तक चम्पा में हिन्दू लोग आवासित हो चुके थे, और उन्होंने वहां शासन करना भी आरम्भ कर दिया था। इस प्रकार १३०० वर्ष तक हिन्दू लोगों ने सुदूरपूर्व में शासन किया, तदन्तर हिन्दचीन में तो थेई अनामी आदि जंगली जातियों से और जावा, सुमात्रा आदि मलाया-द्वीपसमूह में इस्लाम के प्रभाव से हिन्दूराज्य नष्ट हो गये। हिन्दचीन पर आक्रमण करने वाले लोग बौद्ध थे। इस लिये इन

१. 'अयोध्या' से यहां अभिप्राय भारतीय अयोध्या से नहीं है। स्याम के एक नगर का नाम भी अयोध्या था, यह आज भी विद्यमान है। इसे स्यामी लोग 'अयुध्या' बोलते हैं।

स्थानों पर तो बौद्धधर्म का प्राबल्य हो गया, परन्तु मलायाद्वीप-समूह में इस्लाम का प्रसार होने के कारण सम्पूर्ण प्रदेशों से हिन्दू-संस्कृति का नाश इस शीघ्रता से हुआ, मानो कोई चमत्कार हो गया हो। इस घटना के पश्चात् जावा में कोई मूर्त्ति नहीं गढ़ी गई कोई मन्दिर नहीं बना, मानो कारीगरों ने अपने औजार ही त्याग दिये हों। मलायाद्वीपसमूह में केवल बाली नाम का एक ही छोटा सा द्वीप शेष है जहां आज भी हिन्दूसभ्यता अखण्डितरूप में विद्यमान है।

यद्यपि इन देशों में न तो आज हिन्दुओं का शासन है और न जनता ही हिन्दू है तथापि बोरोबुदूर, प्रम्बानम्, अङ्कोर, बेयन आदि सैंकड़ों विशालकाय भव्यमन्दिर आज भी हिन्दू संस्कृति का स्मरण करा रहे हैं। कम्बोडिया के राजमहल में अब तक भी इन्द्र की तलवार सुरक्षित है। विशेष अवसरों पर इसे बाहिर निकाला जाता है, और तब कुछ हिन्दू पुरोहित राजा के सिर पर पवित्र जल के छींटे देते हैं। आज कोई भी ऐसा ग्रन्थ या व्यक्ति नहीं जो सुदूर भारत की इस रम्यकथा को सुना सके परन्तु, बोरोबुदूर के पत्थरों पर बने चित्र आजदिन भी अपनी मूक भाषा में प्रवासी भारतीयों के प्रथम आगमन का वृत्तान्त सुना रहे हैं। यदि संसार से रामायण, गीता और बुद्धचरित की समस्त प्रतियां नष्ट करदी जायें तो भी सुदूरपूर्व के मन्दिरों से जब चाहें इन ग्रन्थों की करोड़ों प्रतियां तय्यार की जा सकती हैं। नाचगान, आमोदप्रमोद और कथा-कलाप में छोटे छोटे बालकबालिकागण राम और कृष्ण की कथाओं द्वारा अपना सम्बन्ध हिन्दुओं के किसी प्राचीन वंश से प्रकट कर रहे हैं। प्रायः इन सभी द्वीपों में प्राप्त अगस्त्य ऋषि की प्रतिमायें, भारत में प्रसिद्ध उनके समुद्रपान तथा दक्षिण दिशा में जाकर बसने की समस्या का सुन्दर समाधान कर रही हैं। कम्बुज की 'सिरायु'



बोरोबुदुर की भित्ति पर अंकित एक प्रस्तरचित्र (भारतीय आवासकों का जावा की ओर प्रस्थान)
श्री राधाकुमुद मुकर्जी के सौजन्य से प्राप्त

नकी तथा 'सुसेरिया' शिखर आज भी मातृदेश के सरयू तथा सुमेरु आदि नदी, नगर और पर्वतों के प्रति प्रवासी हृदयों की स्नेहस्निग्ध-कातरता का परिचय दे रहे हैं। संसार को सर्वप्रथम पथप्रदर्शन करने वाले हिन्दूधर्म की ज्योति को जन्म देने का गौरव यदि भारत को प्राप्त है तो उस ज्योति को प्रतिष्ठित करने के लिये संसार भर में सर्वोच्च तथा सबसे विशाल बेयन तथा अङ्कोरवत् के सुन्दर मन्दिरों को बनाने का श्रेय कम्बुज निवासियों को ही प्राप्त है। श्रीराम के पावन चरित को कविता के रूप में पत्र पर अंकित यदि भारतीयों ने किया तो उसे मन्दिरों की प्रस्तरप्रतिमाओं के रूप में चिरस्थायी करने वाले जोगजा तथा प्रमानङ् निवासी ही थे। बौद्धसाहित्य का बहुमूल्य रत्न 'बुद्धचरित' उच्छृङ्खल काल के प्रभाव से अपनी जन्मभूमि भारत से नष्ट होगया, किन्तु उसके आधार पर निर्मित बोरोबुदूर के सुदूरवर्ती बौद्धमन्दिर की ५४४४ बौद्ध प्रतिमायें आज भी मूक भाषा में उस पावन चरित्र का संकीर्त्तन कर रही हैं। स्थान स्थान पर चट्टानों और मन्दिरों पर उत्कीर्ण संस्कृतलेखों से उस अतीत का भव्यचित्र आज भी आँखों के सामने नाच रहा है जब कि इन देशों में वेदों की ध्वनि गूंजती थी, गीता और रामायण का पाठ होता था और सर्वत्र रामराज्य स्थापित था। उस समय जंगल में पड़ी स्वर्णमुद्राओं की गठरी को कोई पैर से भी न छूता था। वर्षों तक वहां पड़े रहने पर उसकी ओर लोलुप दृष्टि से ताकने वाला भी वहां कोई न था।[१]

१. देखिये, Greater India society Bulletin No 2 कथा इस प्रकार है—"एक चीनी वृत्तान्त से पता चलता है कि सातवीं शताब्दी में जावा में 'सीमा' नाम की एक रानी शासन करती थी। इसका शासन इतना सुव्यवस्थित था कि सड़क पर पड़ी हुई वस्तु को कोई छू ता तक न था। पड़ोस के एक अरब राजा ने

यह रामराज्य किस प्रकार स्थापित हुआ, कैसे इसका दुःखद अन्त हुआ, और किन कारणों से ये देश विदेशी शक्तियों की महत्वाकाङ्क्षाओं के शिकार बने— इन सब बातों पर अगले अध्यायों विस्तार से प्रकाश डाला जायेगा।

सोने से भरा एक थैला सीमान्तप्रदेश पर रख दिया। तीन वर्ष तक यह थैला पड़ा रहा। किसी ने इसे स्पर्श तक न किया। एक दिन जब राजकुमार घूम रहा था तो उसके पैर की कुछ अंगुलियां थैले को छू गईं। रानी ने तुरन्त वे अंगुलियां कटवा दीं।"

अष्टम-संक्रान्ति

कम्बुज में 'नटराज' का नर्त्तन

अष्टम-संक्रान्ति

कम्बुज में 'नटराज'[1] का नर्तन

फूनान का उत्थान और पतन—स्थापना, चन्द्रवर्मा, कौडिन्य, कौडिन्य-जयवर्मा। कम्बुज की उत्पत्ति और उसका क्षय—रुद्रवर्मा, भववर्मा, संस्कृतिप्रसार, महेन्द्रवर्मा, ईशानवर्मा, जयवर्मा प्रथम, अराजकता की उत्पत्ति, जयवर्मा द्वितीय, इन्द्रवर्मा प्रथम, यशोवर्मा, अङ्कोरथोम्, बेयन, बौद्धधर्म का अभ्युदय, हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान, सूर्यवर्मा प्रथम, कम्बु का विद्रोह, सूर्यवर्मा द्वितीय, अङ्कोरवत्, कम्बुज का पतन। कम्बुज निवासियों पर भारतीय प्रभाव— शासनव्यवस्था, दण्डव्यवस्था, धार्मिक दशा, शैवधर्म, वैष्णवधर्म, ब्रह्मा की पूजा, अन्य देवीदेवता, बौद्धधर्म, मन्दिरव्यवस्था, सामाजिक अवस्था, त्योहार, यज्ञ, मृतक संस्कार, भारतीय साहित्य, भाषा।

फूनान का उत्थान और पतन

ईसा की प्रथम शताब्दी में समूचे कोचीनचीन, कम्बुज, दक्षिण लओ, स्याम और मलाया प्रायद्वीप में एक हिन्दूराज्य की सत्ता दिखाई देती है। इस राज्य का वास्तविक नाम क्या था, यह अभी तक ऐतिहासिकों की खोज का विषय बना हुआ है। लेकिन स्थापना

१. कम्बुजनिवासियों में भगवान् शिव की पूजा बहुत प्रचलित थी। शिव की 'नटराज' के रूप में पूजा उन्हें बहुत भाती थी। कम्बुज में नटराज की मूर्त्तियां बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं। इसी भाव को प्रदर्शित करने के लिये इस संक्रान्ति का नाम उपर्युक्त रक्खा गया है।

चीनी लोग इसे फूनान कहते थे। फूनान की स्थापना दक्षिणभारत के कौन्डिन्य नामक एक ब्राह्मण ने की थी। इस समय यहां नागपूजकों का राज्य था। कौन्डिन्य ने इन्हें परास्त कर, सोमा नामक नागकन्या से विवाह कर, एक नवीन वंश को जन्म दिया। सोमा के नाम से इस वंश का नाम सोमवंश पड़ा।' इस वंश की राजधानी मेकाङ् नदी के तट पर विद्यमान थी। फूनान की स्थापना में दक्षिणभारत के लोगों का हाथ स्पष्टतया प्रतीत होता है। इसमें निम्न युक्तियां हैं:—

(क) दक्षिणभारत के पल्लव राजाओं की तरह फूनान के राजा भी अपने नाम के पीछे 'वर्मा' शब्द का प्रयोग करते थे। यथा, चन्द्रवर्मा, जयवर्मा, रुद्रवर्मा आदि।

(ख) अङ्कोरवत् और बेयन के मन्दिरों पर दक्षिणभारत की कला का पर्याप्त प्रभाव है। ये दक्षिणभारत के गोपुरों से बहुत मिलते हैं।

(ग) 'नटराज' के रूप में शिव की जो पूजा दक्षिणभारत में प्रचलित थी उसे प्रवासी लोग कम्बुज में भी ले गये थे। वहां के ध्वशावशेषों में नटराज की बहुत सी मूर्त्तियां उपलब्ध हुई हैं। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि उपनिवेशक लोग भारत के दक्षिण से गये थे। यह ठीक है कि कुछ लोग उत्तर से भी पहुंचे। दसवीं शताब्दी में भट्टदिवाकर यमुना के किनारे से कम्बुज गया था, परन्तु मुख्य धारा दक्षिण से ही बह रही थी।

चन्द्रवर्मा फूनान के इन अर्धभारतीय राजाओं ने कई वार भारत से सम्बन्ध स्थापित करने का भी प्रयत्न किया था। २४० ई० में

३. देखिये, Stelae Inscription of Prakash Dharm.

……कुज्ञासीद्भुजगेन्द्रकन्या सोमेति सा वंशकरी पृथिव्याम्।
……कौन्डिन्यनाम्ना द्विजपुङ्गवेन कार्य्यार्थपत्नीत्वमनायियापि॥

चन्द्रवर्मा ने भारत से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये एक दूतमण्डल यहां भेजा था। इसे भेजने का तात्कालिक कारण यह था कि एक भारतीय व्यापारी, जिसका चीनी नाम 'कै-सङ्-लि' था, फूनान पहुंचा था। इसके द्वारा राजा को पता चला कि फूनान से भारत तीस हज़ार ली दूर है। जब इसे अपने पितृभूमि के विषय में ठीक ठीक पता चला तो इसने एक दूतमण्डल भारत भेजा। इस दूतमण्डल का यात्रावृत्तन्त चीनी पुस्तकों में संगृहीत है। चीनी विवरण बताते हैं, "एक वर्ष से अधिक समय व्यतीत होने पर, बहुत सी खाड़ियों को पार करने के पश्चात्, यह दूतमण्डल भारत की एक नदी के मुहाने पर पहुंचा। इस नदी में सात हज़ार ली चलने के उपरान्त यह भारत आया। भारतीय राजा ने दूतमण्डल को देख कर महान् आश्चर्य प्रकट किया, और कहा, क्या भारत से बहुत दूर देश में भी हमारे जैसे ही आदमी रहते हैं?[1] राजा ने दूतों का खूब स्वागत किया, और फूनान के राजा को धन्यवाद देते हुए कि उसने भारत के विषय में इतना अनुराग प्रकट किया है, एक दूतमण्डल फूनान भेजा।"[2]

भारतीयों का फूनानप्रयाण कौन्डिन्य के साथ ही समाप्त नहीं हुआ। चतुर्थ शताब्दी में एक दूसरे कौन्डिन्य का नाम सुनाई देता है। इसने फूनान के सब रीतिरिवाजों को परिवर्तित कर दिया था। चीनी वृत्तान्तों के अनुसार कौन्डिन्य भारत का एक ब्राह्मण था। एक अलौकिक वाणी ने इसे फूनान जाने की प्रेरणा की। कौन्डिन्य बड़ा प्रसन्न हुआ। यह फूनान के दक्षिण में 'पन-पन' नामक स्थान पर पहुंचा। फूनाननिवासी इसके आगमन का समाचार पाते ही इससे मिलने आये, और उन्होंने इसे अपना कौन्डिन्य

१. सम्भवतः भारतीय नरेश को फूनान के हिन्दूराज्य का ज्ञान न था।

२. देखिये, Indian Historical Quarterly, Page 612.

राजा चुन लिया। राजा बनकर कौण्डिन्य ने फूनान के पहले सब नियम रद्द कर दिये, और उनके स्थान पर भारतीय नियम प्रचलित किये।"[1]

पाठकों के लिये यह बात शायद मनोरंजक होगी कि लगभग ३०० वर्ष पश्चात् भी एक कौण्डिन्य ही भारतीय सभ्यता की पताका कम्बुज में पुनः ले गया। इसने शासन की बागडोर अपने हाथ में लेकर वहां रहनसहन, सामाजिक-संगठन, राज्यप्रबन्ध आदि सभी क्षेत्रों में भारतीय प्रथाओं का अनुसरण किया।

कौण्डिन्य जयवर्मा

पांचवी शताब्दी में फूनान में कौण्डिन्य जयवर्मा राज्य करता दिखाई देता है। इसके समय ४८४ ई० में भारतीय भिक्षु शाक्य नागसेन को एक दूतमण्डल के साथ चीन भेजा गया। नागसेन ने चीनी राजा से कहा, "फू-नान में महेश्वर[2] की पूजा होती है और वे 'मोतन' पर्वत पर निवास करते हैं। वहां वृक्ष खूब फलते फूलते हैं।" नागसेन ने वह पत्र भी चीनी सम्राट् की सेवा में उपस्थित किया जो फूनान के राजा ने इसे दिया था। इसमें लिखा था, "नागसेन कान्तुन हो आया है। इसके द्वारा पता चला है कि आपके देश में बौद्धधर्म का प्रचार है, और बहुत बड़ी संख्या में भिक्षु लोग निवास करते हैं। मैं कुछ उपहार देने के लिये आपकी सेवा में इस भारतीय भिक्षु को भेज रहा हूं।"[3] नागसेन ने हाथीदाँत के बने हुए कुछ स्तूप राजा की भेंट किये। इस घटना से परिणाम निकलता है कि पांचवी शताब्दी में फूनान में हिन्दू और बौद्ध— दोनों धर्मों का प्रचार था। महेश्वर की पूजा

१. देखिये, Indian Caltural Influence in Combodia By Bijen-Raj Cheterjee, Page 210.

२. शिव।

३. देखिये, Indian Cultural Influence in Combodia, Page 22.

शैवधर्म के प्राबल्य की सूचक है, और स्तूपों की भेंट बौद्धधर्म की सत्ता की परिचायक है। फूनान का धर्म क्या था, इसे एक चीनी लेखक इस प्रकार स्पष्ट करता है:—

"फूनान के लोग विविध देवों की पूजा करते हैं। ये देवों की मूर्त्तियां भी बनाते हैं। इनमें से किसी के दो हाथ हैं और किसी के चार हाथ और चार मुख। चारों हाथों में एक एक वस्तु पकड़ी हुई है। किसी में पक्षी, किसी में पशु, किसी में सूर्य्य और किसी में चाँद।"[1]

फूनान का यह हिन्दूराज्य छठी शताब्दी तक बना रहा। छठी शताब्दी के अन्त में फूनान का राज्य शक्तिहीन हो गया, और कम्बुज के हिन्दू राजा द्वारा परास्त कर दिया गया। ईसवी सन् के आरम्भ में भारतीय उपनिवेशकों ने जिस राज्य की स्थापना की थी और जो ६०० वर्ष तक निरन्तर सिर उठा कर स्वतन्त्रता का सन्देश देता रहा था, वह अब कम्बुजआक्रान्ता चित्रसेन द्वारा छिन्नभिन्न कर दिया गया। अब उसके ध्वंसावशेषों पर कम्बुज का राज्य खड़ा हुआ। इस समय से इतिहास के पृष्ठों से फूनान का नाम मिट गया और यहां के अगले सारे इतिहास में केवल कम्बुज का ही नाम शेष रह गया।

कम्बुज की उत्पत्ति और उसका क्षय

जिस समय फूनान का शक्तिशाली राज्य विद्यमान था उस समय कम्बुज उसका एक अधीनस्थ राज्य था। तब यह 'शान-ला' नाम से विख्यात था। कम्बुज में संस्कृत के उत्कीर्ण लेख बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक लेख 'बकसे-शङ्-रङ्' में उपलब्ध हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि कम्बुस्वयम्भव कम्बुज का मनु

१ देखिये, Indian Caltural Influence in Combodia, Page 25

था। इससे सारे ख्मेर लोग[1] उसी तरह पैदा हुए जैसे मनु से सम्पूर्ण भारतवासी। यह कम्बुस्वयम्भव कम्बुज राज्य का प्रथम संस्थापक था। इसी के नाम से इस राज्य का नाम कम्बुज पड़ा। कम्बुस्वयम्भव के पश्चात् श्रुतवर्मा हुआ। यह कम्बुज का प्रथम राजा था। इसके पश्चात् जितने राजा हुए वे सब 'श्रुतवर्ममूला:' श्रुतवर्मा है आदि जिनका, कहे गये।

कम्बुज[2] की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथानक प्रचलित है जो इसी लेख की पुष्टि करता है। ऐसी दन्तकथा प्रसिद्ध है कि कंबुस्वयंभव कंबुज का आदि पुरुष था। यह आर्य्यदेश[3] का राजा था। इसने कंबुज की ओर प्रस्थान किया, और वहां जाकर नागराज की लड़की से विवाह किया। नागराज ने अपने प्रभाव से विशाल मरुस्थल को उपजाऊ भूमि बना दिया। इस कंबुस्वयंभव से एक नई जाति उत्पन्न हुई। इस प्रकार सारा का सारा राज्य कंबुज[4] नाम से विख्यात हो गया। यह कंबु, कंबुज का आदि पुरुष और मनु माना जाने लगा।

इस कथानक से यही निष्कर्ष निकलता है कि कंबुज का आदि संस्थापक कंबुस्वयंभव नामक एक भारतीय नरेश था। इसी ने

---

१. कम्बुजनिवासी।

२. भारतवर्ष।

३. कम्बु के लड़के।

४. पाठक कम्बुज और कम्बोज में भेद करें। कालीदास ने रघुवंश में लिखा है,

कम्बोजा: समरेसोढुं तस्य वीर्य्यमनीश्वरा:।
गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटै: सार्धमानता:॥ रघुवंश अ० ४ श्लोक ६९॥

इसी प्रकार महाभाष्यकार और यास्क ने 'शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव' लिखा है। वह कम्बोज है और जिसका इस ग्रन्थ में वर्णन है वह कम्बुज है। इन दोनों में भेद करना आवश्यक है। यह कम्बुज ही वर्त्तमान कम्बोडिया है।

सर्वप्रथम इस देश पर अधिकार किया था। उस समय यहां नागपूजक लोग बसे हुए थे। कंबु ने इन्हें परास्त कर दिया। तदन्तर इसने नागराज की लड़की से विवाह किया। इससे जहां एक नई जाति की उत्पत्ति हुई वहां साथ ही यह कंबुज प्रथम राजा और कंबुज राजवंश का प्रथम संस्थापक भी हुआ। इसी के नाम से देश का नाम भी कंबुज पड़ा। इसी कथानक से यह परिणाम भी निकलता है कि उस समय यह देश मरुस्थल था। लेकिन इसने अपने परीश्रम से इसे उपजाऊ बनाया। इस प्रकार कंबुज एक भारतीय उपनिवेश था, जिसे आर्य्यों ने अपने बाहुबल से जीत कर आवासित किया था। 'बक्से-शङ्-रह्ङ्' के लेखानुसार कंबुज का प्रथम भारतीय शासक श्रुतवर्मा था। यह फूनान के राजा का सामन्त था। श्रुतवर्मा के पश्चात् श्रेष्ठवर्मा राजा हुआ। अब तक भी कंबुज फूनान की अधीनता से मुक्त न हुआ था। श्रेष्ठवर्मा के अनन्तर कौन राजा हुआ, यह ठीक ठीक ज्ञात नहीं होता।

इसके पश्चात् रुद्रवर्मा से आरंभ होने वाले राजाओं की परंपरा का वर्णन मिलता है। रुद्रवर्मा अपने समय के शक्तिशाली राजाओं में से एक था। कंबुज के प्राचीन लेखों में रुद्रवर्मा की बहुत प्रशंसा की गई है। इसे विष्णु की तरह अजेय कहा गया है। एक लेख में लिखा है, 'राजा श्री रुद्रवर्मासीत् त्रिविक्रमपराक्रमः' अर्थात् रुद्रवर्मा राजा विष्णु जैसा बलवान् था। एक अन्य स्थान पर इसकी दिलीप से तुलना की गई है। वहां लिखा है, 'यस्य सौराज्यमद्यापि दिलीपस्येव विश्रुतम्' अर्थात् रुद्रवर्मा का सुशासन दिलीप के शासन की तरह विख्यात है। इसी के शासनकाल में कंबुज में भारतीय चिकित्सा प्रविष्ट हुई। इससमय ऐसे व्यक्तियों का वर्णन मिलता है जो भारतीय चिकित्सा में प्रवीण थे। 'अङ्ग-शुमनिक' में प्राप्त लेख से ज्ञात होता है कि

रुद्रवर्मा

रुद्रवर्मा के दरबार में ब्रह्मदत्त और ब्रह्मसिंह दो भाई रहते थे। ये दोनों कोई साधारण वैद्य न थे, प्रत्युत अश्विनी-कुमारों की तरह प्रवीण थे। रुद्रवर्मा के पश्चात् भववर्मा राजा हुआ।

भववर्मा भववर्मा से पूर्व के सब राजा केवल कंबुज के ही राजा थे। परन्तु इसके समय फूनान भी जीत लिया गया। चीनी विवरणों के अनुसार फूनानविजय भववर्मा के भाई चित्रसेन ने की थी। 'ध्मा-क्र' में प्राप्त लेख के अनुसार भी फूनान पर आक्रमण करने वाला चित्रसेन ही है। भववर्मा, रुद्रवर्मा का वंशज नहीं था, प्रत्युत् यह क्रान्ति द्वारा नेता बना था। फूनानविजय से पूर्व कंबुज में कंबुजराजलक्ष्मी नामक रानी शासन करती थी। किसी कारण से इसके विरुद्ध विद्रोह हुआ और भववर्मा राजा बना। कंबुज के एक प्राचीन लेख में भववर्मा के पिता का नाम वीरवर्मा मिलता है। इस ने अपने नाम पर नई राजधानी बनवाई। उत्कीर्ण लेखों में इस की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की गई है। इसके साथ अजेय, शक्तिशाली आदि विशेषण लगाये गये हैं, मेरुपर्वत की तरह स्थिर और सुन्दर कहा गया है। कंबुज के राजाओं में भववर्मा ही प्रथम राजा था जिसने अपने साथ 'राजाधिराज' की उपाधि लगाई थी। यह अपने को सोमवंशीय कहता था। इसने अनेक पर्वतीय राजाओं को हराया था। किसी किसी स्थान पर इसकी विष्णु से भी तुलना की गई है। भववर्मा शैवधर्मानुयायी था। इसके समय शैवधर्म राष्ट्र-धर्म था। शैवधर्म के प्रसारार्थ इसने अनेक मन्दिरों और शिवलिङ्गों की स्थापना की थी। 'गम्भीरेश्वर' नामक एक लिङ्ग इसे बहुत प्रिय था। शैवों और वैष्णवों में जो ईर्ष्या भारतवर्ष में है, वह कम्बुज में न थी। भववर्मा शिव और विष्णु दोनों पर भेंट चढ़ाया करता था, तथापि शैवधर्म की ओर इसका झुकाव अधिक था। इसने शिव

और विष्णु दोनों की सम्मिलित पूजा प्रारम्भ की थी।[1] भारतवर्ष में इसे 'हरिहर' पूजा कहा जाता है।

फूनान जीतने पर हिन्दूसंस्कृति का बहुत प्रसार हुआ। इस समय के जो लेख प्राप्त हुए हैं उनमें साहित्य के उदाहरणों को देख कर तो सचमुच आश्चर्य होता है कि वहां थोड़े ही समय में हिन्दूसंस्कृति का प्रसार किस सीमा तक हो गया था। न केवल राजा ही प्रत्युत बड़े बड़े धनीमानी सज्जन भी हिन्दू मन्दिरों और मूर्त्तियों का निर्माण करा रहे थे। ब्राह्मण सोमेश्वरवर्मा ने विष्णु की मूर्त्ति स्थापित कराई थी, और उसे बहुत सी दक्षिणा प्रदान की थी। दक्षिणा में रामायण, महाभारत और पुराण भी सम्मिलित थे। इन ग्रन्थों का अखण्ड पाठ भी होता था। देखते ही देखते कंबुज हिन्दू-संस्कृति का महान् केन्द्र बन गया। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि हिन्दू देवीदेवताओं की पूजा प्रारंभ हो गई। हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य वेद, पुराण, रामायण और महाभारत का अध्ययन होने लगा। धार्मिक पुस्तकों की कथा भी ख्मेर लोगों में चल पड़ी। इस प्रकार नये देश में हिन्दूसभ्यता और हिन्दूसंस्कृति बड़ी तेजी से फैल रही थी। भववर्मा के शासनकाल की निश्चित तिथि बताना कठिन है, क्योंकि इसके किसी भी लेख पर तिथि नहीं दी हुई है। महेन्द्रवर्मा के लेख से पता चलता है कि भववर्मा के पश्चात् ६०४ ई० में महेन्द्रवर्मा राजा बना। इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि भववर्मा छठी शताब्दी के अन्त में सिंहासनारूढ़ हुआ था। संस्कृतिप्रसार

६०४ ई० में महेन्द्रवर्मा राजा बना। दो व्यक्ति इसके विशेष कृपापात्र थे। इनका नाम धर्मदेव और सिंहदेव था। ये दोनों मंत्रीपद पर प्रतिष्ठित थे। महेन्द्रवर्मा का एक लेख 'बेयन' में मिला है। लेख से पता चलता है कि राजा ने शिवपाद की स्थापना की महेन्द्रवर्मा

१. देखिये, The Hindu Colony of Combodia, Page 76.

थी।[1] अब तक तो पाठकों ने गया के विष्णुपाद और सीलोन तथा स्याम के बुद्धपाद के विषय में ही सुना होगा, लेकिन कंबुज में शिवपाद भी पूजा जाता था। इस समय शैवधर्म निरन्तर उन्नति कर रहा था। महेन्द्रवर्मा के अनन्तर ईशानवर्मा राजा हुआ।

ईशानवर्मा इसके समय कंबुज में शैव और वैष्णव दोनों धर्म प्रचलित थे, परन्तु शैवधर्म को ऊंचा स्थान प्राप्त था। ईशानवर्मा के एक लेख में शिव की स्तुति इन शब्दों से की गई है:—

जयतीन्दुकलामौलिरनेकगुणविस्तरः।
स आदिरपि भूतानामनादिनिधनः शिवः॥

ईशानवर्मा के शासनकाल में आश्रमनिर्माणप्रथा प्रारम्भ हुई। ये आश्रम बौद्धविहार न थे, प्रत्युत हिन्दूमठ थे जो हिन्दू सन्यासियों के निवासार्थ बनाये गये थे। बहुयज्ञकर्त्ता आर्यविद्यादेव ने अन्तिम समय ध्यान में व्यतीत करने के लिये एक आश्रम बनवाया था। इसी तरह ईशानदत्त नामक एक मुनि ने विष्णुआश्रम का निर्माण कराया था। राजा अपनी वीरता के लिये बहुत प्रसिद्ध था। 'अङ्-पो' के उत्कीर्ण लेख में लिखा है कि ईशानवर्मा राज्य का भार ऐसे उठाता है जैसे शेषनाग पृथ्वी को उठाये हुए है।[2] इसके राज्य में एक महामुनि रहता था। इसका नाम ईशानदत्त था। यह अपनी तपस्याओं के कारण बहुत ख्यातिलाभ कर चुका था। इसने शिव और विष्णु की सम्मिलित मूर्त्ति बनवाई थी। पर इतने से ही इसे सन्तुष्टि न हुई। तदनन्तर शिव और विष्णु का इकट्ठा लिंग भी बनवाया। विष्णुआश्रम बनवा कर उसके लिये दास, भूमि

---

१. त्रैयम्बकं लिङ्गमिदं नृपेण निवेशितं श्रीभववर्मनाम्ना।

२. कालिदास के निम्न श्लोक में भी यही विचार पाया जाता है:—

पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः।
भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज॥ रघुवंश अ० २, श्लो० ७४॥

और गौएं दान में दीं। ईशानदत्त का समकालीन एक विद्वान् और था। इसका नाम आचार्य्य विद्याविनय था। यह शास्त्रों का अच्छा पण्डित था। ईशानवर्मा का मंत्री सिंहवीर भी प्रकाण्ड पण्डित था। यह अच्छा कवि भी था। अनेक लोग इसे कविता में अपना गुरु मानते थे। ईशानवर्मा के शासनकाल का वर्णन एक चीनी यात्री इस प्रकार करता है:—

"ईशानवर्मा की राजधानी ईशानपुर है। राजधानी में २०,००० घर हैं। नगर के मध्य में विशाल भवन है। यहां राजा अपना दरबार लगाता है। राज्य में तीन बड़े नगर हैं। प्रत्येक में एक एक शासक रहता है। उच्च कर्मचारी पांच तरह के हैं। ये सब राजा के सम्मुख उपस्थित होने पर उसके प्रति मानप्रदर्शित करने के लिये सिंहासन के सामने तीन वार पृथ्वी को छूते हैं। तत्पश्चात् राजा उन्हें आसन ग्रहण करने को कहता है। गोलाकृति में बैठकर ये राजा के साथ मंत्रणा करते हैं। सभा समाप्त होने पर ये पुनः घुटने तक झुकते हुए दरबार में से निकल जाते हैं। दरबार के द्वार पर शस्त्रों से सुसज्जित हजारों सैनिक सदा सन्नद्ध रहते हैं।"

"ख्मेर लोग कद में छोटे हैं। पुरुषों का रंग काला है, पर स्त्रियां गोरी हैं। लोग बालों को गूंथते हैं, और कानों में छल्ले पहनते हैं। ख्मेर लोग बड़े क्रियाशील हैं। इनके घर स्यामी घरों की तरह हैं। दायें हाथ को पवित्र समझते हैं और बायें को अपवित्र। प्रति प्रातःकाल दाँत साफ कर स्नान करते हैं। धार्मिक ग्रन्थों का पाठ करते हैं। प्रार्थना के पश्चात् दुबारा नहाते हैं। स्नान के उपरान्त खाना खाते हैं। भोजन में मक्खन, मलाई, खाण्ड, चावल और रोटी का प्रयोग करते हैं।"[1]

---

१. देखिये, Indian Caltural Influence in Combodia, Page 230–32.

प्रथम ६६५ ई० में जयवर्मा प्रथम राजा हुआ। 'वत-प्रे-वीर' नामक स्थान पर इस द्वारा उत्कीर्ण कराया एक लेख मिला है। इसमें हिन्दू-देवता की स्तुति न करके महात्मा बुद्ध की स्तुति की गई है।[1] इससे यह परिणाम स्पष्ट निकलता है कि सांतवीं शताब्दी में कम्बुज में बौद्धधर्म का प्रचार प्रारम्भ हो गया था। जयवर्मा के दरबार में दो सहोदर भिक्षु रहते थे। इनका नाम रत्नभानु और रत्नसिंह था। यद्यपि जयवर्मा हिन्दू राजा था तो भी बौद्धों को इसका संरक्षण प्राप्त था।

अराजकता की उत्पत्ति

जयवर्मा प्रथम के पश्चात् कम्बुज में अव्यवस्था प्रारम्भ हुई। कम्बुज का विशाल साम्राज्य शम्भुपुर और व्याधपुर इन— दो टुकड़ों में बंट गया। अव्यवस्था की यह दशा नवीं शताब्दी तक चलती रही। ८०२ ई० में जयवर्मा द्वितीय ने दोनों को मिला कर फिर से एक कर दिया। अब से एक नये वंश का प्रारम्भ हुआ।

जयवर्मा द्वितीय

जयवर्मा द्वितीय के पिता का नाम राजेन्द्रवर्मा था यह शम्भुपुर का राजा था। इसने अपनी माता की सहायता से व्याधपुर को हस्तगत कर लिया, और फिर शम्भुपुर को जीत कर दोनों को मिला कर एक कर दिया। राजेन्द्रवर्मा की पत्नी का नाम नरपतीन्द्रदेवी था। इससे महीपतिवर्मा का जन्म हुआ। सिंहासनारूढ़ होते समय इसने अपना नाम जयवर्मा द्वितीय रख लिया। राजा बनते ही राजधानी बदल दी गई। महेन्द्रपर्वत पर नई राजधानी और प्रासाद बनाया गया। इसके अवशेष आज भी 'बैङ्-मिलिआ' में उपलब्ध होते हैं। यही राजधानी आगे चल कर यशोधरपुर[2] नाम से विख्यात हुई। 'दक्-कक्-थोम' में प्राप्त लेख से ज्ञात होता है कि कम्बुज बहुत दिनों तक जावा के

१. देखिये, The Hindu Colony of Combodia, Page 95.

२. वर्त्तमान अङ्कारथोम।

आधीन रहा। जयवर्मा द्वीतीय ने अपने को जावा की अधीनता से मुक्त कर लिया। ऐसी दन्तकथा प्रचलित है कि जयवर्मा द्वितीय ने इन्द्र से तलवार प्राप्त की थी जो वर्त्तमान समय में 'फोनम-पह्न' नामक स्थान में पड़ी हुई है। अपने शासनकाल के प्रारम्भ में यह बौद्ध था, लेकिन कालान्तर में इसका झुकाव शैवधर्म की ओर हो गया, और शिव की पूजा राष्ट्रीय देवता के रूप में की जाने लगी। यह जिस लिंग की पूजा किया करता था उसका नाम 'देवराज' था।

८७७ ई० में इन्द्रवर्मा प्रथम राजा हुआ। इसकी गणना कंबुज के महान् राजाओं में की जाती है। इन्द्रवर्मा एक आदर्श भारतीय राजा समझा जाता था। कंबुज निवासी इसे साक्षात् मनु मानते थे। एक राजकवि ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है:— इन्द्रवर्मा

त्यागक्षमाश्रुतपराक्रमशीलशौर्य्य-
प्रागल्भसत्त्वबलबुद्धिगुणोपपन्नः।
षाड्गुण्यवित्त्रिविधशक्तियुतो जितात्मा-
योगान् जुगोप मनुवत् सुनयानयज्ञः ॥[1]

शिव के प्रति अगाध भक्ति के कारण इन्द्रवर्मा ने हीरों का बना एक विमान शिव की भेंट चढ़ाया था। विमान के अतिरिक्त सोनाचाँदी के भी बहुत से उपहार भेंट किये थे। भगवान् शिव के नाम पर शिवपुर नगर बसाया था। पृथिवीन्द्रेश्वर, परमेश्वर और इन्द्रेश्वर की मूर्त्तियां बनवाई थीं। ईश, देवी और पार्वती की छः प्रतिमाओं की रचना कराई थी। 'इन्द्रतत्ताक' नामक सरोवर बनवाया था। हिन्दू सन्यासियों के निवासार्थ अपने नाम पर 'इन्द्राश्रम' नाम से दो आश्रम बनवाये थे।

---

१. देखिये, The Hindu Colony of combodia, Page 120.

८८६ ई० में यशोवर्मा कंबुज का राजा हुआ। इसने इक्कीस वर्ष शासन किया। इस सयय कंबुज में बहुत से मन्दिर, मूर्त्तियां और महल खड़े किये गये। इसके राज्य में सोमदेव नामक मुनि रहता था। बड़े बड़े साधु इसकी पूजा करते थे। यशोवर्मा स्वयं भी इसे गुरु मानता था। वैष्णवमतावलंबी होता हुआ भी यह एक आदर्श ब्राह्मण था। प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधि से विप्र, आर्य और अतिथि की पूजा करता था। इसने बुद्धिरूपी मन्दरपर्वत को मथानी बनाकर, शैवशास्त्ररूपी समुद्र को मथकर, ज्ञानमृत का पान किया था। इसी विचार को कम्बुज के एक राजकवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है:—

> शिवशास्त्रार्णवं बुद्धिमन्दरेण विमथ्य यः।
> स्वयं ज्ञानामृतं पीत्वा दययान्यानपाययत् ॥[१]

यशोवर्मा यशोवर्मा के समय प्रायः सभी हिन्दू देवीदेवता पूजे जाते थे। इसके कई लेखों में शिव के अतिरिक्त दूसरे देवताओं की स्तुति भी की गई है। 'फोनम्-सन्दक्' में प्राप्त लेख में लिखा है, "नमोऽस्तु शम्भवे, जयति त्रिपुरध्वंसी, नमोऽस्तुहरये, स्वयम्भूः पातु, वन्दे अपर्णाम्।" इसप्रकार इस लेख में ब्रह्मा, विष्णु, महेश और अपर्णा[२] को प्रमाण किया गया है। एक अन्य स्थान पर शिव, ब्रह्मा, विष्णु, गौरी और देवी को नमस्कार किया गया है।[३] 'प्राह-वत्' के लेख का तो आरम्भ ही इन शब्दों से होता है:—

१. देखिये, The Hindu colony of Cambodia, Page 1 9

२. पार्वती।

३ वह लेख इसप्रकार है— "नमः शिवाय, विष्णुं नमामि, नमन्तु ब्रह्मणः पादपल्लवौ, वन्दे गौरीम्, नमो देव्यै।"

उत्पत्तिस्थितिसंहारकारणान् जगतां पतीन् ।
नमन्तु मन्मथारातिमुरारिचतुराननान् ॥

इसमें भी विष्णु, शिव और ब्रह्मा— तीनों के प्रति नमस्कार किया गया है। इसी लेख में प्राचीन इतिहास देकर, अन्त में यशोवर्मा की प्रशस्ति काव्यात्मक भाषा में लिखी गई है। प्रशस्ति इस प्रकार है:—

रत्नकाञ्चनरूप्यादि गवाश्वमहिषद्विपाः ।
नरनार्य्यो धराऽऽरामा यानि चान्यानि कानिचित् ।
तानि सर्वाणि दत्तानि श्रीयशोवर्म्मभूभुजा-
स्वाश्रमे··· ··· ··· ···॥[1]

इस प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि यशोवर्मा ने रत्न, सोना, चाँदी, नौकर, गौएं आदि बहुत सी चीजें मन्दिरों और आश्रमों को दान दी थीं। इसने गणेश, निद्रा, नारायण, रुद्राणी, ब्रह्मराक्षस आदि अनेक देवताओं की मूर्त्तियां बनवाई थीं। इन कृत्यों के कारण यशोवर्मा का मान बहुत बढ़ गया था। लोग इसे द्वितीय मनु समझने लग गये थे। यशोवर्मा ने हिन्दूवर्णव्यवस्था को फिर से संगठित करने का प्रयत्न किया। आश्रमों की मर्यादा पुनः प्रारम्भ की। कम से कम सौ आश्रम राज्य भर में बनाये गये। राजा अपनी उदारता के लिये इतना प्रसिद्ध था कि कम्बुज निवासी इसे कश्यप के लिये सारी पृथ्वी दे देने वाले परशुराम से भी अधिक मानते थे। उनकी दृष्टि में यह अर्जुन सा वीर और भीम सा बहादुर था। यह योग्य चिकित्सक भी था। सुश्रुत में इसने अच्छी विद्वता प्राप्त की थी। आयुर्वेद की शिक्षा द्वारा प्रजा के रोगों को दूर करने में यह पर्याप्त सफल हुआ था। शिल्प, भाषा, लिपि और नृत्य में पारंगत था। धर्मप्रचार के लिये यह सबसे पहिले स्वयं आगे बढ़ा। इसने चार

---

१. देखिये, The Hindu colony of Combodia, Page 140.

प्रतिमायें स्वयं ों में स्थापित की थीं । इन मूर्त्तियों के लिये रत्नजटित आभूषण, शिविका, कलधौत, व्यजन, छत्र, न, वारांगनायें, ग्राम, उपवन और सोनाचाँदी के बने हुए पूजा के बहुत से उपकरण भेंट किये थे। यशोवर्मा के लेख से पता चलता है कि केवल श्रद्धालु और पूजक लोग ही मन्दिरों में जा सकते थे। लंगड़े, लूले, कृतघ्नी, कुबड़े, बौने, पापी, कोढ़ी, अपरिचित और रोगी व्यक्ति मन्दिर के आंगण ही में प्रविष्ट न हो सकते थे। यशोवर्मा के पिता इन्द्रवर्मा ने महेन्द्र पर्वत पर नई राजधानी और प्रासाद बनाना शुरू किया था। महल तो बन चुका था, पर राजधानी यशोवर्मा के समय में तय्यार हुई। यह राजधानी यशोधरपुर, महानगर, या कम्बुपुर नाम से प्रसिद्ध थी। अङ्कोरथोम् में इस नगरी के ध्वंसावशेष उपलब्ध हुए हैं।

अङ्कोर-थोम् — अङ्कोर-थोम् के चारों ओर ३३० फीट चौड़ी खाई है, और रक्षा करने के लिये चूने की बनी एक ऊंची दीवार है। नगर वर्गाकार है, जिसकी प्रत्येक भुजा दो मील से कुछ अधिक लम्बी है। नगर के द्वार विशाल और सुन्दर हैं। इनके दोनों ओर रक्षकों के मकान हैं। तीन सिर वाले हाथी द्वारों के मीनारों को अपनी पीठ पर थामे हुए हैं। सौ फीट चौड़े और एक मील लम्बे पांच मार्ग द्वारों से नगर के मध्य तक गये हैं। दो द्वार अब भी 'विजयद्वार' और 'मृत्युद्वार' कहलाते हैं। पक्की चिनाई के भिन्न भिन्न आकृति वाले कई सरोवर आज भी विद्यमान हैं।

बेयन — नगर के मध्य में 'बेयन' का शिवमन्दिर है। यह राजधानी का सबसे बड़ा भवन है, और पिरामिड आकार का है। इसके तीन खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड पर एक एक ऊंची मीनार है।

बीच का मीनार यद्यपि बहुत भग्नावस्था में है, तथापि वह अब तक खड़ा है। इसकी ऊंचाई १५० फीट है। यहां से चालीस अन्य

मीनार दिखाई पड़ते हैं। प्रत्येक मीनार के चारों ओर श्रेष्ठ कलायुक्त एक एक नरमूर्त्ति बनी हुई है। ये समाधिस्थ शिव की मूर्त्तियां हैं। इनके मस्तक में तृतीय नेत्र विराजमान है। 'शिओ-ता-कान्'[1] जब कम्बुज आया था तब इनकी जटाओं पर सोना मढ़ा हुआ था। मीनार के नीचे का मन्दिर इस समय खाली पड़ा हुआ है। यद्यपि यह 'अङ्कोरवत्' से छोटा है पर सुन्दरता में उससे कहीं कहीं बढ़कर है। इसके दुर्गम स्थानों पर भी सुन्दर कारीगरी की गई है। दीवारों पर बने चित्रों में कहीं संग्राम के दृश्य दिखाये गये हैं। इनमें सामन्त लोग हाथ में धनुष लिये हाथी पर सवार हैं, और साधारण सिपाही भाले तथा ढाल पकड़े हुए हैं। कइयों ने अपनी छाती के चारों ओर रस्से लपेटे हुए हैं। एक अन्य चित्र में दाढ़ी वाले यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मण छायादार वृक्षों के नीचे विश्राम पा रहे हैं। कहीं मल्लयुद्ध हो रहा है, कहीं वीणा लिये गायकमण्डली बैठी है, कहीं बाजीगर खेल दिखा रहा है, कहीं छज्जे पर धोती पहने और गले में हार डाले राजा आसीन हैं। इनके चारों ओर दरबारी खड़े हैं, और छज्जे के नीचे बारहसिंघा, गेंडा और खरगोश जलूस में ले जाये जा रहे हैं। कहीं अर्थी का जलूस निकल रहा है। कहीं पालकियों पर रानियां सैर कर रही हैं। कहीं पर बैलों द्वारा रथ खींचे जा रहे हैं, जिन पर परदा डला हुआ है। कहीं लोग मछलियां पकड़ने में व्यस्त हैं। कहीं सामुद्रिक युद्ध हो रहा है। कहीं हाथियों पर विजित देशों से लूट लाई जा रही है, और कहीं शिव जी अपनी नेत्राग्नि से कामदेव को भस्म कर रहे हैं।

बेयन के उत्तरपश्चिम में १२०० फीट लम्बा और तेरह फीट ऊंचा एक समतल धरातल है। सम्भवतः यहां से कुलीन श्रेणी

१. यह एक चीनी यात्री था जो चीनी राजदूत के साथ कम्बुज आया था। स्वदेश लौटने पर इसने अपना यात्रावृत्तान्त लिखा था।

सार्वजनिक खेलों को देखती थी। इसके सामने के चित्र कम्बुज के सबसे अधिक कलापूर्ण चित्र हैं। पूरे कद के हाथी जीवित मालूम पड़ते हैं। इस समतल धरातल के पीछे राजमह्ल का स्थान है, जो अब नष्ट हो चुका है। आङ्गण में केवल मन्दिर अवशिष्ट है। शिलालेखों से यह विष्णु का मन्दिर प्रतीत होता है, परन्तु प्रचलित कथानकों में इसे राजा का शयनगृह बताया गया है। इससे और अधिक उत्तर की ओर एक कोढ़ी राजा की नंगी तथा सुन्दर प्रतिमा बनी हुई है। ऐसी दन्तकथा प्रचलित है कि अङ्कोरथोम का संस्थापक कोढ़ द्वारा मर गया था, उसी की यह मूर्त्ति है। चीनीदूत के साथ आये हुए शिओ-ता-कान् ने भी कोढ़ी राजा का वर्णन सुना था। अब तक भी कम्बुजनिवासी राजधानी के उत्तर में उस छोटी घाटी को दिखाते हैं जहां राजा ने अपने जीवन के अन्तिम सांस लिये थे।[1] कोई भी कारण क्यों न हो आगामी किसी भी राजा ने अपना नाम यशोवर्मा नहीं रक्खा। इसका कारण किसी ऋषि का शाप बताया जाता है।[2]

यशोवर्मा के मंत्री का नाम सत्याश्रय था। यद्यपि राजा स्वयं शैव था पर इसका मंत्री वैष्णव था। इसने 'त्रैलोक्यनाथ' नाम से एक वैष्णवमन्दिर का निर्माण कराया था। ९१० ई० में कम्बुज का यह महाप्रतापी राजा इस संसार को छोड़ परलोकगामी हुआ।

१. ब्रिगॅडेट ने 'बर्मी युद्ध की कहानियां' ग्रन्थ के ग्यारहवें पृष्ठ पर एक भारतीय कथानक दिया है, जो इससे बहुत मिलता है। कथानक इस प्रकार है:—बनारस का राजा कोढ़ से पीड़ित होकर राजधानी के उत्तर की ओर जंगल में चला गया था।

२. Indian Cultural Influence in Combodia, Page 142.

९४४ ई० में राजेन्द्रवर्मा सिंहासनारूढ़ हुआ। कम्बुज के इतिहास में राजेन्द्रवर्मा का बहुत महत्त्व है, क्योंकि इसके समय कम्बुज में एक नये धर्म का प्रवेश हुआ था। यह नया धर्म बौद्ध-धर्म था। राजेन्द्रवर्मा के पूर्ववर्ती सब राजा और मंत्री हिन्दूधर्मानुयायी थे। इन्होंने हिन्दू देवीदेवताओं के लिये मन्दिरादि का निर्माण कराया था। हिन्दूमन्दिरों और आश्रमों को प्रभूतमात्रा में दान दिया था। राजा का झुकाव हिन्दूधर्म की ओर होने से बौद्ध-धर्म फलफूल नहीं सका था। परन्तु राजेन्द्रवर्मा की रुचि बौद्धधर्म की ओर विशेष थी। इसका यह तात्पर्य नहीं कि अब से हिन्दूधर्म का ह्रास आरम्भ हुआ, प्रत्युत वह राजकीय संरक्षण जो अब तक केवल हिन्दूधर्म को ही प्राप्त था दोनों में विभक्त हो गया। जहां यशोवर्मा के लेखों में शिव, विष्णु और ब्रह्मा की स्तुति की गई है, वहां राजेन्द्रवर्मा के लेख जिन, लोकेश्वर और वज्रपाणि को नमस्कार कर प्रारम्भ होते हैं। यद्यपि यह बुद्ध का अगाध भक्त था, तो भी हिन्दू देवीदेवताओं में इसकी श्रद्धा नष्ट न हुई थी। इसने यशोधरपुर में शिवलिंग तथा देवी की मूर्त्तियां स्थापित कराई थीं। राजेन्द्रवर्मा का मंत्री कवीन्द्रारिमथन भी बुद्ध में अटूट श्रद्धा रखता था। राजेन्द्रवर्मा के लेखों से पता चलता है कि चम्पा के राजा के साथ इसका युद्ध हुआ था। इस लड़ाई में चम राजा बुरी तरह परास्त हुआ था।[1] राजेन्द्रवर्मा विद्वान् भी बहुत था। पाणिनीय शिक्षा में यह पारंगत था।[2]

बौद्धधर्म का अभ्युदय

९६८ ई० में जयवर्मा पञ्चम राजा बना। इसके समय हिन्दूधर्म ने पुनः प्रधानता प्राप्त कर ली। शिवमन्दिर में फिर से कंबुजराज द्वारा भेंट चढ़ाई जाने लगी। लेखों में भी बुद्ध के स्थान पर शिव

हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान

१. चम्पादि परराष्ट्राणां दग्धा कालान्तकृतिः।

२ प्रकाशनकृतयस्य वचसा पाणिनेरिव।

की स्तुति की गई। जयवर्मा के लेखों से पता चलता है कि इसकी सेना अनेक बाजों को बजाती हुई चलती थी। इन बाजों के नाम लेख में इस प्रकार दिये गये हैं:—

लालरी, कंस, करदि, तिमिल, वीणा, वेणु,
घण्टा, मृदङ्ग, पुरव, पणव, भेरी, काहल, शंख।[1]

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब वाद्य प्रायः भारतीय हैं, और इनके नाम भी भारतीय हैं। इनमें से अधिकांश अब भी भारत में प्रयुक्त किये जाते हैं। इन्हें भारतीय लोग अपने साथ कम्बुज ले गये थे। राजा की बहिन इन्द्रलक्ष्मी ने अपनी माता की मूर्त्ति बनवाई थी।[2] किसी मानवमूर्त्ति की पूजा करने का कम्बुज के इतिहास में यह प्रथम ही उदाहरण है। इन्द्रलक्ष्मी का विवाह भट्टदिवाकर से हुआ था। यह यमुनातटवासी एक भारतीय था। दसवीं शताब्दी में जब भारत में मुसलमानों के अत्याचार हो रहे थे यह भारत छोड़ कम्बुज चला गया था। यह जाति से ब्राह्मण था। कम्बुजनिवासी भट्टदिवाकर को आदर्श ब्राह्मण समझते थे। इस प्रकार जयवर्मा पञ्चम के समय फिर से हिन्दूधर्म ने सिर उठाया। विष्णु, शिव आदि देव और भारती आदि देवियां पूजी जाने लगीं। भट्टदिवाकर आदि हिन्दू पण्डितों ने हिन्दूसंस्कृति को फैलाने का भरसक प्रयत्न किया। १००१ ई० में जयवर्मा पञ्चम परलोक सिधार गया।

सूर्यवर्मा प्रथम

१००२ ई० में सूर्य्यवर्मा राजा बना। इसके समय हिन्दुधर्म उन्नति के शिखर पर आरूढ़ था। राजा ने आध्यात्मिक शिक्षा के लिये योगीश्वर पण्डित को अपना गुरु बनाया। यह वैष्णव ब्राह्मण था।

१. देखिये, ८९० शक सम्वत का 'प्रे-इन्कोसि' में प्राप्त लेख।

२. निजमातुरर्चां प्रातिष्ठिपत।

'वत्-प्रप्रस' लेख में योगीश्वर पण्डित को विद्या और कला में प्रवीण कहा गया है। व्याकरण और शास्त्रों का ज्ञाता बताया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि राजगुरु अपने समय का बहुत बड़ा व्यक्ति था। एक अन्य लेख में इसके लिये कल्याण कामना की गई है।[1] इसी के नाम पर योगेश्वरपुर नाम से एक नगर बसाया गया था। योगीश्वर पण्डित के अतिरिक्त इसी समय शैवाचार्य नामक एक मुनि ख्यातिलाभ कर रहा था। सूर्यवर्मा ने इसे इसके आदर्श आचरण के कारण ब्राह्मणवर्ग का मुखिया बनाया था, और शैवाचार्य के पुत्र शिवबिन्दु को महामात्य पद पर नियुक्त किया था। इस के दरबार में शंकरपण्डित नामक एक अन्य विद्वान् रहता था। राजा ने इसे पुरोहित और द्वितीय गुरु के पद पर नियुक्त किया था। कम्बुज निवासियों में यह दन्तकथा प्रचलित थी कि स्वयं शेषनाग ने शंकर पण्डित को अपने सहस्र मुखों द्वारा पातञ्जल-भाष्य का अध्यापन कराया था। पातञ्जलभाष्य के अतिरिक्त वैशेषिक दर्शन का भी इसे गम्भीर ज्ञान था। इससे प्रतीत होता है कि सूर्यवर्मा विक्रमादित्य की तरह विद्वानों का आश्रय-दाता था।

कम्बु का विद्रोह

१०४६ ई० में सूर्यवर्मा की मृत्यु हो गई। सूर्यवर्मा का उत्ताधि-कारी उदयादित्यवर्मा था। इसके समय कम्बु नामक सेनापति ने विद्रोह किया। राजा के महासेनापति 'संगाराम' ने कम्बु को किस प्रकार परास्त किया, इसका वर्णन 'प्रीझ्-गॉक्' के लेख में बड़े मनोरञ्जकरूप में किया गया है। वर्णन इस प्रकार है:—

"राजा ने कम्बु नामक एक शूर पुरुष को सेनापति के पद पर नियुक्त किया। प्रत्येक मनुष्य यही सोचता था कि नया सेनापति

१ सिद्धिरस्तु भवेद् देवश्रीयोगीश्वरपण्डिते।

अपने सुदृढ़ शरीर और शक्ति के कारण सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी बनने के योग्य है। अब कम्बु ने भी रावण की तरह देवों को जीतने की ठानी, और अपने को राजा बनाने की इच्छा प्रकट की। अन्ततः उसने कम्बुजराज के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। राजा ने अपने सब सेनापतियों को बुलाकर कहा— राष्ट्र के शत्रु की हत्या करो। दुर्भाग्यवश सबके सब सेनापति कम्बु द्वारा खेत रहे। यह समाचार पाते ही राजा ने बचे हुए सेनापतियों को सम्बोधन किया— हे सेनानायको! एक बार पुनः प्रयत्न करो। महासेनापति संगाराम ने राजा के कथन का उत्तर देते हुए कहा, राजन्! हमारे सदृश मनुष्यों का तो साहस ही क्या, यदि देवराज इन्द्र भी युद्ध में उसके सम्मुख आयें तो उन्हें भी मुंह की खानी पड़ेगी। महाराज! थोड़ी देर प्रतीक्षा कीजिये। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं उसका काम तमाम कर दूंगा। राजा ने उत्तर में कहा, शाबाश सरदारो! शाबाश, तुम जानते हो कि तुम्हारी और मेरी इच्छा एक ही है। इस प्रकार राजा द्वारा प्रोत्साहन पाकर संगाराम मलयपर्वत की तरह स्थिर और भयानक शत्रु से लोहा लेने चल पड़ा। रणक्षेत्र की ओर जाने से पूर्व इसने शिवमन्दिर में जाकर अपनी विजय के लिये प्रार्थना की, और शिव को बहुत सी भेंट अर्पण की। जब संगाराम और कम्बु की मुठभेड़ हुई तो ऐसा प्रतीत होता था, मानो राम रावण लड़ रहे हों। दोनों की सेनायें खड्ग, शतघ्नी, शूल, शक्ति आदि शस्त्रों का प्रयोग कर रही थीं। बहुत देर तक घमासान युद्ध होने के उपरान्त संगाराम के सैनिकों ने कंबु को यमपुरी के मार्ग का पथिक बना दिया। इस विजय से संगाराम अपने को शिव का बड़ा कृतज्ञ समझने लगा। वह पुनः शिवमन्दिर में गया, वहां मूर्त्ति के समक्ष साष्टाङ्ग प्रणाम कर प्रार्थना की, और उसे बहुत से उपहार अर्पित किये।"

१११२ ई० में सूर्य्यवर्मा द्वितीय ने कम्बुज के सिंहासन को अलङ्कृत किया। राज्याभिषेक राजगुरु दिवाकर द्वारा सम्पादित किया गया। अङ्कोरवत् के संसार प्रसिद्ध वैष्णवमंदिर का निर्माण इसी के राज्यकाल में हुआ था। 'वन्-थर्' में प्राप्त लेख में लिखा है, "अङ्कोरवत् के तीन खण्ड मेरु पर्वत की तीन चोटियों की तरह खड़े हुए हैं। वायु में उड़ती हुई पताकाओं के कारण यह इन्द्रभवन की शोभा को धारण कर रहा है। नर्त्तकियों के नाचगान द्वारा यह अमरावती को लजा रहा है। श्रद्धा और दीर्घसत्र के समय भूतकाल के इस अमर इतिहास का बार बार स्मरण किया जायेगा।" सूर्यवर्मा द्वितीय

यद्यपि इस समय यह बौद्धमन्दिर बन गया है। परन्तु पहले यह एक वैष्णव देवालय था। मन्दिर का निर्माण सूर्य्यवर्मा द्वितीय ने करवाया था या उदयादित्यवर्मा द्वितीय ने, यह बात अभी तक संदिग्ध है। मन्दिर के समीप ही एक लेख प्राप्त हुआ है, जिसमें सूर्य्यवर्मा द्वितीय को महान् भवननिर्माता कहा गया है। इसमें यह भी लिखा है कि यह विष्णु का अनन्य भक्त था। इससे यही परिणाम निकलता है कि सूर्य्यवर्मा द्वितीय ने ही यह मन्दिर बनवाया था।

इस मन्दिर में प्रत्येक पदार्थ महापरिमाण में है। जिस खाई ने इसे चारों ओर से घेरा हुआ है, वह एक झील सी जान पड़ती है। खाई की चौड़ाई ७०० फीट है। अङ्कोरवत् 'नगरवत' का अपभ्रंश है, जो कि संस्कृत 'नगरवाट' से बना है। नगरवाट का अर्थ है— राजधानी का बौद्धविहार। इसलिये अङ्कोरवत् का अर्थ हुआ— राजधानी का चैत्य। अङ्कोरवत्

अङ्कोरथोम् से दक्षिण की ओर अङ्कोरवत् का प्रसिद्ध मन्दिर विद्यमान है। इसके चारों ओर ७०० फीट चौड़ी खाई है

खाई को पार करने के लिये पश्चिम में एक पुल है। पुल पार करने पर अङ्कोरवत् मन्दिर का मुख्य द्वार मिलता है । मन्दिर की प्रत्येक दिशा में एक एक विशाल द्वार है। इनमें से उत्तर, दक्षिण और पूर्व के द्वार कुछ छोटे हैं। पश्चिम द्वार एक भव्य मन्दिर सा जान पड़ता है। इसकी चौड़ाई खाई से ड्योढ़ी है। इसमें तीन मार्ग पैदलों के लिये और दो, रथ और हाथियों के लिये हैं। मन्दिर-निर्माण में भारतीय विधि का प्रयोग किया गया है। दक्षिणभारत में अङ्कोरवत् के समान ही आयताकार मन्दिरों की शृंखला मिलती है। कम्बुज के मन्दिरनिर्माताओं के सम्मुख दक्षिणभारत के मन्दिर विद्यमान थे। जिस भारतीय कारीगर ने अङ्कोरवत् का नक़शा तय्यार किया और उसे पूर्ण किया उसने दक्षिणभारत की मन्दिरनिर्माण विधि को ही विकसित किया। कम्बुज की वास्तुकला पिरामिड आकृति की है। परन्तु अङ्कोरवत् के मन्दिर में पिरामिड आकृति कुछ अस्पष्ट रह गई है, क्योंकि चौड़ाई के अनुपात में ऊंचाई कम है, और स्तम्भों की पंक्तियां बहुत लम्बी हैं। इससे प्रतीत होता है कि इसके निर्माण में किसी दूसरी ही पद्धति का अनुकरण किया गया है, और वह पद्धति भारतीय है। अङ्कोरवत् के मध्य मीनार की चोटी भूमि से १८० फीट ऊंची है। इस प्रकार यह जावा के प्रसिद्ध मन्दिर 'बोरो-बुदूर' से भी ८० फीट अधिक ऊंचा है। इसकी चित्रशालाओं के चित्र जगद्विख्यात हैं। इसमें तीन चित्रशालायें हैं। प्रथम चित्रशाला पूर्व से पश्चिम की ओर २६५ गज़ और उत्तर से दक्षिण की ओर २२४ गज़ है। दूसरी चित्रशाला के प्रत्येक सिरे पर एक एक मीनार है। इन सब चित्रशालाओं में रामायण, महाभारत और हरिवंश पुराण के कथानक चित्रों में अंकित हैं। अधिकांश चित्र वैष्णव हैं। लेकिन कुछ शैव भी हैं। 'सिश्रोडिस' ने १६११ ई० में अङ्कोरवत



अङकोरवत् के भित्ति चित्रो मे 'मारीच मारण' का दृश्य

के तीस चित्रों का पता लगाया था।[1] उसने इन चित्रों का विभाग इस प्रकार किया है:—

(क) महाभारत का संग्राम, जिसमें अर्जुन और कृष्ण मुख्य योद्धा हैं।

(ख) रामायण की ग्यारह घटनायें।

१. धनुषयज्ञ २. विराधवध ३. मारीचमारण ४. कबन्ध की मृत्यु ५. रामसुग्रीवमैत्री ६. वालीसुग्रीवयुद्ध ७. अशोकवाटिका में हनुमान ८. रामविभीषणमैत्री ९. लङ्का में युद्ध १०. सीता की अग्नि परीक्षा ११. राम का पुष्पकविमान में लौटना।

(ग) कृष्ण के जीवन की पांच घटनायें।

१. दो कृष्ण २. गोवर्धनधारण ३. नरकासुर संग्राम ४. सामन्तकमणिहरण ५. बाणासुरयुद्ध।

(घ) पौराणिक कथानकों के चार दृश्य।

१. शेषशायी विष्णु २-३. अमृतमथन के दो दृश्य ४. देवासुरसंग्राम।

(ङ) विष्णु के चार दृश्य।[2]

(च) शिव के तीन दृश्य।

१. कामदहन २. राम का पराभव ३. एक अभी तक स्पष्टतया पता नहीं चला।

(छ) स्वर्ग तथा नरक के चित्र।

(ज) परम विष्णुलोक का वर्णन।

मन्दिर की दीवार पर बने चित्रों का यह तो एक अंशमात्र है। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से चित्र हैं। इनमें से कुछ तो स्तम्भों, छज्जों और खिड़कियों पर बने हुए हैं, और कुछ नष्ट हो चुके हैं। इन चित्रों में वासुकिसर्प, महेन्द्रपर्वत, विष्णु, देव, असुर, लक्ष्मी,

---

१. देखिये, 'बुलेटिन डे ला कमीशन आर्क्योलॉज़िक डे ला इन्डोचीने'।

२. इनका अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हुआ।

उच्चैःश्रवा, ब्रह्मा, गणेश. नटराज, किरातवेशधारी शिव का अर्जुन से संग्राम आदि सुगमता से पहिचाने जा सकते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ चित्र और हैं। यथा—

१. राम और लक्ष्मण का इन्द्रजीत् द्वारा बांधा जाना।

२. कुम्भकर्ण पर वानर सेना का आक्रमण।

३. हनुमान का द्रोणपर्वत को लाना।

४. कृष्ण का गोवर्धन उठाना, कालियदमन, कुवलयापीड़ हाथी से युद्ध और असुरों के साथ संग्राम।

५. विष्णु और असुरों का युद्ध तथा गरुड़ारूढ़ विष्णु। ये चित्र और बने हुए हैं। अङ्कोरवत् मुख्यतया वैष्णवमन्दिर है। आरम्भ में यह विष्णु का ही मन्दिर था। परन्तु पीछे से बौद्धों ने विष्णु के स्थान पर बुद्ध की मूर्त्तियां स्थापित कर दीं।

कम्बुज का पतन

कंबुज के शक्तिशाली राजाओं में अन्तिम राजा जयवर्मा सप्तम था। इसके अनन्तर कंबुज के राजाओं की कीर्त्ति म्लान होने लगी, और फिर जितने राजा सिंहासनारूढ़ हुए वे बहुत शक्तिहीन थे। तेरहवीं शताब्दी से कंबुज की राज्यशक्ति शनैः शनैः क्षीण होने लगी। इस दुर्बलता का मुख्य कारण स्याम और चम्पा के सतत आक्रमण थे। चौदहवीं शताब्दी से कम्बुज पर स्यामी लोगों के आक्रमण आरम्भ हुए। स्यामी सेनायें अङ्कोरथोम् में से लूट मचाती हुई जाने लगीं। स्यामियों के निरन्तर आक्रमणों से तंग आकर कम्बुज-निवासियों ने अङ्कोरथोम् से राजधानी ही उठाली। सोलहवीं शताब्दी में कम्बुज की राजधानी 'लोवक' बन गई। सत्रहवीं शताब्दी में योरुपीयन लोगों ने कम्बुज पर अपना अधिपत्त्य जमाना आरम्भ किया। इसी बीच में कंबुज पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने के लिये स्याम और अनाम में लड़ाई छिड़ गई। अन्ततोगत्वा स्याम विजयी हुआ। १८४६ ई० एक स्यामी राजा कंबुज का राजा बना।

इसका धर्म बौद्ध था। तब से अब तक के सब राजा बौद्ध हैं, और बौद्धधर्म को संरक्षण देते आ रहे हैं। १८८७ ई० में स्याम और फ्रांस में एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार स्याम ने कंबुज पर फ्रांस का अधिकार स्वीकृत कर लिया। फ्रैंच लोगों ने धीरे धीरे अधिकार बढ़ाते हुए कंबुजराज को अन्यथासिद्ध कर दिया। अब वहां पर एक फ्रैंच रैजिडैन्ट निवास करता है। यही वहां का वास्तविक शासक है। इसी के हाथ में सब शक्ति निहित है। राजा तो नाम को राजा है। कंबुज के निवासी बौद्ध हैं। वहां का राजा भी बौद्ध है। वर्त्तमान कंबोडिया प्राचीन कंबुज से बहुत छोटा है, क्योंकि इसके बटम्बंग और अङ्कोर प्रान्त १८८७ ई में स्याम ने ले लिये थे।

कम्बुजनिवासियों पर भारतीय प्रभाव

ऊपर कहा जा चुका है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में भारतीय प्रवासियों ने फूनान के हिन्दूराज्य की स्थापना की थी। लगभग ६०० वर्ष तक भारतीय राजा निर्बाधरूप से वहां पर शासन करते रहे। परन्तु छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय प्रभाव का मुख्य केन्द्र फूनान न रह कर कंबुज बन गया। भारतीयों और कंबुज-निवासियों में परस्पर वैवाहिक संबन्ध स्थापित होने से शनैः शनैः संपूर्ण देश भारतीय रंग में रंग गया। भारत की तरह कंबुज दरबार में भी ब्राह्मण, ज्योतिषी, गायक और मंत्री बड़ी संख्या में निवास करते थे। इससे भारत से हज़ारों मील दूर शासन करते हुए कंबुज राजाओं के लिये भी भारतीय वातारण तय्यार हो गया था। राजा राज्य के प्रधान देवता शिव की पूजा करता था। बारहवीं शताब्दी तक कंबुज में शिव की ही प्रधानता रही। शिव के अतिरिक्त अन्य देवताओं की पूजा भी होती थी। जब कोई नया नगर बसाया जाता था तो शिव अथवा किसी अन्य देवता की मूर्त्ति अवश्य प्रतिष्ठित

की जाती थी। कंबुज के राजा मूर्त्तियां और मन्दिर बनवाने के बहुत अनुरागी थे। एक भी राजा ऐसा नहीं हुआ जिसने कोई नया मन्दिर या मूर्त्ति न बनवाई हो। जयवर्मा द्वितीय के बाद के सब राजा भवननिर्माणकला में बहुत रुचि रखते थे। इनमें से इन्द्रवर्मा प्रथम, यशोवर्मा, राजेन्द्रवर्मा और सूर्यवर्मा द्वितीय के नाम उल्लेखनीय हैं। सूर्यवर्मा द्वितीय ने ही अङ्कोरवत् के सुविख्यात वैष्णवदेवालय का निर्माण कराया था, जो अपनी उत्तम कारीगरी के लिये आज भी विश्वविश्रुत है।

कंबुज पर हिन्दूसंस्कृति का इतना प्रभाव पड़ा था कि राजा, कुलीन लोग और पुरोहितों के नाम संस्कृतमय थे। वहां के राजा भारतीय राजाओं की ही तरह अपने नाम के पीछे 'वर्मा' शब्द का प्रयोग करते थे। राजा लोग ज्योतिष्, पाणिनीयव्याकरण, धर्मशास्त्र और दर्शन में पूर्ण निष्णात होते थे। विशेष अवसरों पर शास्त्रोत्सव होते थे, जिनमें स्त्रियां भी भागलेती थीं, और अपनी वक्तृत्वकला के बल पर विजयी होती थीं।[1] राजा लोग महाहोम, लक्षहोम, कोटिहोम आदि वैदिकयज्ञ करते थे।[2] वेदवेदांगों का अध्ययन होता था। छठीशताब्दी के एक लेख में रामायण, महाभारत और पुराण के अखण्डपाठ का वर्णन है। आश्रमों और धार्मिक स्थानों में राजाओं द्वारा व्याकरण पढ़ाने के लिये आचार्य नियुक्त किये जाते थे। संस्कृत पढ़ने पर बहुत बल दिया जाता था। संस्कृत में खुदे हुए लेख आज भी यह बता रहे हैं कि कंबुजनिवासियों को संस्कृत से कितना प्रेम था। अनेक पुस्तकालय थे जिनमें सब उत्तम पुस्तकों का संग्रह किया जाता था। ऐसे शिक्षणालय भी थे जिनमें स्त्रिया-

१. देखिये, Indian Cultural Influence in Cambodia, Page 237.

२. देखिये, वही पुस्तक, वही पृष्ठ।

ध्ययन के पश्चात् शिष्य लोग गुरुओं को दक्षिणा दिया करते थे।[1] भारत के प्रसिद्ध विद्वानों के साथ जो कथायें यहां प्रसिद्ध हैं वे कंबुज में भी प्रचलित थीं। पतञ्जलि को शेषनाग का अवतार समझा जाता था। कंबुज के प्राचीन इतिवृत्तों में पाणिनीय और मनु के उद्धरण भी मिलते हैं।

कंबुज में राजतंत्र शासन था। राजा लोग वंशक्रमानुगत होते थे। यदि राजा का कोई लड़का या भाई न होता था तो भागिनेय उत्तराधिकारी होता था। राजा शासन की सर्वोच्चशक्ति माना जाता था। उसकी शक्ति अक्षुण्ण थी। वह किसी शासनविधान द्वारा बंधा हुआ न था। पर उससे आशा की जाती थी कि वह स्मृत्यनुकूल शासन करेगा। कंबुज में राजा धर्म का भी मुखिया समझा जाता था। राजा लोग अपने साथ कंबुजराजेन्द्र, कंबुजेश, कंबुजभूपतीन्द्र आदि उपाधियां लगाते थे। इन्द्रवर्मा अपने को कंबुजेश्वर कहता था। हर्षवर्मा राजाधिराज और कंबुजेन्द्राधिराज कहाता था। पृथिवीन्द्रवर्मा पृथिवीपति, भववर्मा महाराजाधिराज और सूर्यवर्मा सम्राट् कहाता था। कंबुज के राजा अपना मूल किसी भारतीय वंश को मानते थे। राजा भववर्मा अपने को 'सोमवंशीय' कहता था और सूर्यवर्मा 'सूर्यवंशीय'। कुछ राजा अपने को 'कौडिन्य-वंशीय' या 'कंबुस्वयम्भव' का वंशज बतलाते थे। राजदरबार में ब्राह्मण, पुरोहित, होता, मंत्री, वैद्य, राजगुरु तथा दूसरे कर्मचारी रहते थे। इनकी सहायता से राजा राजकार्य का संचालन करता था। प्रधानमंत्री को 'राजमहामात्य' या 'प्रधानमंत्री' कहा जाता था। राजा के कुछ सेनापति भी होते थे। इनकी संख्या दस थी। मुख्य सेनापति 'महासेनापति' कहा जाता था। यह प्रायः राजा का भाई होता था।

शासनव्यवस्था

१. देखिये, Indian Cultural Influence in Combodia, Page 238. ये भारतीय 'गुरुकुलों' के नमूने प्रतीत होते हैं।

सेना के पास कई प्रकार के वाद्य रहते थे, जिनका वर्णन पीछे किया जा चुका है। मंत्रियों और सेनापतियों के अतिरिक्त राजगुरु भी राजा द्वारा नियुक्त किया जाता था। राजगुरु की दरबार में ऊंची स्थिति थी। उसे आदर की दृष्टि से देखा जाता था। राजा सूर्यवर्मा ने वागीश्वरपण्डित तथा शंकरपण्डित, दो गुरु नियुक्त किये थे। वेद, वेदाङ्ग, स्मृति और योग में पारंगत उच्चकोटी के ब्राह्मण भी दरबार में रहते थे। इनका राजा और प्रजा दोनों में बहुत आदर था।

राज्य की ओर से चिकित्सालय का भी प्रबन्ध था। जयवर्मा सप्तम के 'ता-प्रोम्' में प्राप्त लेख के ११७ वें श्लोक में लिखा है, "मेरे राज्य के भिन्न भिन्न प्रान्तों में कुल मिलाकर १०२ आरोग्यशालायें हैं।" इसी लेख के चौदहवें श्लोक में कहा है, "वैद्यों की सहायता से मैंने अपने राज्य से सब रोगों का मूलच्छेद कर दिया है।" इसी के पन्द्रहवें श्लोक से पता चलता है कि बुद्धभैषज्य के मन्दिर के चारों ओर एक चिकित्सालय बनाया गया था। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चारों जातियों के लोग अपनी चिकित्सा करवा सकते थे। इस चिकित्सालय में दो प्रकार के लोग रहा करते थे:—

(१) स्थितिदायिनः (२) स्थितिदाः

इन्हें Indoor patients और Outdoor patients कहा जा सकता है। प्रत्येक चिकित्सालय में कम से कम दो चिकित्सक, तीन परिचारक, दो भण्डारी, दो रसोइये, दो याजक, चौदह धात्रियां और आठ स्त्री परिचारिकायें रहती थीं। राज्य भर के चिकित्सालयों में काम करने वाले स्त्रीपुरुषों की संख्या ८१,६४० थी। लेख में उन दवाइयों का भी वर्णन है जो राज्य की ओर से चिकित्सालयों को दी जाती थीं। चिकित्सालय खोलने का उद्देश्य बताते हुए प्रशस्ति में इस प्रकार लिखा है:—

देहिनां देहरोगो यन्मनो रोगो रुजत्तराम् ।
राष्ट्रदुःखं हि भर्तृणां दुःखं दुखं तु नात्मनः ॥

अर्थात् भगवान् बुद्ध के लिये शरीरधारियों के शरीररोग की अपेक्षा मानसिक रोग अधिक दुःखदायी था, क्योंकि राजाओं के लिये राष्ट्र का दुःख ही दुःख होता है, अपना दुःख, दुःख नहीं होता।

विहारों में रहने वालों का पालन भी राज्य की ओर से होता था। 'ता-प्रोम्' लेख के ११७वें श्लोक में कहा गया है, "मेरे राज्य में ७९८ मन्दिर हैं। इनमें रहने वालों को १२८ सेर[1] चावल वर्ष भर में दिये जाते हैं।" इसी लेख के १२०वें श्लोक में फिर कहा गया है, "इनको खाद्यसामग्री के अतिरिक्त मोम, शहद, पिप्पली, अजवायन अखरोट, क्षार, कपूर और मछली दी जाती है।"

दण्ड-व्यवस्था

चा-ता-कान् के यात्रावृत्तान्त से ज्ञात होता है कि कम्बुज में दण्डव्यवस्था बहुत कठोर थी। वह लिखता है, "छोटी से छोटी प्रार्थना की भी राजा उपेक्षा नहीं करता है। बहुत बड़े अपराध पर अपराधी को गढ़े में पूर दिया जाता है। जिस पर चोरी का सन्देह होता है उसके हाथ खौलते हुए पानी में डाल दिये जाते हैं। समझा यह जाता है कि यदि वह निर्दोष है तो उसके हाथों को कुछ नहीं होगा, और यदि दोषी है तो हाथ जल जायेंगे।[2] यह विधि भारत की दिव्यपरीक्षान्तर्गत अग्निपरीक्षा से मिलती है।

धार्मिक दशा

यह एक स्वाभाविक बात है कि मनुष्य विदेश में भी अपने साथ अपने धर्म और रीतिरिवाजों को ले जाता है। इसी नियम के अनुसार जो व्यापारी और प्रवासी लोग भारत से कंबुज गये वे अपने धर्म और धार्मिक विश्वासों को भी साथ लेते गये। कंबुज की भूमि पर सर्वप्रथम पदार्पण करने वाला भारतीय एक ब्राह्मण

---

१. १,१७,२०० खारी।

२. देखिये, Angkor, Page 161-162.

था, जिसका नाम कौन्डिन्य था। कौन्डिन्य के सब साथी शैवधर्म को मानने वाले थे। इस प्रकार कंबुज में शैवधर्म प्रविष्ट हुआ। कालान्तर में बौद्धधर्म का आगमन भी हुआ, पर उसे वह स्थान न मिल सका जो हिन्दूधर्म को प्राप्त था।

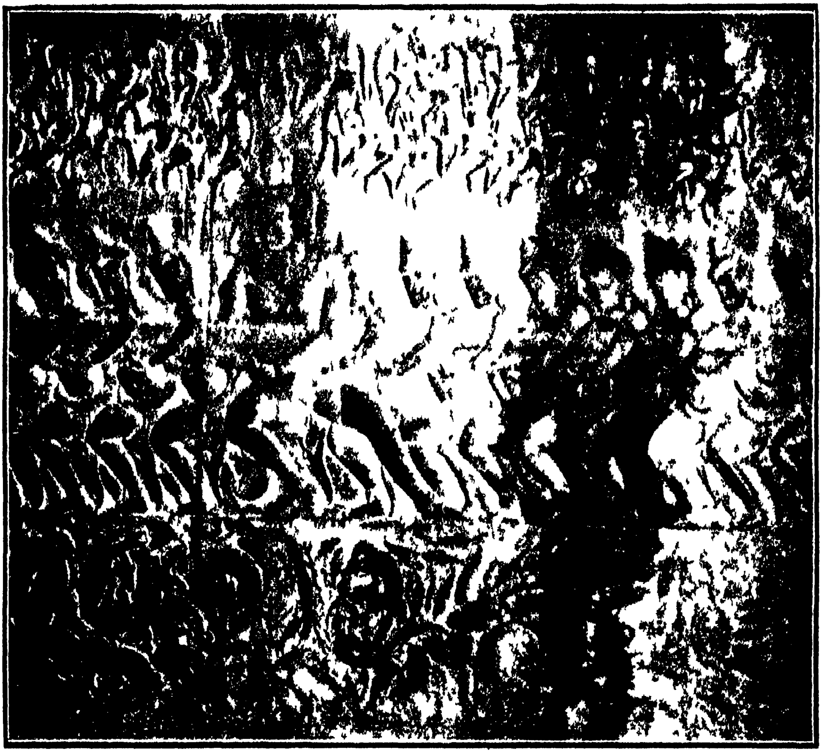
शैवधर्म

कम्बुज का प्रधान देवता शिव था। यह वहां का राष्ट्रीय देवता भी समझा जाता था। कम्बुज के सम्पूर्ण इतिहास में शिव का अद्वितीय स्थान रहा है। ब्रह्मा और विष्णु इसकी महत्ता को कभी प्राप्त न कर सके। शिव की पूजा शिव, परमेश्वर, शम्भु, त्र्यम्बक, विभु, गिरीश, जगत्पति, शंकर, हर, रुद्र, ईश, पशुपति, चण्डेश्वर, भव, त्रिपुरदहनेश्वर, शूलधर, ईश्वर, श्रीकण्ठ आदि विविध नामों से होती थी। इन नामों से यह स्पष्ट पता चलता है कि कम्बुज में शिव का मान कितना था। शिव के ये नाम उसके उसके भिन्न भिन्न गुणों के कारण थे। कम्बुजनिवासी शिव के प्रति बहुत आकृष्ट हुए थे। उन्होंने बहुत से प्राचीन देवताओं का नाम भी शिवपरक रख दिया था। शिव के कई एक ऐसे नाम भी मिलते हैं, जो कम्बुज से अन्यत्र नहीं पाये जाते। कम्बुज में शिव की पूजा शिखरेश्वर, आटकेश्वर, तथा जंगलेश्वर नाम से भी की जाती थी। ये तीनों शिव के स्थानीय नाम थे,[१] जो आरम्भ में कम्बुज के किन्हीं प्राचीन देवताओं के नाम थे, और पीछे से शिव के वाचक हो गये। कंबुज के प्राचीन लेख भी शिव की स्तुति से परिपूर्ण हैं। राजा भववर्मा के लेख में शिव की प्रशंसा इस प्रकार की गई है:—

जितमिन्दुवतंसेन मूर्ध्ना गंगा बभार यः।

एक अन्य लेख में लिखा है, 'स आदिरपि भूतानां अनादिनिधन शिवः।' कई लेख 'नमः शिवाय' 'नमःत्र्यक्षाय' 'नमः शब्दात्मने तस्मै

१. देखिये, Hinduism and Budhism, Part III, Page 113.



अङकोरवत् के भित्ति चित्रों मे 'अमृतमथन' का दृश्य

शिवाय' इन वचनों से प्रारम्भ होते हैं। कंबुज के राजाओं की शिव में ऐसी दृढ़ भक्ति थी कि वे नवीन नगरों का नाम भी शिवपरक ही रखते थे। राजा इन्द्रवर्मा ने 'शिवपुर' नगर बसाया था। शिव ही देवाधिदेव है, यह विचार भी कंबुजनिवासियों में प्रचलित था। वे इसे सब देवों में बड़ा मानते थे। देवों की सूची में इसे प्रथम स्थान प्रदान करते थे। 'अङ्-शुमनिक्' में प्राप्त लेख से पता चलता है कि ब्रह्मा और विष्णु शिव के सम्मुख हाथ जोड़े खड़े हैं।[1] 'फोनम-सन्दक्' के लेख में भी शिव को ही प्रधानता दी गई है। कवि सब से पूर्व शिव और रुद्र को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है, फिर विष्णु को, और सबसे अन्त में ब्रह्मा को। इससे कंबुज में शिव की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है।

शिव की पूजा शिवलिंग और शिवमूर्त्ति दोनों रूपों में की जाती थी। परन्तु अधिकतर लिंगपूजा ही प्रचलित थी। लिङ्ग केवल पत्थर के ही न होते थे, अपितु धातु के लिङ्ग भी बनाये जाते थे। भववर्मा ने एक सोने का लिङ्ग बनवाया था।[2] शिव और विष्णु की इकट्ठी पूजा का भी प्रचार था। भारतवर्ष में इसे 'हरिहर' पूजा कहा जाता है। ६२७ ई० में राजा ईशानवर्मा ने शिव और विष्णु की सम्मिलित मूर्त्ति बनवाई थी। इसी के समय में शिव और विष्णु के इकट्ठे लिंगों का भी निर्माण हुआ था।[3] ये घटनायें शैवों और वैष्णवों के बीच समझौते का निर्देश करती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि जब शैवों और वैष्णवों में मेल हुआ तो यह मेल इस सीमा तक पहुंच गया कि लोगों ने शिव और विष्णु की इकट्ठी मूर्त्तियां और लिंग तक बना डाले।

---

१. ब्रह्मोपेन्द्राञ्जलिः।

२. लिङ्गं हैमशोभम्।

३. देखिये, The Hindu Colony of Combodia, Page 277.

शिव के साथ उनकी पत्नी की पूजा भी होती थी। कंबुजनिवासी इसे उमा, भवानी, गौरी, पार्वती, चण्डी, रुद्राणी, वागीश्वरी आदि नामों से स्मरण करते थे। एक लेख में लिखा है, 'सा शक्तिर्भुवनेश्वरोदयकरी वागीश्वरी पातु वः।'

शिवपत्नी के अतिरिक्त शिवपाद और नन्दिवृषभ की पूजा भी प्रचलित थी। कंबुज में प्राप्त कई प्रतिमाओं पर शिव जी नन्दी बैल पर सवार हैं। शिव की 'नटराज' के रूप में भी बहुत सी मूर्त्तियां कंबुज में प्राप्त हुई हैं।

वैष्णव धर्म

कंबुजनिवासी शिव के पश्चात् दूसरा स्थान विष्णु को प्रदान करते थे। वहां शैवधर्म के साथ वैष्णवधर्म का भी प्रचार था। परन्तु वैष्णव लोगों की संख्या बहुत कम थी। विष्णु की पूजा हरि, चतुर्भुज, विष्णु, अच्युत, नारायण, उपेन्द्र, केशव, मुरारि आदि नामों से की जाती थी। एक प्राचीन लेख में विष्णु का वर्णन इन शब्दों में किया गया है:—

नमो मुरारये ज्यायः स्ववीर्यं दर्शयन्निव।
स्वर्वासिवैरिणो दैत्यान् स्त्रीरूपेण जघान यः॥

कंबुज में विष्णु की नाना प्रकार की मूर्त्तियां उपलब्ध हुई हैं। एक में ये गरुड़ पर बैठे हुए हैं। इनके सिर पर मुकुट है और हाथ में कमलफूल। किसी में ये नरसिंह के रूप में हैं और किसी में अनन्तनाग पर लेटे हुए हैं। भारतवर्ष में विष्णु की जो मूर्त्तियां मिलती हैं उनमें इनका एक सिर और चार हाथ हैं, लेकिन बैंङ्-काक[1] के संग्रहालय में विष्णु की एक पित्तल-प्रतिमा विद्यमान है, इसमें इनके दस हाथ हैं।[2]

१. स्यामी लोग इसे 'कुङ्देव' कहते हैं। कुङ् = नगर। इसलिये कुङ्देव = नगरदेव।

२. देखिये, The Hindu Colony of Combodia, Page 281.

अन्य देवीदेवता

भारतवर्ष में ब्रह्मा जी की पूजा बहुत कम है। सारे भारत में दोचार ही गिने चुने मन्दिर हैं जिनमें ब्रह्मा जी की मूर्त्ति है। ब्रह्मा की पूजा यहां उस रूप में कभी नहीं की गई जिस रूप में शिव आदि अन्य देवताओं की होती रही है। भारत की तरह कंबुज में भी ब्रह्मा की पूजा बहुत कम होती थी। वहां के निवासी ब्रह्मा को धाता, प्रजापति, चतुर्मुख और ब्रह्मा— इन चार नामों से स्मरण करते थे। यह समझा जाता था कि धातारूप में ये संसार को उत्पन्न करते हैं, और प्रजापति होकर संसार की रक्षा करते हैं। इनका नाम चतुर्मुख है, क्योंकि ये चार मुख वाले हैं। ये अज हैं क्योंकि कभी पैदा नहीं होते। ब्रह्मा की पूजा

कंबुज में ब्रह्मा जी की जो मूर्त्तियां मिली हैं उनमें ये विष्णु की नाभि से निकले हुए कमल पर बैठे हैं। एक मूर्त्ति में ये हंस पर सवार हैं। साधारणतया इनके चार हाथ और चार मुख हैं, परन्तु एक मूर्त्ति में पांच हाथ भी हैं। ब्रह्मा जी की मूर्त्तियां केवल हिन्दू-अवशेषों में ही नहीं, प्रत्युत बौद्ध-अवशेषों में भी प्राप्त हुई हैं। बैङ्काक के संग्रहालय में महात्मा बुद्ध के जन्मसमय के चित्रों में ब्रह्मा जी भी खड़े हैं।

शिव, विष्णु और ब्रह्मा के अतिरिक्त इन्द्र, उमा, सरस्वती, वागीश्वरी, गंगा, श्री, चण्डी, गणेश, लक्ष्मी आदि की उपासना भी कंबुजनिवासियों में प्रचलित थी। अन्य देवीदेवता

कंबुज के एक लेख में रुद्राणी, भवानी, शर्वाणी, लक्ष्मी, गौरी, दुर्गा और श्री का वर्णन आता है। इन देवियों की पूजा के लिये पत्थरों के मन्दिर बने हुए थे।[1] कंबुज के इतिहास से ज्ञात होता है कि

१. देखिये, 'प्राह-वत्' में प्राप्त लेख। 'शिलामये वेश्मनि'।

राजा यशोवर्मा ने 'शर्वाणी' की चार मूर्त्तियां स्थापित करवाई थीं। ये मूर्त्तियां उसने स्वयं बनाई थीं।[1]

'वत्-लङ्' में एक शिला मिली है। इस पर हिन्दुओं के नौ देवताओं की मूर्त्तियां हैं। सबसे प्रथम सूर्य है, यह सात घोड़ों द्वारा खींचे जा रहे रथ पर सवार है।[2] दूसरा अग्नि है। तीसरा यम है, यह भैंसे पर चढ़ा हुआ है। चौथा हंसारूढ़ ब्रह्मा है। पांचवां हस्त्यारोही इन्द्र है। छठे और सातवें क्रमशः भैंस और हाथी पर सवार हैं। आठवां वायु और नवां वरुण है जो राक्षस पर बैठा हुआ है।

बौद्धधर्म

शैव और वैष्णव संप्रदायों के साथ साथ महात्मा बुद्ध की शिक्षायें भी कंबुज में फैल रही थीं। हिन्दूधर्म मैदान में सबसे पहले आया, इस लिये इसने शीघ्र ही अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। जब बौद्ध प्रचारक प्रचारक्षेत्र में प्रकट हुए तब हिन्दूधर्म की जड़ें दृढ़ हो चुकी थीं। कंबुज में बौद्धधर्म की जो लहर आई वह हीनयान शाखा की थी। सप्तम शताब्दी के आरंभ के एक लेख से पता चलता है कि 'पूर्ण-प्रज्ञा-चन्द्र' कुछ दासदासियों को बुद्ध की शरण में लाया। ६६५ ई० के एक अन्य बौद्धलेख से विदित होता है कि जयवर्मा प्रथम के राज्य में रत्नभानु और रत्नसिंह नामक दो भिक्षु निवास करते थे। कंबुज जाने वाले भिक्षुओं में ये सबसे प्रथम थे। दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक कंबुज में बौद्धधर्म ने बहुत उन्नति की। इस समय राजाओं से भी बढ़ कर मंत्रियों ने बौद्धधर्म को अपनाया। सत्यवर्मा कवीन्द्रारिमथन और कीर्त्तिपण्डित

---

१. 'स्वशिल्परचित'।

२. इसे वेद में इस प्रकार कहा गया है—'सप्त युञ्जन्तिरथमेकचक्रम्'। सूर्य का नाम 'सप्तसप्ति' भी इसी से है।

इन दो मंत्रियों ने बौद्धधर्म को प्रोत्साहन दिया। कुछ ऐसे राजा भी थे, जो हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों में भक्ति रखते थे, और दोनों को दान देते थे। राजा यशोवर्मा ने ब्राह्मणाश्रम की तरह एक बौद्धविहार भी बनवाया था। राजेन्द्रवर्मा का मंत्री सत्यवर्मा कवीन्द्रारिमथन बौद्धधर्म में अगाध श्रद्धा रखता था। यह कम्बुज के बौद्धों का नेता समझा जाता था। इसने बुद्ध की कई मूर्त्तियां स्थापित की थीं। महायान सम्प्रदाय के अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रज्ञा-पारमिता' की एक प्रतिमा बनवाई थी। तदनन्तर जयवर्मा पञ्चम के समय कीर्त्तिपण्डित ने बौद्धधर्म के प्रचार में हाथ बंटाया। 'स्रे-सैंथर' के लेख में लिखा है, "इस समय बुद्ध की शिक्षायें इस प्रकार शुद्धरूप में प्रकट हुई जिस प्रकार अन्धकार को नष्टकर सूर्य उदित होता है, अथवा जिस प्रकार काले मेघों में से चन्द्रमा प्रकाशित होता है।" इस समय बौद्धधर्म का सितारा चढ़ती पर था। कीर्त्तिपण्डित ने विदेशों से कई बौद्धग्रन्थ भी अपने यहां मंगाये थे। भारतीय बौद्धपण्डित वसुबन्धु के कुछ शिष्य माध्यमिक सम्प्रदाय को भी कम्बुज ले गये। 'तत्त्वसंग्रह' का भी प्रचार हुआ।[1] ११८५ ई० में जयवर्मा के समय बौद्धधर्म राजकीयधर्म बन गया। इस बीच में हिन्दूधर्म नष्ट नहीं हुआ। हिन्दू देवीदेवताओं की पूजा जारी रही। 'फीमानक्स' के अवशेषों में एक लेख मिला है। इसमें शिव, ब्रह्मा और बुद्ध—तीनों का एक साथ उल्लेख है।[2] यह अद्भुत मिश्रण दोनों धर्मों के समन्वय की ओर निर्देश करता है। इसी स्थान पर संस्कृत और ख्मेर—दोनों भाषाओं में लिखा एक लेख और मिला है।

---

१. देखिये, Hinduism and Budhism, Part III, Page 123.

२. देखिये, हनोई से प्रकाशित 'Far East France' पत्रिका का नवां अध्याय, सन् १९१८

इसमें लिखा है, "हे पवित्र बोधिद्रुम ! तेरी जड़ें ब्रह्मा जी हैं, तेरा तना शिव जी हैं और तेरी शाखायें विष्णु जी हैं। तुझ पर कभी बिजली न गिरे, तुझे कोई कुठार काट न सके।"

१२९६ ई० में चा-ता-कान् नामक एक चीनी यात्री कम्बुज पहुंचा था। इसने वहां के विविध धर्मों का वर्णन इस प्रकार किया है।[1]

"पढ़ेलिखों को पण्डित कहा जाता है। इनके अतिरिक्त भिक्षु और पाशुपत हैं। मैं नहीं जानता पण्डित लोग किस की पूजा करते हैं, और कौनसी पुस्तकें पढ़ते हैं ? इनका दूसरों से यही भेद है कि ये गले में सफेद धागा पहनते हैं।[2] समाज में इनकी स्थिति ऊंची समझी जाती है।"

"भिक्षु लोग सिर मुंडाते हैं और पीले कपड़े पहनते हैं। ये अपना दायां कन्धा नंगा रखते हैं। नंगे पैर चलते हैं। इनके मन्दिरों की छतें खपरैल की हैं। मन्दिरों में केवल एक ही मूर्त्ति है, और वह महात्मा बुद्ध की है। इनके पूजास्थलों में घन्टे, झन्डे, नगाड़े आदि कुछ भी नहीं है। ये दिन में केवल एक वार भोजन करते हैं। मछली और मांस तो खाते हैं, पर शराब नहीं पीते। बुद्ध के लिये भी मांस की भेंट देते हैं। ये लोग ताड़पत्रों पर लिखी हुई कुछ पुस्तकों का भी पाठ करते हैं। यहां पर बौद्ध भिक्षुकियां बिल्कुल नहीं हैं।"

"पाशुपत लोग साधारण मनुष्यों जैसे कपड़े पहनते हैं। इनका दूसरों से भेद यह है कि ये सिर पर लाल या श्वेत वस्त्र रखते हैं, जैसा कि तातार स्त्रियां रखती हैं। इनके देवालय बौद्धदेवालयों से छोटे हैं, क्योंकि पाशुपतधर्म का प्रभाव कुछ कम है। यहां पाशुपत परिव्राजिकायें भी हैं। ये लोग न तो जनता के सामने ही भोजन

१. देखिये, The Hindu Colony of Combodia, Page 300-302.

२. सफेद धागे से अभिप्राय यज्ञोपवीत प्रतीत होता है।

करते हैं और न किसी दूसरे के हाथ का ही खाते हैं। ये शराब भी नहीं पीते।"

हिन्दचीन के प्रदेशों में हिन्दुओं के सबसे अधिक ध्वंसावशेष कंबुज में पाये जाते हैं। समस्त देश मन्दिरों, महलों और मूर्त्तियों से भरा पड़ा है। कंबुज के मन्दिरों में दक्षिणभारत की कला स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। मन्दिरों का मुख पूर्व की ओर है। यहां एक अन्य प्रकार के मन्दिर भी मिलते हैं। इन्हें 'प्रङ्' कहा जाता है। ये ऊंचे, त्रिकोण और पिरामिड आकार के हैं। इस तरह के मन्दिर प्रसत्-बङ्, प्रह्-दमरी और प्रसस्-थोम् में प्राप्त हुए हैं। कई मन्दिरों के चारों ओर चारदिवारी है। ऐसी प्राकारवेष्टनी भारत में साँची, बरहुत आदि स्थानों में प्राप्त हुई है। साँची और कंबुज की वेष्टनी में भेद केवल इतना है कि साँची की वेष्टनी का द्वार प्रस्तरमय है और उस पर सुन्दर पच्चीकारी की हुई है, किन्तु कंबुज की चारदिवारी का द्वार लकड़ी का है और उस पर पच्चीकारी नहीं है। मंदिरव्यवस्था

मंदिरों में प्रत्येक मनुष्य नहीं जा सकता था। मन्दिरप्रवेश पर कठोर नियंत्रण था। यशोवर्मा के लेखों से पता चलता है कि केवल वही स्त्रीपुरुष मन्दिर में प्रविष्ट हो सकते थे जो पूजा या उपहार देने आते थे। यदि कोई उपहार में कुछ नहीं चढ़ाना चाहता था, लेकिन आता बड़ी श्रद्धा से था, तो उसे भेंट में केवल एक फूल के साथ ही अन्दर जाने की आज्ञा मिल जाती थी।"[१] अधोलिखित व्यक्ति किसी भी दशा में मन्दिर में प्रविष्ट न हो सकते थे:—

(१) छिन्नाङ्ग—जिसके शरीर का कोई हिस्सा न हो। लंगड़ा, लूला आदि।

१ देखिये, The Hindu Colony of Cambodia, Page 151

(२) विकृताङ्ग—जिसका कोई अंग खराब हो। अंधा, बहरा आदि।

(३) कृतघ्नी—जो दूसरे के उपकार को न मानता हो।

(४) कुब्ज—कुबड़ा।

(५) वामन—बौना।

(६) महापातकी—बहुत या बड़े बड़े पाप करने वाला।

(७) अपर—अपरिचित।

(८) कुष्ठादिमहाव्याधिपीड़ित—कोढ़ आदि पाप रोग से सताया हुआ।

(९) पीड़िताङ्ग—रोगी।

कंबुज के एक प्राचीन लेख में मन्दिर में रहने वाले कर्मचारियों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं[१]:—

(१) नट—नाचने वाले।

(२) वाद्य उपकरणों को बजाने वाली स्त्रियां।

(३) ग्राम का मुखिया।

(४) सोनाचाँदी के उपहारों के रक्षक।

(५) मालाकार—मालायें बनाने वाला।

(६) छत्रधार—छत्र पकड़ने वाला।

(७) पवित्र अग्नि का रक्षक।

(८) द्वारपाल—द्वार का रक्षक।

(९) परिहार—मंदिरप्रवेश के अनधिकारियों कोरोकने वाला।

(१०) पाकशालाध्यक्ष।

(११) पत्रकार—पत्रव्यवहार करने वाला।

(१२) गन्धर्व—गायक।

---

१. देखिये, पेरिस से १८८३ में प्रकाशित 'Journal of Asia' पत्रिका के ऐप्रिल और जून मास के अङ्कों के क्रमशः पृष्ठ ४७२ और ४७४

(१३) तुरी बजाने वाले।

(१४) पवित्र मंदिर का अध्यक्ष।

(१५) मंत्रोच्चारक।

पूजा के लिये मंदिरों में पुरोहित रहते थे। इन्हें प्राय: राजा नियुक्त करता था। राजा सूर्यवर्मा ने शैवाचार्य के वंश को होता पद पर नियुक्त किया था। जयवर्मा सप्तम के लेख में मूर्त्ति पर प्रतिदिन दी जाने वाली भेंट का वर्णन इस प्रकार किया गया है[1]:—

तिला एकादश प्रस्था द्रोणौ द्वौ कुडवावपि।
द्वौ द्रोणौ कुडवौ मुद्गा: कंकुप्रस्थाश्चतुर्दश॥
घृतं घटी त्रिकुडवं दधि क्षीरमधूनि तु।
अधिकान्येकदशस्तस्मात् सप्तप्रस्थैर्गुड: पुन:॥

अर्थात्, तिल=११ प्रस्थ, २ द्रोण, २ कुडव।
मूंग=२ द्रोण, २ कुडव।
कंगनी=१४ प्रस्थ।
घी=१ घन्टी, ३ कुडव।
दही, दूध और शहद प्रत्येक ७ प्रस्थ।

वर्त्तमान समय में कम्बोडियानिवासी विविध श्रेणियों में बंटे हुए हैं। परन्तु प्राचीन समय में वहां भारतीय वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था प्रचलित थी। वर्णन मिलता है कि जयवर्मा पञ्चम ने चारों वर्णों और आश्रमों के बीच व्यवस्था कायम की थी। तदनन्तर १००२ ई० में सूर्यवर्मा ने फिर से वर्णविभाग किया, और शैवाचार्य को ब्राह्मणवर्ण का मुखिया बनाया। चा-ता-कान् ने कंबुज की सामाजिक दशा का चित्र इस प्रकार खींचा है:—"इस देश में ऐसे लोग भी रहते हैं जो ज्योतिषशास्त्र को समझते हैं, और सामाजिक अवस्था

१. देखिये, हनोई से प्रकाशित 'Far East France' पत्रिका के तृतीयाध्याय का पृष्ठ ७५

चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण की तिथि बता सकते हैं। यह बात स्त्रियां तक बता सकती हैं। यहां बारह वर्ष का चक्र चलता है। प्रत्येक वर्ष का नाम पशुपरक है।[1] लोग स्नान बहुत करते हैं। इस कारण अधिक रोगी होते हैं।[2]

त्यौहार

'ता-प्रोम्' में प्राप्त लेख के तिरासी से नवासी तक के श्लोकों में कुछ त्यौहारों का वर्णन किया गया है। इनके अनुसार एक त्यौहार अष्टमी से लेकर पूर्णिमा तक मनाया जाता था। इस समय दो यज्ञ किये जाते थे। उनका विश्वास था कि चतुर्दशी को भगवान् भगवती के साथ तीन बार परिक्रमा करते हैं और पूर्णिमा की रात को वीर, शक्ति आदि देवों के साथ पुनः प्रदक्षिणा करते हैं।[3] इन दिनों सर्वत्र नट और नर्त्तकियां नाचती थीं, ब्राह्मणों और देवों को उपहार दिये जाते थे और मनुष्य सद्गुणों को धारण करते थे।

यज्ञ

यज्ञों का भी वहां प्रचार था। राजा लोग महाहोम, लक्षहोम और कोटिहोम करते थे। चा-ता-कान् के विवरण में लिखा है कि इन्हें ऐसा विश्वास है कि यदि यज्ञ न किये जायेंगे तो फसलें नहीं पकेंगी और सब पशु मर जायेंगे।

मृतकसंस्कार

कंबुज में मृतकसंस्कार की तीन विधियां प्रचलित थीं। शव को या तो पहाड़ के किनारे पशुओं और पक्षियों द्वारा खाने के लिये छोड़ दिया जाता था अथवा हिन्दुओं की तरह जलाया जाता था या पृथ्वी में गाड़ दिया जाता था।[4] किसी व्यक्ति के मरने पर उसके संबन्धी सात दिन तक शोक मनाते थे। इस बीच में वे भोजन नहीं करते थे और न शृङ्गार करते थे। मृतपुरुष के सम्बन्धी

१. हिन्दुओं के तिथिक्रम में सूर्य की राशियों के नाम पशुपरक हैं।

२. देखिये, Indian Cultural Influence in Combodia, Page 232.

३. देखिये, Indian Cultural Influence in Combodia, Page 230-31.

४. देखिये, Indian Cultural Influence in Combodia, Page 25.

बाजे गाजे के साथ शव का जलूस निकालते थे। शव लकड़ी की अर्थी पर रख कर जला दिया जाता था। राख को सोने या चाँदी के बर्त्तन में डाल कर किसी नदी के बीच फेंक दिया जाता था। गरीब लोग सोने के स्थान पर मिट्टी के रंगीन बर्त्तनों का प्रयोग करते थे।

भारतीय साहित्य

ज्यों ज्यों कम्बुज में हिन्दूधर्म फैलता गया त्यों त्यों हिन्दूसाहित्य का भी प्रचार होता गया। प्राचीन लेखों में स्थान स्थान पर भारतीय साहित्य की ओर निर्देश पाये जाते हैं। 'प्रे-इन्कोसि' के लेख में लिखा है कि राजगुरु भट्टदिवाकर कालिन्दी के किनारे से आया है, जहां ब्राह्मण लोग ऋक्, यजु और साम के मंत्रों से यज्ञ करते हैं। 'लोवक्' में प्राप्त लेख में अथर्ववेद का वर्णन है। वहां ब्राह्मण सोमशरण के विषय में 'सामवेदविदग्रणीः' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि यह सामवेद का ज्ञाता था। इसी लेख में लिखा है कि इसने विष्णुमन्दिर को रामायण, महाभारत और पुराण अर्पित किये थे। रामायण और महाभारत का तो कंबुज में बहुत ही प्रचार था। एक लेख में भीष्म, अर्जुन और भीमसेन का उल्लेख है।[1] राजमंत्री का वर्णन करते हुए वसिष्ठ के साथ उसकी तुलना की गई है। एक अन्य लेख में शिशुपाल, कृष्ण, द्रौपदी और युधिष्ठिर का भी वर्णन है। एक जगह लिखा है, 'वेदान्तज्ञानसारैः, स्मृतिपथनिरतैः, अष्टाङ्गयोग-प्रकटितकरणैः, चतुर्वेदविज्ञातैः' इससे चारों वेद, वेदान्त, स्मृति और अष्टाङ्गयोग की सूचना मिलती है। वैशेषिक दर्शन और न्याय दर्शन से भी कंबुजनिवासी परिचित थे। शङ्कर पण्डित को पतञ्जलि ने हजार मुखों से महाभाष्य का ज्ञान दिया था। 'प्रे-इन्कोसी' के लेख में मनु के विचार इन शब्दों में उद्धृत हैं:—

क्रूराः शठातिलुब्धा ये परधर्मविलोपकाः।
ते यान्ति पितृभिः सार्धं नरकं मनुरब्रवीत्॥

१. देखिये, The Hindu Colony of Combodia, Page 310.

विर्त्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थनानि गरीयो यद् यदुत्तरम् ॥
आचार्यवद् गृहस्थोऽपि माननीयो बहुश्रुतः ।
अभ्यागतगुणानां च परा विध्यति मानवम् ॥

ये श्लोक मनुसंहिता में इसी रूप में पाये जाते हैं। इससे यही परिणाम निकलता है कि मनुसंहिता से वे बहुत अच्छी तरह परिचित थे। अङ्कोरवत् के लेख में 'शैवव्याकरणम्' इस नाम से एक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। यह किंवदन्ती भारत की तरह यहां भी प्रसिद्ध है कि शिव जी के डमरू बजाते ही व्याकरण के शिवसूत्र प्रकट हो गये। राजा यशोवर्मा के विषय में कहा गया है कि वह सुश्रुत, शिल्प, भाषा, लिपि, नृत्य, गीत तथा अन्य विज्ञानों का पण्डित था। कंबुज में यह कथानक भी प्रचलित है कि ब्रह्मदत्त और ब्रह्मसिंह धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के विद्वान् थे।[1] कुछ राजा तंत्रशास्त्र में भी रुचि रखते थे। उदयादित्यवर्मा द्वितीय ने राज्याभिषेक के अनन्तर तंत्रशास्त्र के अनुसार महोत्सवपूजा की थी। इस प्रकार कंबुजनिवासी चारों वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, अष्टाङ्गयोग, मनुस्मृति, पातञ्जलभाष्य, ज्योतिषशास्त्र, शैवशास्त्र, सुश्रुत, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, तंत्रशास्त्र और पाणिनीय व्याकरण से पूर्णतया परिचित थे। कंबुज का प्राचीन धर्म हिन्दूधर्म था। परन्तु प्राचीन राजाओं के पतन के साथ साथ हिन्दूधर्म का भी ह्रास हो गया। जब स्याम ने कंबुज को जीत लिया तो वहां बौद्धधर्म का प्रसार हुआ। इस काल में बहुत सा पाली साहित्य भी कंबुज में प्रविष्ट हुआ।

---

१. देखिये, The Hindu Colony of Cambodia, Page 310

भाषा

कंबुज की ख्मेर भाषा, 'मॉंख्मेर' भाषापरिवार के अन्तर्गत है। ख्मेर भाषा में संस्कृत शब्द बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। एमोनिअर का कथन है कि ख्मेर भाषा में संस्कृत शब्दों का इतना आधिक्य है कि इनका एक विस्तृत कोष ही तय्यार किया जा सकता है। ख्मेर वर्णमाला दक्षिणभारत की पल्लव और चालूक्य वर्णमाला से ली गई प्रतीत होती है। यहां कुछ एक ऐसे नियम दिये जाते हैं जिनसे संस्कृत शब्द ख्मेर और ख्मेर शब्द संस्कृत बनाये जा सकते हैं:—

संस्कृत के ग, त, द, प, ब, श, ज, ख्मेर में क्रमशः क, द, त, ब, प, स, स, हो जाते हैं। नीचे कुछ संस्कृत शब्दों के ख्मेर रूप दिये जाते हैं:—

संस्कृत— देवता, पुरुष, शासन, शून्य, गरुड़, दश।

ख्मेर— तेवदा, बरोस, सासना, सुन, करुत, तस।

धर्म, भाषा और रीतिरिवाज की तरह कंबुज के राजकीय नियमों पर भी भारतीय संस्कृति की गहरी छाप अब तक दिखाई देती है। अब भी वहां दीवानी और फौजदारी कानून मनुस्मृति के आठवें और नवें अध्याय पर आश्रित हैं।[1] परन्तु यह व्यवस्था बौद्धधर्म के प्रभाव से कुछ बदल सी गई है। कंबुज पर भारतीय संस्कृति का असर इतना प्रबल था कि ९०३ ई० का एक अरब यात्री लिखता है, "कंबुज भारत का ही हिस्सा है। वहां के निवासी भारत से सम्बन्ध रखते हैं।" ९४३ ई० में 'मसुही' लिखता है, "भारत बहुत विस्तृत देश है। भारत की ही एक जाति बहुत दूर कंबुज में बसती है।"

१ देखिये, Indian Cultural Influence in Cambodia, Page 231

नवम-संक्रान्ति

चम्पा के उपवन में-

नवम-संक्रान्ति

चम्पा के उपवन में—

हिन्दूराज्य का शिलान्यास

हिन्दूराज्य का शिलान्यास—गंगाराज के वंशज—पाण्डुरंग के वंशज भृगुवंशीय राजा—चम्पा पर अनामियों के आक्रमण—हरिवर्मा के उत्तराधिकारी—चम्पा और कंबुज में परस्पर संघर्ष—चम्पा का अनामरूप में परिवर्त्तन—चम्पा की संस्कृति पर भारतीय प्रभाव—राजा और उसकी शासन प्रणाली—चम्पा का धर्म—शैवधर्म—वैष्णवधर्म—ब्रह्मा तथा अन्य देवी देवता—बौद्धधर्म—सामाजिक संगठन—वैवाहिक संबन्ध—त्यौहार—मृतक संस्कार—साहित्य—भवननिर्माणकला—उपसंहार।

जिस समय फूनान का हिन्दूराज्य विकासोन्मुख था, लगभग उसी समय चम्पा में भी एक अन्य हिन्दू राजा अंकुरित हो रहा था। इस राज्य की स्थापना कब और किस प्रकार हुई, इस सम्बन्ध में इतिहास अभी तक मौन है। तथापि यह निश्चित है कि दूसरी शताब्दी तक भारतीय लोग चम्पा में बस चुके थे। 'वोचह्न' पर्वत पर १९२ ई० का एकशिलालेख उपलब्ध हुआ है। यह श्रीमार की ओर निर्देश करता है। चम्पा में प्राप्त लेखों में यह सबसे प्राचीन है। इससे पता चलता है कि इस समय तक निश्चितरूप से चम्पा में हिन्दूराज्य स्थापित हो चुका था। इसका संस्थापक श्रीमार था।

हिन्दूराज्य से पूर्व चम्पा में दो प्रकार के लोग आबाद थे। चम और जंगली। जंगली लोगों को चम लोग 'म्लेच्छ' कहते थे।

चम लोग रंग में काले थे, परन्तु काले रंग को घृणा की दृष्टि से न देख कर आदरास्पद समझते थे। इनकी आँखें अन्दर धंसी हुई थीं। नाक चपटी थी। बाल घुंघरीले थे। ये सफाई की ओर बहुत ध्यान देते थे। दिन में कई बार स्नान करते थे। कानों में छल्ले पहनते थे। शरीर पर भभूत रमाते थे और पैर नंगे रखते थे। हिन्दुओं के सम्पर्क में आकर चम लोगों ने भारतीय धर्म, भाषा और रीतिरिवाजों को अपना लिया। इस प्रकार हिन्दचीन में फूनान के पड़ोस में ही एक अन्य शक्तिशाली हिन्दूराज्य का शिलान्यास हुआ।

चम्पा के हिन्दू राजाओं का प्रारम्भिक इतिहास अज्ञात है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि 'हॉन' वंश की शक्ति ढीली पड़ने पर चम्पा में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना हुई। श्रीमार इसका प्रथम सम्राट् था। इससे एक नवीन वंश की स्थापना हुई, जिसका वोचह्न पर्वत के लेख में वर्णन है।

३८० ई० में भद्रवर्मा[१] सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके कई लेख मिले हैं. जिन्हें पढ़ने से पता चलता है कि इसका पूरा नाम धर्मराज श्री भद्रवर्मा था। यह चम्पा के प्राचीन राजाओं में सबसे अधिक शक्तिशाली था। अमरावती, विजय और पाण्डुरंग प्रदेश का यह शासक था। इसने 'मीसन' में एक शिवमन्दिर बनवाया था, जिसका नाम भद्रेश्वरस्वामी था। यही मन्दिर आगे चलकर चम्पा का राष्ट्रीय तीर्थस्थान बन गया। भद्रवर्मा केवल योग्य शासक ही न था, वह विद्वान् भी बहुत था। इसके लेखों से ज्ञात होता है कि

१ यद्यपि प्रायः भद्रवर्मन् ही लिखा और बोला जाता है, लेकिन शुद्धरूप भद्रवर्मा है। क्योंकि संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार 'नलोपः प्रातिपदिकस्य' सूत्र से न का लोप होकर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से दीर्घ हो जाता है। ऐसा ही इन्द्रवर्मा, भूपतिवर्मा आदि स्थानों में समझना चाहिये।

यह चारों वेदों का पूर्ण पण्डित था। इसका उत्तराधिकारी गंगाराज था। 'मीसन' में प्राप्त प्रकाशधर्मा के लेख से ज्ञात होता है कि गंगाराज अपने अन्तिम दिन गंगा के किनारे व्यतीत करने के लिये राज्य छोड़कर भारत चला आया था।[1] गंगाराज के भारत चले आने पर चम्पा में अव्यवस्था मच गई। ४२० ई० यङ्-मे ने इस अशान्ति का नाश कर दिया। ४३१ ई० में जल और थल दोनों ओर से चीन पर आक्रमण किया गया। चीनी सेनाओं को भारी क्षति उठा कर वापिस लौटना पड़ा। लेकिन ४४६ ई० में चीनी सेनाओं ने बहुत तय्यारी के साथ चम्पा पर आक्रमण किया। चम सेनापति मार दिया गया और पन्द्रह वर्ष की आयु से ऊपर के सब मनुष्य कत्ल कर दिये गये। बहुत सा सोना, चाँदी और बहुमूल्य वस्तुएं चीनी लोगों के हाथ लगीं। तदनन्तर चीनी सेनाओं की यङ्-मे से मुठभेड़ हुई। यङ्-मे की सेनाओं के आगे हाथी खड़े थे, जिन्हें देख चीनी लोग डर गये, पर शीघ्र ही उन्होंने एक उपाय सोचा। कागज और बांस की सहायता से शेरों की मूर्त्तियां बनाकर हाथियों के आगे खड़ी कर दी गई। हाथी डर कर भाग खड़े हुए। इस गड़बड़ के मचते ही सारी सेना के पांव उखड़ गये। यङ्-मे अपने लड़के के साथ रणक्षेत्र से भाग गया। अब चीनी सेनायें चंपा की राजधानी चंपापुर में प्रविष्ट हुई। राजधानी में जहां तहां मन्दिर खड़े थे जो सोने, चाँदी की सैकड़ों मूर्त्तियों से भरपूर थे। मन्दिरों की सब मूर्त्तियां गला दी गई। इस प्रकार एक लाख पौण्ड सोना चीनियों के हाथ लगा। चीनी सेनाओं के चले जाने पर यङ्-मे नगर में आया और राजधानी की दुर्दशा देख कर भग्नहृदय परलोक सिधारा।

---

१. गंगाराज इति श्रुतो नृपगुणप्रख्यातवीर्यश्रुतिः।
राज्यं दुस्त्यजं··· ··· ···प्रग्रहे ॥
गंगादर्शनजं सुखं महदिति प्रायादतो जाह्नवीम् ॥

गंगाराज के वंशज

५२६ ई० में श्री रुद्रवर्मा राजा बना। 'मीसन' के लेख से पता चलता है कि रुद्रवर्मा गंगाराज के वंशज का था। यहीं पर शंभुवर्मा का भी एक लेख मिला है। इसके अनुसार रुद्रवर्मा ब्राह्मण-क्षत्रिय वंश का था। इसके समय भद्रेश्वरस्वामी का मन्दिर आग लगने से जल गया था।[1] रुद्रवर्मा के अनन्तर प्रकाशधर्म राजा बना। सिंहासनारुढ़ होते समय इसने अपना नाम शंभुवर्मा रख लिया। इसने भद्रेश्वरस्वामी का मन्दिर पुनः बनवाया और उसका नाम शम्भुभद्रेश्वर रक्खा। शंभुवर्मा के पश्चात् कई एक राजा और हुए, फिर प्रकाशधर्मा सिंहासनारूढ़ हुआ। राज्यभिषेक के समय इसने अपना नाम विक्रान्तवर्मा रक्खा। विष्णु, शिव और कुबेर के मंदिर बनवाये। इसके लेखों में इसके अतुल वैभव और महान् पराक्रम का वर्णन है। एक लेख में विक्रान्तवर्मा का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

अच्छेद्याभेद्य आद्यः क्षतमिहसकलप्रशयप्राश्रितानाम् ।
ईशानो यत्क्षताङ्गस्स्वयमवदत् सद्भिराख्येयमेतत् ।
ईशानस्याष्टमूर्तिः क्षतमभिलषितं रूप्यकोशेन्दुनादः ।
राजा विक्रान्तवर्मा जयति बहुमतश्चछादयित्वैवनान्यम् ।

७५७ ई० में गंगाराज से प्रारम्भ हुए इस वंश की समाप्ति हो गई।

पांडुरंग के वंशज

अब चम्पा का राज्य एक नये वंश के हाथ में चला गया। इस नवीन वंश का संस्थापक पृथिवीन्द्रवर्मा था। एक लेख में पृथिवीन्द्रवर्मा के विषय में लिखा है,

१. देखिये, Myson stelae Inscription of Sambhuverman.
"तस्मिन् ब्राह्मणक्षत्रियकुलतिलके श्री रुद्रवर्मणि ...... उत्तरेषु चतुर्षु वर्षशतेषु शकानां व्यतीतेष्वग्निदग्धं देवदेवालयम् ।"

श्रीमान्नरेन्द्रः पृथिवीन्द्रवर्मा ख्यातस्स्ववंशे जगति प्रभावैः ।
अस्तीति लोके स भुनक्ति भूमिं शक्त्या च निर्जित्यरिपून्हिसर्वान् ॥[1]

इससे स्पष्ट है कि इसने अपने पराक्रम से चम्पा को जीता था। इसी लेख में आगे चलकर लिखा है, 'न्यहनत् तस्करान् सर्वान् तमो भानुरिव प्रभुः।' इससे प्रतीत होता है कि इसने चोरों का दमन कर अव्यवस्था को भी दूर किया था। पृथिवीन्द्रवर्मा के पश्चात् सत्यवर्मा राजा बना। इसके समय जावा के कुछ समुद्रीय डाकुओं ने मुखलिंग के मन्दिर पर आक्रमण किया। उसे जला दिया और मूर्त्ति समुद्र में फेंक दी। इस पर सत्यवर्मा ने नवीन मुखलिंग की स्थापना की।[2] सत्यवर्मा के अनन्तर इन्द्रवर्मा राजा बना। इसके कई लेख प्राप्त हुए हैं। इन लेखों में इसकी बहुत स्तुति की गई है। एक स्थान पर लिखा है,

व्यरोचत महाप्राज्ञो राजा शूर समन्वितः ।
राज्ये हि धर्मसंयुक्तो धर्मराज इवाभवत् ॥[3]

इसके लेखों से पता चलता है कि यह सारे चम्पा का राजा था। इसने शत्रुओं को पराजित किया था।[4] इस समय चम्पा में बहुत से मन्दिर बनाये गये। वीरपुर में इन्द्रयोगेश्वर, शंकर तथा नारायण के मन्दिर

१. देखिये, Glai Lamov Stelae Inscription of Indra Verman Ist.

२. देखिये, Po-Nagar Stelae Inscription of Vikrant Verman IInd.
पञ्चसहस्र-नवशतैकादशे विगतकलिकलङ्कद्वापरवर्षे श्री विचित्रसगरसंस्थापितश्श्रीमुखलिङ्गदेवः । ...... ततश्चिरकालकलियुगदोषाद्देशान्तरप्लवागतपापनरभुग्गणसंहृतेषु प्रतिमापारिभोगभूषणेषु शून्योऽभवत् । पुनरद्यापि तत्पुण्यकीर्त्यविनाशाय श्रीसत्यवर्मनरपतिर्विचित्रसगरमूर्त्तिरिव माधवसप्तशुक्लपक्षे यथापुरा श्रीभगवतीश्वरमुखलिङ्गमतिष्ठिपत् ।"

३. देखिये, Glai Lamov Stelae Inscription of Indra Verman Ist.

४. स युद्धे न्यगमत् शत्रून् । सोऽहनत् परं सैन्यानि वज्रहस्त इवासुरान् ।

बनाये गये। इस वंश का अन्तिम राजा विक्रान्तवर्मा था। इसने भी मन्दिरों का निर्माण कराया था।

भृगुवंशीय राजा

विक्रान्तवर्मा तृतीय के पश्चात् ८७० ई० में एक नये वंश का प्रारम्भ हुआ। इस वंश का प्रवर्त्तक इन्द्रवर्मा द्वितीय था। यह भृगुवंशीय था। यह लक्ष्मीन्द्र भूमीश्वर ग्रामस्वामी के नाम से अधिक प्रसिद्ध था। 'दङ्-दोङ्' के लेख में इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की की गई है। इससे पता चलता है कि इसका झुकाव बौद्धधर्म के प्रति था। इसने एक बौद्धमन्दिर तथा विहार भी बनवाया था, परन्तु पूर्वजों से चले आ रहे शैवधर्म में भी इसका अनुराग बहुत था। शम्भुभद्रेश्वर की विस्तृत स्तुति इसके लेख में उत्कीर्ण है। इस लेख से यह भी ज्ञात होता है कि इसने एक शिवलिंग स्थापित करवाया था। महालिंगदेव के मंदिरार्थ दान में पृथ्वी दी थी। धनसंग्रह करके श्री भाग्यकान्तेश्वर का मन्दिर बनवाया था। ९११ ई में इन्द्रवर्मा तृतीय राजा बना। यह इस वंश का अन्तिम राजा था। इसके आठ लेख मिले हैं। इनसे पता चलता है कि इन्द्रवर्मा षड्दर्शन का पण्डित था। काशिका सहित व्याकरण में पारंगत था, और बौद्ध-दर्शन का भी अच्छा ज्ञाता था।[1] यह अपने समय का बड़ा भारी विद्वान् था। जब यह अपने अध्ययन में मस्त था, तब कंबुजनिवासियों ने चम्पा पर आक्रमण किया और 'पो-नगर' के मन्दिर की भगवती की स्वर्णमूर्त्ति को उड़ा कर ले गये। इन्द्रवर्मा ने इसके स्थान पर भगवती की प्रस्तर-प्रतिमा स्थापित की।[2] ९७१ ई० में इसकी मृत्यु हो गई।

[1] ....षट्तर्कजिनेन्द्रसूम्र्मिंस्सकाशिकाव्याकरणोदकौघः।

२ हैमीं यत्प्रतिमां पूर्वं येन दुष्प्रापतेजसा।
न्यस्तां लोभादिसंक्रान्ता मृता उद्धृत्य काम्बुजाः॥

चम्पा पर अनामियों के आक्रमण

इन्द्रवर्मा तृतीय के पश्चात् अनामी लोगों ने चम्पा के इतिहास में प्रमुख भाग लेना आरम्भ किया। वैसे तो ईसा की प्रथम शताब्दी से ही अनामियों ने चीनियों के विरुद्ध विद्रोह आरम्भ कर दिये थे। परन्तु ६३६ ई० में अनामियों के प्रथम वंश ने चीन के दक्षिणभाग में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। लेकिन, सर्वोपरि सत्ता एक में न होकर बारह सरदारों में बंटी हुई थी। ६८० ई० में सब सरदारों ने मिल कर 'ली-होन्' को अपना राजा चुन लिया। इस समय चम्पा का राजा परमेश्वरवर्मा था। ली-होन् ने चम्पा के राजा के पास एक दूत भेजा, जिसे परमेश्वरवर्मा ने कैद कर लिया। फिर क्या था, ली-होन् के सैनिकों ने चम्पा पर चढ़ाई कर दी। परमेश्वरवर्मा परास्त हुआ और कत्ल कर दिया गया। अब अनामियों ने राजधानी की ओर प्रस्थान किया। नगर लूटने और मन्दिरों को जलाने के उपरान्त इन्होंने चम्पा में नवीन शासन की व्यवस्था कर लौटना आरम्भ किया। ली-होन् लूट के साथ अन्तःपुर की सौ स्त्रियों और एक भारतीय भिक्षु को भी ले गया। इसी बीच में अनामी सरदारों में आपस के झगड़े प्रारम्भ हो गये। 'लू-की-तक्' नामक एक अनामी सरदार ने ली-होन् के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और अपने को चम्पा का राजा उद्घोषित कर दिया। इसने छः वर्ष तक शासन किया। विदेशियों के अत्याचारों से तंग आकर चम लोग चीनी प्रदेशों की ओर भागने लगे। इसी समय चम्पा के विजय नामक नगर में एक वीर पैदा हुआ। यह लू-की-तक् को भगा कर स्वयं श्रीहरिवर्मा नाम से शासन करने लगा। इसने अपनी राजधानी विजय को बनाया। १०४१ ई० में जयसिंहवर्मा राजा बना। १०४३ ई० में जब जयसिंहवर्मा की समुद्रीय सेना चम्पा के समुद्रीय तट से गुजर रही

थी तो वह अनामियों द्वारा खदेड़ दी गई। अब अनामी राजा 'फत्-मा' ने १२ जनवरी १०४४ ई० के दिन चम्पा पर आक्रमण किया। चम लोग बुरी तरह पराजित हुए। जयसिंहवर्मा लड़ता हुआ भाग गया। इसके साथ इसके तीस हजार साथी भी कत्ल कर दिये गये। तदनन्तर चम्पा की राजधानी विजय जीत ली गई। ६८६ ई० में विजयश्रीहरिवर्मा से जो वंश प्रारम्भ हुआ था वह अब समाप्त हो गया। १०५० ई० में जयपरमेश्वरवर्मदेव ईश्वरमूर्त्ति से नये वंश का प्रादुर्भाव हुआ। विगत सत्तर वर्षों से चम्पा विदेशी आक्रमणकारियों के चरणों में इस प्रकार पड़ा हुआ था मानो शेर के पञ्जे में शिकार पड़ा हो। जयपरमेश्वरवर्मदेव ने बड़ी बहादुरी से आक्रान्ताओं की बाढ़ को रोका और राज्य में शान्ति स्थापित की। इसने उन बहुत से मन्दिरों का पुनर्निर्माण करवाया जो लड़ाई के समय टूटफूट गये थे। इस वंश का अन्तिम राजा रुद्रवर्मा चतुर्थ था। इसके समय अनामियों ने चम्पा पर आक्रमण किया। चम्पा जीत लिया गया और रुद्रवर्मा चतुर्थ कैद कर लिया गया। जब वह कैद से वापिस लौटा तो चम्पा में गृहयुद्ध छिड़ चुका था, और स्थान स्थान पर स्वतन्त्र सरदार शासक बन गये थे। इस अव्यवस्था के बीच मे ही रुद्रवर्मा संसार से चल बसा।

हरिवर्मा के उत्तराधिकारी

जब चम्पा पर अनामियों के आक्रमण हो रहे थे उस समय हरिवर्मा चतुर्थ के रूप में एक नई शक्ति का अभ्युदय हुआ। इसके दो लेख 'मीसन' में प्राप्त हुए हैं। इनसे ज्ञात होता है कि हरिवर्मा के सम्पूर्ण शासनकाल में गृहयुद्ध चलता रहा। परन्तु उसने बहुत निपुणता से आभ्यन्तर और बाह्य दोनों शत्रुओं का दमन किया। इसके पास सैनिक शक्ति बहुत थी। लेखों से ज्ञात होता है कि

इसने चम्पा के भिन्न भिन्न प्रान्तों में मन्दिर खड़े किये थे। उसमें गायक, नट और नौकर रक्खे थे। शालाओं और आश्रमों का निर्माण कराया था। नष्ट हुए नगरों, मार्गों और भवनों की नये सिरे से रचना करवाई थी। राज्य भर में शान्ति स्थापित की थी। संक्षेप में, इसने चम्पा के गत-वैभव को पुनः स्थापित करने का जी तोड़ प्रयत्न किया था। १०८१ ई० में हरिवर्मा चतुर्थ अपने बड़े लड़के को राज्यसिंहासन सौंप कर, स्वयं शिव की भक्ति में अन्तिम दिन व्यतीत करने लगा। परन्तु सिंहासन छोड़ने के एक ही मास के भीतर इसकी मृत्यु हो गई। यह बात उल्लेखनीय है कि इसकी चौदह रानियां भी इसके साथ सती हो गईं। १११३ ई० में हरिवर्मा पांचवां राजा बना। यह इस वंश का अन्तिम राजा था।

चम्पा और कम्बुज में परस्पर संघर्ष

११४७ ई० में जयहरिवर्मदेव राजा बना। इसके समय चम्पा और कंबुज में परस्पर संघर्ष प्रारम्भ हुआ। इसमें जयहरिवर्मदेव विजयी हुआ। विजयीरूप में इसने शासन करना आरम्भ किया। 'महिष पर्वत' पर शिवलिंग स्थापित किया और अपनी माता तथा पिता की स्मृति में वहीं पर दो मन्दिर भी बनवाये। ११६० ई० में मीसन में एक मन्दिर बनाया गया। इसी वर्ष पो-नगर के देवता को भेंट दी गई। ११६३ ई० में जयइन्द्रवर्मा सप्तम राजा बना। इसने ईशानभद्रेश्वर के मन्दिर में सोना, चान्दी और चन्दन का एक कमरा बनवाया। ११७० में कंबुज पर आक्रमण किया गया। बहुत देर तक लड़ने पर भी जब कोई परिणाम न निकला तो एक चीनी ने चम लोगों को घुड़सवारी तथा घोड़े की पीठ पर बैठ कर बाण छोड़ने की नयी विधि सिखलाई। अब चीन से

घोड़े मंगाये गये। लेकिन जब चीन से बाहिर घोड़े भेजने बन्द कर दिये गये तो जहाजी बेड़े से कंबुज पर आक्रमण किया गया। कंबुज की राजधानी बुरी तरह लूटी गई। बहुत सी लूट लेकर जयइन्द्रवर्मा वापिस लौट आया। इसने बुद्ध-लोकेश्वर, जयइन्द्र लोकेश्वर, और भगवती-श्री-जय-इन्द्रेश्वरी की मूर्त्तियां बनवाई थीं। वह प्रतिवर्ष श्री-ईशान्-भद्रेश्वर के मन्दिर को भी उपहार देता था। जयइन्द्रवर्मा की मृत्यु कब और कैसे हुई, यह अब तक अज्ञात है।

चम्पा का अनाम रूप में परिवर्तन

जयइन्द्रवर्मा सप्तम के पश्चात् चम्पा में एक नया राजा राज्य करता दिखाई देता है। इसका नाम जयइन्द्रवर्मा अष्टम था। इसने भी कंबुज के विरुद्ध आक्रामक नीति को जारी रक्खा। ११९० ई० में कंबुज के राजा ने जयइन्द्रवर्मा पर चढ़ाई की। चंपा का राजा हार गया और कैद कर कंबुज ले जाया गया। अब कंबुज के राजा ने चंपा को उत्तरीय तथा दक्षिणीय दो भागों में बांट दिया परन्तु उत्तरीय हिस्सा शीघ्र ही कंबुज के हाथ से निकल गया। दो वर्ष के भीतर ही राजा 'रसुपति' ने कंबुज के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। कंबुज सरदार परास्त हुआ और रसुपति ने जयइन्द्रवर्मदेव के नाम से शासन करना आरम्भ किया। ११९२ में कंबुज सेनाओं ने रसुपति के विरुद्ध चढ़ाई की। रसुपति हार गया और कत्ल कर दिया गया। अब उत्तरीय और दक्षिणीय चंपा मिल कर एक हो गये। युद्ध समाप्त होते ही कंबुज सम्राट् चंपा गया और नष्ट हुए भवनों का निर्माण आरम्भ किया। तदनन्तर कंबुज राजाओं के कुछ एक आक्रमण और हुए जिनमें कंबुज का ही हाथ ऊंचा रहा।

चम्पा का अनाम रूप में परिवर्तन

बारहवीं शताब्दी के अन्त में एशिया में मंगोल नाम से एक नई शक्ति उठ खड़ी हुई थी। मंगोल सरदार चंगेजखां ने योरुप और एशिया का बहुत सा भाग जीत कर विशाल मंगोल साम्राज्य की स्थापना की थी। १२६० में कुबलेईखां उत्तराधिकारी हुआ। कुबलेई को उसके एक सरदार ने बताया कि चम्पा का राजा इन्द्रवर्मा मंगोल सम्राट् की अधीनता स्वीकृत करने को तय्यार है। यह जान कुबलेई ने अपने दूत चम्पा भेजे, जिसके परिणाम स्वरूप चम्पा के दूत मंगोल दरबार में आये। अब से चम्पा मंगोल साम्राज्य का हिस्सा बन गया और मंगोल सम्राट् ने अपना प्रतिनिधि चंपा में शासन करने के लिये भेजा। यह बात इन्द्रवर्मा के पुत्र हरिजित् को सह्य न हुई। हरिजित् के विरोध से तंग आकर मंगोल प्रतिनिधि लौट गया। उसके मुंह फेरते ही हरिजित् ने मंगोल प्रतिनिधि कैद कर लिये। १२८२ में मंगोल सेना ने चंपा पर आक्रमण किया। हरिजित् हार गया और कैद कर लिया गया। लेकिन पीछे से मंगोल सम्राट् की सेवा में उपहार भेंट करने पर छूट गया। १२८७ में हरिजित् जयसिंहवर्मा नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। इस समय अनामी प्रदेश का शासक 'नोन्-तोन्' राजकार्य अपने लड़के को सौंपकर स्वयं तीर्थयात्रा कर रहा था। मार्ग में यह चंपा ठहरा। जयसिंहवर्मा ने इसका खूब स्वागत किया। प्रसन्न होकर नोन्-तोन् ने अपनी लड़की का विवाह चंपाधीश से करने की प्रतिज्ञा की। लेकिन जयसिंहवर्मा को इस विवाह की भारी कीमत चुकानी पड़ी। उसे अपने राज्य के दो प्रदेश अनामी शासक को देने पड़े। इनकी क्षति अगले सभी शासकों को काँटों की तरह चुभती रही। जयसिंहवर्मा के उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मा ने इन्हें हस्तगत करने के लिये विद्रोह करने प्रारम्भ किये। १३१२ के प्रारंभ में ही चंपा जीत लिया गया और अबसे यह अनाम का एक

प्रान्त बन गया। अनामी शासक ही चंपा का भी शासक बन गया।

अब चंपा का न कोई राजा था और न कोई उत्तराधिकारी होने का दावा ही करता था। अब तो वहां अनामी सम्राट् का प्रतिनिधि शासन करता था। १३६० में 'शी-वाङ्-गा' शासक नियुक्त हुआ। यह अपने को स्वतन्त्र करने का प्रयत्न करने लगा। १३७७ ई० में अनामी राजा ने चंपा पर आक्रमण किया। अनामी राजा अपने कई सरदारों के साथ मारा गया। अब 'शी-वाङ्-गा' ने अनाम की राजधानी पर आक्रमण किया। राजधानी जीत ली गई और बहुतसी लूट इसके हाथ लगी। पांच वर्ष पश्चात् शी-वाङ्-गा ने जल मार्ग से अनाम पर पुनः धावा बोला। इस बार इसके ही एक सरदार ने शत्रुसेना को बता दिया कि शी-वाङ्-गा के जहाज का रंग हरा है। फिर क्या था ? अनामी लोगों ने चम राजा पर भीषण बाण-वर्षा की जिससे शी-वाङ्-गा मारा गया। अनामी सेनाएं चंपा पर चढ़ आईं। चंपा जीतने में देर न लगी। बात की बात में चंपा सर हो गया। १३६० ई० से चंपा में एक नये राजवंश का प्रथम राजा 'जयसिंहवर्मदेव' था। १५०५ ई० में 'शा-कु-पू-लो' राजा बना। इसका अन्त बड़ा दुःखद हुआ। शा-कु-पू-लो ने अपने को अनाम की पराधीनता से मुक्त करने का प्रयत्न किया। १५४५ ई० में शा-कु-पू-लो ने अपने जीवन की अन्तिम लड़ाई लड़ी जिसमें यह पराजित हुआ और लोहे के पिंजरे में बन्द कर दिया गया। इसी पिंजरे में इसने अपने अन्तिम सांस लिये। इसके उपरान्त अनामी राजा ने चंपा को अपने आधीन कर लिया।

१६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक का इतिहास अभी तक ठीक तरह नहीं बताया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि इस बीच में चंपा फिर से स्वतन्त्र हो गया था।

लेकिन अनामियों के आक्रमण पूर्ववत् जारी थे। चंपा का अन्तिम राजा 'पो-चङ्' था। इसने अनामियों के आक्रमणों से तंग आकर राज्यभार रानी को सौंपकर १८२२ में कंबुज की ओर प्रस्थान किया। कुछ वर्ष पश्चात् रानी की मृत्यु हो गई और अब चंपा पूर्णरूपेण अनामियों के हाथ चला गया। लोगों ने अपनी स्वतंत्रता की इस अन्तिम ज्योति को बुझते देख आंसुओं की झड़ियां लगा शोक मनाया। इस प्रकार अनामियों के सतत आक्रमणों से चंपा का स्वतंत्र हिन्दू राज्य नष्ट होगया। अब चंपा के भग्नावशेषों पर अनामी झण्डा लहराने लगा। प्राचीन व्यवस्था का स्थान नवीन व्यवस्था ने ले लिया। और तो और देश का प्राचीन नाम चंपा हटा कर अनामं कर दिया गया। 'चंपा' शब्द केवल ऐतिहासिक गाथा के रूप में ही रह गया। वहां के प्राचीन निवासी भूख और दुःख से सड़ सड़ कर मर गये और उनके कफन के साथ सब यशस्वी कार्य भी विस्मृति के गर्भ में विलीन होगये। चम लोगों की चिताओं पर अनामियों ने अपनी सभ्यता का भवन खड़ा किया। पर अनामियों ने भी बहुत अंशों में हारे हुओं की सभ्यता को अपनाया। अनामी लोग बौद्धधर्म में दीक्षित हो चुके थे। अतः अबसे अनाम में बौद्धधर्म का प्रचार होने लगा। वर्त्तमान समय में भी अनाम का धर्म यही है। अन्त में इस अध्याय को रमेशचन्द्र मजूमदार के इन शब्दों से समाप्त किया जाता है "भारत के वे सपूत जिन्होंने सुदूर प्रदेशों में जाकर अपनी पताकायें गाड़ी थीं और अठारहसौ वर्ष तक अपनी मातृभूमि के गौरव को उज्वल रखते हुए उसे गिरने नहीं दिया था, अन्ततः विस्मृति की अन्धेरी गोद में लुप्त हो गये। परन्तु सभ्यता की वे मशालें जिन्हें उन्होंने पकड़ा हुआ था और जो सुदीर्घ काल तक अन्धकार से लड़ाई कर प्रकाश फैलाती रहीं, वे अब भी अस्पष्टरूप मे

मन्द-ज्योति से जल रही हैं और भारतीय इतिहास पर एक उज्वल प्रकाश फैंक रही हैं।[1]

चम्पा की संस्कृति पर भारतीय प्रभाव

राजा और उसकी शासनप्रणाली

चम्पा का राजनीतिक इतिहास लिखने के उपरान्त यहां चम्पा की सभ्यता और संस्कृति पर प्रकाश डाला जाता है। आरम्भ से अन्त तक चम्पा में राजसत्ता कायम रही। राजा सर्वोच्च शक्ति समझा जाता था। उसका दैवीय अधिकार उसी रूप में माना जाता था जिस रूप में मध्यकाल में सर्वत्र राजाओं को दैवीय समझा जाता था। इस विषय में भारतीय प्रवासियों ने वहां भारतीय विचारों को ही विकसित किया था। चम्पा में राजा की जो स्थिति थी वह मनुस्मृति में वर्णित राजा की दशा से मिलती है। कई लेखों में राजा के दैवीय स्वभाव का वर्णन किया गया है। दङ्-दोङ् के लेख में राजा का वर्णन इस प्रकार है:—

स्वर्गस्थान विविक्तबुद्धिनिचयास्स्वर्गास्थिता ये सुराः।
मोक्षे पादयुगे च यान्ति शरणं सात्मैर्यथा भक्तिभिः॥
एवन्ते भुवि संस्थिताः सुरगणाः द्मेन्द्राः········
श्रीभद्रेश्वरपादयोरवनताश्श्रीमन्त एवन्तथा॥

इन्द्रवर्मा प्रथम के लेख में राजा को इन्द्र, अग्नि, यम, कुबेर आदि नामों से कहा गया है।[2] यह वर्णन मनुस्मृति में वर्णित राजा से

१. देखिये, Ancient Indian Colony of Champa by R. C. Mazumdar, Page 146.

२. इन्द्राग्नियमस्यविग्रहमधाधनाधिपस्यौजसा।
ब्रह्मांशप्रभवः प्रभूतविभवोभाग्यप्रभावान्वितः।
शक्त्या विष्णुरिव प्रमथ्य च रिपून् धर्मस्थितिंपालयेत्॥

बहुत मिलता है।[1] वो-चह्न पर्वत के लेख में एक राजकीय परिषद् का वर्णन है।[2] परन्तु इसके अधिकारों आदि के विषय में कुछ परिचय नहीं मिलता। सिंहासनारूढ़ होने पर राजा के सम्मुख उसके कर्त्तव्यों की सूची पेश की जाती थी। चम्पा के प्राचीन लेखों से राजोचित गुणों का भी परिचय मिलता है जो प्रत्येक राजा में होने आवश्यक थे। वे इस प्रकार हैं—शक्तिशालिता, शरीरसौन्दर्य प्रबन्धशक्ति, शिक्षाभ्यास[3] कर्त्तव्य-पालन, धैर्य, सहनशक्ति, धर्मोधर्मविवेचन, स्वातन्त्र्य-प्रेम, सत्यभाषण और प्राणिमात्र के प्रति दया। चम्पा के कई राजाओं में ये गुण दृष्टिगोचर भी होते हैं। एक लेख में परमेश्वरधर्मराज के विषय में लिखा है, यह सर्वशास्त्रों में निष्णात है, युद्ध में महादेव, सौन्दर्य में काम, यज्ञकर्ताओं में इन्द्र, ज्ञान में शम्भु और रचना में ब्रह्मा के सदृश है।[4] इसी प्रकार एक अन्य लेख में रुद्रवर्मा तृतीय की प्रशंसा में कहा गया है कि परमात्मा ने संसार के विविध प्रदेशों में उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकार के राजा बनाये हैं। परन्तु रुद्रवर्मा इन सबमें श्रेष्ठ है। इसके समान राजा सम्पूर्ण संसार में नहीं है। यह राजमण्डल में सूर्य के समान

---

१. सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥ मनु० अ० ७, श्लो० ७।

२. आज्ञापितं सदसि राजवरेण·········

३ चम्पा के राजा ६४ कलाओं में प्रवीण होते थे, वे विद्वान् होते थे। भद्रवर्मा चारों वेदों का ज्ञाता था। इन्द्रवर्मा षड्दर्शन का पण्डित था।

४. शास्त्रे शास्त्रेऽधिको वाक्पतिरिव हि रणे माधवो यो यथारम्-
सत्कान्तौ कामतुल्योबहुम खसुविधात्रिन्द्ररूपोपमानः।
ज्ञाने शम्भूपमेयस्सरसिजजसमोऽनेकसर्गे विदग्धो-
वाक्प्राप्तौ सद्गुणौघेऽनुपमितसुगतिश्चम्पपस्सोऽधिकोभूः॥
Myson–Stelae Inscription.

देदीप्यमान होता है, जबकि अन्य सब राजा ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र और हीरों के समान टिमटिमाते हैं।[1] चम्पा के राजाओं को काम, क्रोध, मोहादि छः शत्रुओं को जीतना होता था।[2] राजा धर्म का रक्षक समझा जाता था। आश्रमों और प्रजाओं की रक्षा करना उसका कर्त्तव्य था।[3] यह जानते हुए कि सांसारिक सुख क्षणिक हैं, वह योग, ध्यान और समाधि करता था। राजा का समय निश्चित दिन-चर्या से भरा होता था। राजा प्रतिदिन दरबार लगाता था। वह स्वयं एक ऊंचे सिंहासन पर बैठता था और शेष लोग नीचे यथा-स्थान बैठते थे। प्रत्येक मनुष्य दरबार में प्रविष्ट होते समय तथा जाते समय नीचे तक सिर झुका कर राजा को प्रणाम करता था। दरबार समाप्त होने पर राजा हाथी पर चढ़कर महल में जाता था। मारको-पोलो के कथनानुसार कोई भी स्त्री तब तक विवाह न कर सकती थी जब तक राजा उसे न देख लेता था। यदि राजा उससे प्रसन्न हो जाता था तब वह उसे अपनी रानी बना लेता था। दूसरी दशा में वह दहेज देकर उसे दूसरा बर चुनने की अनुमति देता

१. भूतानां भूतभूत्यै भुविधरणिभुजामात्मतेजोऽपि सर्वं
देशे देशे गुणानां प्रविनयति पृथग्धीनमध्योत्तमात्वात् ॥
तेष्वेको रुद्रवर्मा रविरिवमहता तेजसायोऽर्हतीद्धस्
तारातारापिनाथज्वलनमणिनिभास्सन्ति चान्येऽवनीशाः।

Po-Nagar Temple Inscription of Rudra Verma III.

२. इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥ मनु० अ० ७ श्लो० ४४

३. नृपस्यवर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मोमनुनाप्रणीतः। रघुवंश सर्ग १४ श्लो० ६७

४. कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में प्रथमाधिकरण में १६ वां प्रकरण देखिये। राजा का समय षोडश भागों में बांटा गया है। प्रत्येक भाग का पुरोगम वहां विस्तार से दिया गया है।

था।[1] राजा की मृत्यु होने पर उसकी रानियों में सबसे अधिक कृपापात्र को उसके साथ सती होना होता था। शेष रानियां उसके प्रति विश्वासपात्र रहती हुई धार्मिक जीवन व्यतीत करती थीं। कुछ राजा ऐसे भी हुए, जिन्होंने 'वार्द्धके मुनिवृत्तीनाम्' के आदर्शानुसार राज्य छोड़कर वानप्रस्थ ग्रहण किया था। गंगाराज राज्य त्याग कर अन्तिम दिन गंगा के किनारे व्यतीत करने के लिये भारत चला आया था।

चंपा की केन्द्रीयशक्ति तीन भागों में बंटी हुई थी।

(१) दीवानी (२) फौजदारी और (३) धार्मिक

दीवानी शासन दो मंत्रियों के हाथ में था। सैनिक प्रबन्ध सेनापति के हाथ में था। धार्मिक कार्य ब्राह्मण पण्डित और ज्योतिषियों की अध्यक्षता में होते थे। चंपा का साम्राज्य तीन प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक प्रान्त का शासन प्रान्ताधीश और सेनापति करता था। प्रान्ताधीशों के नीचे पचास अन्य कर्मचारी होते थे। इनमें से किसी को भी वेतन नहीं मिलता था प्रत्युत 'भूसंपत्ति' दी जाती थी। राज्यकर अधिकांशतः भूमिकर के रूप में आता था और धान्य के रूप में वसूल किया जाता था। कर उत्पत्ति का छठा हिस्सा और कभी कभी दसवां भाग भी लिया जाता था।[2] यह प्रथा भी मनु से मिलती है। मनु संहिता में कहा—'धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा। मनु अ० ७ श्लो० १३०। सेना के मुखिया को

१. देखिये, Morco Polo, Vol II, Page 249–50 and footnote.

२. ······भूमौ ये कुटुम्बिनो निवसन्ति तैर्दशमो भागो दातव्यो राजाधिराजे।

Myson Stelae Inscription of Shambhu Verman.

अपि च·········भूमिप्रदत्ता जनपदमर्यादा षड्भागेऽपि स्वामिना दशभागेनानुगृहीता देवस्य देया·········।

Myson Stelae Inscription of Bhadra Verman.

'सेनापति' या 'महासेनापति' कहा जाता था। इसके नीचे बहुत से सरदार होते थे। ये सब राजा के लिये आजीवन लड़ने की शपथ खाते थे। चम लोग किलाबन्दी में बहुत प्रवीण थे। यह दुर्गविद्या भारतीय पद्धति पर विकसित हुई थी। अपराधियों को दण्ड कई प्रकार से दिये जाते थे। कुछ अपराधों के लिये अर्थदण्ड होता था। ऋण न चुकाने पर दास बना दिया जाता था। चोरी करने पर हाथ काट दिये जाते थे।[1] व्यभिचार करने पर प्राणदण्ड होता था।[2] प्राणदण्ड देने की भी कई विधियां थीं। वृक्ष से बांधकर मारना, हाथी के पैर तले कुचलवाना, जीते जी जलाना आदि नाना प्रकार से मृत्यु दण्ड दिया जाता था। जिस प्रकार भारतीय लोग राजनीति में प्रवीण थे, वैसे ही चम लोग राजनीति-शास्त्र में निष्णात थे। उन्होंने राज्यों को मित्र, उदासीन, शत्रु—इन तीन भागों में बांटा हुआ था। इन राज्यों के साथ साम, दान, भेद और दण्ड—इस चतुर्विध नीति का तथा आसन, यान, संधि, विग्रह, द्वैधीभाव और संशय इस षड्विध युद्धनीति का प्रयोग किया जाता था।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि चम्पा में मनुस्मृति और

१. मनुस्मृति में भी ऐसा ही विधान है:—

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।
तत्तदेव हरेदस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ मनु० अ० ८, श्लो० ३३४ ।

२ मनु ने कहा है—भर्त्तारं लङ्घयेद् या स्त्री स्वज्ञातिगुणदर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥
पुमांसं दाहयेत् पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥
मनु० अ० ८, श्लो० ३७१-७२ ।

३. मनु ने लिखा है—आसनं चैव यानं च संधिविग्रहमेव च ।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ मनु० ७, १६१ ।

संभवतः कौटिल्य अर्थशास्त्र का भी अध्ययन होता था। चाहे अध्ययन न भी होता हो, पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि चम लोग भारतीय राजनीतिशास्त्र से पूरी तरह परिचित थे और उन्होंने अपनी नीति का आधार भारतीय नीति को ही बनाया था।

चम्पा का धर्म

यह एक सर्वविदित बात है कि भारतीय उपनिवेशों पर जितना प्रभाव भारतीय धर्म और संस्कृति का पड़ा, उतना और किसी चीज का नहीं पड़ा। आज जब कि उन सुदूरस्थ प्रदेशों पर भारत का राजनीतिक प्रभाव एक अतीत स्वप्न बन चुका है, भारतीय संस्कृति अपने अविकसित रूप में अब भी विद्यमान है।

शैवधर्म

चम्पा का प्रधानधर्म शैवधर्म था। चंपा के एक प्राचीन लेख में कहा गया है कि चंपापुर शिव के चरणों से उठी किरणों से बना है।[1] एक अन्य लेख में शिव को चंपा राज्य का मूलस्रोत कहा गया है। एक स्थान पर लिखा है—'शिव जी महाराज चंपा की समृद्धि के लिये चंपा में बसते हैं। वही पूजा और प्रणाम के योग्य हैं।[2] चंपा में शिव की पूजा महेश्वर, महादेव, अधीश, अमरेश, शंभु, ईशान आदि कई नामों से होती थी। वे शिव को देवाधिदेव मानते थे। कई लेखों में शिव की सर्वोच्चता इन शब्दों में स्वीकृत की गई है:—

यस्स्वप्रभावातिशयात् सुरेशवैभुत्वमाप्नोति यशोभिरेव।
तस्मै स्तुतिर्मे भवतु स्वभक्त्या श्रीशम्भुभद्रेश्वर विश्रुताय॥

१ सूतार्थै चरणद्वयाद् भगवतस्तस्योद्गतेनांशुना।
Lac thanh Stelae Inscription of Bhadra Verman III.

२ स एव देवः परमात्मकः श्रीशानेश्वरो लोकगुरुर्नृपाणाम्।
पूज्यः प्रणम्यः सह भृत्यवर्गैश्चम्पर्धिहेतोर्जयतीह नित्यम्॥
Bang-An Stelae Inscription of Bhadra Verman III.

शिव की सर्वोच्चता का अत्यन्त सुन्दर चित्र इस श्लोक में खींचा गया है:—[1]

देवेन्द्रः किल पूर्वतोऽस्थित तदा याम्यां सरोजोद्भवः ।
चन्द्रर्काविह पृष्ठतश्च भगवान्नारायणो वामतः ॥
मध्यस्थो ज्वलिताभरश्मिसहितश्चोंकारपूर्वैस्स्वधा ।
स्वाहान्तैर्निजमंत्रकैस्स्तुतनतो योऽसौ तदाऽऽद्यैः सुरैः ॥

चंपा निवासियों का विश्वास था कि शिव स्वयं आदि अन्त से रहित होता हुआ भी भूः, भुवः, स्वः के इन तीनों लोकों को उत्पन्न करने वाला है। उसने संसार से बुराई को इस तरह हटाया है जैसे प्रकाश से अन्धकार हट जाता है। उसकी महत्ता को कोई नाप नहीं सकता।[2] भूः, भुवः, स्वः के द्वारा उसकी प्रशंसा की जाती है, पहले भी की गई है और आगे भी की जायेगी।[3] संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का वही कारण है। वह पाप में कभी लिप्त नहीं होता।[4] उसकी कला सूर्य के सदृश प्रकाशमान् है। वह सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, सारे संसार को अपने में समाये हुए है। कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं, जो शिव को उसके वास्तविक रूप में जानता हो और न

---

१ देखिये, Bang-An Stelae Inscription of Bhadra Verman III.

२. सृष्टं येन त्रितयमखिलं भूर्भुवः स्वः स्वशक्त्या
येनोत्खातं भुवनदुरितं वह्निनेवान्धकारम् ।
यस्याचिन्त्यो जगति महिमा यस्य नादिर्नचान्त-
श्चम्पादेशे जनयतु सुखं शम्भुभद्रेश्वरोऽयम् ॥
Myson stelae Inscription of Shambhu Verman.

३. यं भूर्भुवः स्व······स्म वर्णयिष्यन्ति च वर्णयन्ति ।
Nhan-Bieu Stelae Inscription of Indra Verman III.

४. व्याप्नोति निखिलवस्त्वशुभं शुभं वा
नो लिप्यते रविरिवेद्धकला तदीया ।
Po– Nagar Temple Inscription

कोई जान ही सकता है। वह वाणी और मन की शक्तियों से परे है। पृथिवी, जल, वायु अग्नि, सूर्य सब में वही विराजमान् है। वह सब का भला चाहता है। सब प्राणी उससे पैदा हुए हैं और प्रलयकाल में उसी में विलीन हो जायेंगे।[1] वह संसार से पाप को दूर करता है। लोगों को कर्मानुसार फल देता है। उसकी तीन आंखें हैं, पांच मुख हैं। उसके हाथ में त्रिशूल है। वह हिमालय और मलयाचल पर निवास करता है। मान सरोवर में क्रीड़ायें करता है। शरीर पर बभूत रमाता है।[2] वृषभ की सवारी करता है। उसने हिमालय की लड़की गौरी से विवाह किया है। गंगा को सिर पर धारण किया हुआ है। उसके मस्तक पर चन्द्रकला है।[3] तात्पर्य यह है कि जिस रूप में हिन्दू धर्मशास्त्र और हिन्दू लोग अब तक शिव की पूजा करते हैं, ठीक उसी तरह चम्पा निवासी आज से सैंकड़ों वर्ष पूर्व शिवपूजा किया करते थे। शिव की काम-विजय अर्थात् शिव ने अपने तृतीय नेत्र से कामदेव को भस्म कर दिया और फिर उसे देह भी धारण करा दिया, यह कथानक चंपा के

१. यतो जगत् स्थाष्णु (स्नु) चरिष्णुरूपं विवर्त्ततेऽर्कादिव रश्मिजालम्।
यत्रैव भूयः प्रतिलीयते तद् अहो विचित्रो महता (?) निसर्गः॥
Myson Stelae Inscription of Prakash Dharma.
इसकी तुलना गीता के इस श्लोक से कीजिये—
अव्यक्ताद् व्यक्तयस्सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ गीता ८. १८.

२. यो भस्मराश्यां बहुसंचयायाम्······।
Bang—An Stelae Inscription of Bhadra Verman III.

३. नभस्तलनिसृतगम्भीर गंगाजलनिपातधाराधौततरजटाधारोऽत्यहङ्कारकामाङ्गदहनः
Glai Lamov stelae Inscription of Indra Verman I.

लेखों में स्थान स्थान पर पाया जाता है।[1] त्रिपुरदहन[2] और शिव के विषय में उपमन्यु का[3] का वह कथानक जो महाभारत के अनुशासन पर्व में है—इन दोनों से चम्पा निवासी अच्छी तरह परिचित थे। चम्पा में यह कथानक भी प्रचलित था कि विष्णु और ब्रह्मा में अपनी अपनी महत्ता के लिए संघर्ष चल रहा था कि इतने में शिवलिंग प्रकट हुआ। शिवलिंग का मूल जानने के लिये ब्रह्मा तो हंस बन कर ऊपर गया और विष्णु सूअर बन कर नीचे। सहस्रों वर्ष तक प्रयत्न करने पर भी वे उसका निकास न जान सके तब महादेव प्रकट हुए दोनों ने मिल कर उनकी स्तुति की और अनन्त काल तक उनकी भक्ति करने की शपथ ग्रहण की।[4]

---

१. अनङ्गत्वमुपागतोऽसौ यस्माद्धराङ्ग पुनरेवकाम: ।

Dong Duong Stelae Inscription of
Jayasingh Verman I

अपिच—नमस्तस्मै शिवायास्तु यस्य नेत्राद्विनिर्गतः ।

वन्हिस्स्मरस्य दाहाय दारुणाद्भुतकर्मणः ॥

Myson Stelae Inscription of Jaya Hariverman I.

२. शान्त्यर्थं येन दाहो युगपदपि पुरा त्रैपुराणां पुराणाम् ।

Dong Duong stelae Inscription of Indraverman II.

३. भुङ्क्तेऽद्याप्युपमन्युरिन्दुधवल क्षीरार्णवं बान्धवैः ।

Myson stelae Inscription of Vikrant Verman

४. लिङ्गावसानमतिगाढतमन्त्वधस्ताद्, वाराहरूपमवता(वहता?) हरिणापि जैत्रम् ।

वीर्य्येण साधयितुमुत्तमयोगवेत्रां, शक्तश्च रस्य यदनिष्टवरप्रसादात् ॥

लिङ्गावसानमनभिज्ञतयोगरिष्टाद् मानोज्झितेन सरसीरुहयोनिनाऽद: ।

स्वध्यानवीर्य्यरुचिरेण तथापि वेत्तुं शक्तश्च यस्ययदनिष्टवरप्रसादात ॥

Hoa-Que Stelae Inscription of Bhadra Verman III.

शिव के विषय में देवाधिदेव का विचार भी चम्पानिवासियों में प्रचलित था। वे उसकी निर्मलाकाश में चमकते हुए सूर्य्य से उपमा देते थे।[1] जिसके प्रकाश को देख ब्रह्मा और इन्द्र भी चकरा गये। हिन्दू लोग परमात्मज्योति की उपमा कोटि सूर्य्यों से देते हैं यह विचार चम्पा में भी प्रचलित था।[2]

चम्पा निवासी शिव की पूजा शिवमूर्त्ति और शिवलिंग दोनों रूपों में करते थे। लेकिन भारत की तरह लिंगपूजा अधिक प्रचलित थी। जो लिंग चम्पा में मिले हैं, वे बेलनाकार हैं। कई लिंगों पर सिर भी बना हुआ है। यह शिव का प्रतिनिधि है। इसे मुखलिंग कहा जा सकता है। चम्पा में शिव की सैकड़ों मूर्त्तियां मिलती हैं। पर सबका आकार भिन्न भिन्न है।

१. यं सर्वदेवास्सुरेशमुख्याः ध्यायन्ति तत्त्वविदश्च सन्तः।
स्वस्थः सुशुद्धः परमो वरेण्य ईशाननाथस्स जयत्यजस्रम्॥

Myson Stelae Inscription of Vikrant Verman I.

यो व्यापि विभवोत्तमो गुरुयशास्सर्वैः सुरैःपूजितो।
भक्त्या योगविशुद्धया पृथुतमौजोभिश्च सिद्धर्षिभिः॥
... ... ।
.... ॥

Lai Trung Stelae Inscription of Indra Varman III.

देदीप्यते सूर्य्य इवांशुमाला प्रद्योतितः खे विगताम्बुदे यः॥
ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वादय एव देवा दृष्ट्वा तदा विस्मयमागताः स्युः।
... ... ॥

Bang-An Stelae Inscription of Bhadra Verman III.

इसे गीता के इस कथन से मिलाइये——
दिवि सूर्य्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ गीता अध्याय ११ श्लो० १२।

साधारणतया जो शिवमूर्त्तियां प्राप्त हुई हैं, उनमें इसके दो हाथ हैं। एक में त्रिशूल है और दूसरे में अंकुश। सिर पर भव्य मुकुट है। हाथों और कानों में सांप लटके हुये हैं। मस्तक में तृतीय नेत्र विराजमान है। किसी मूर्त्ति में शिव खड़ा हुआ है, किसी में वह बैठा हुआ है और किसी में वह नन्दी बैल पर सवार है। कई मूर्त्तियों में इसके छः हाथ हैं। दो सिर के पीछे हैं और शेष चार में त्रिशूल, कमल, तलवार और प्याला है। किसी में वह आक्रमणकारी की दशा में बैठा हुआ है। कइयों में वह ताण्डवनृत्य कर रहा है।

चम्पा में शिवलिङ्ग का बहुत प्रचार था। प्रत्येक राजा अपना यह धार्मिक कर्त्तव्य समझता था कि वह लिंगपूजा करे और उसके लिये दान दे तथा नये लिंग स्थापित कराये। राजा लोग जब किसी नई मूर्त्ति को प्रतिष्ठित करते थे तो उसके साथ अपना नाम भी जोड़ देते थे।[1] शिव के साथ अन्य देवी देवताओं की पूजा भी की जाती थी। इनमें सबसे मुख्य शिव की पत्नी पार्वती थी। यह उमा, गौरी, महादेवी आदि कई नामों से स्मरण की जाती थी। भवानी की पूजा में 'अर्धनारीश्वर' का विचार प्रचलित था। एक लेख में लिखा है:—

भूताभूतेशभूता भुविभवविभवोद्भावभावात्मभावा।
भावाभावास्वभावा भवभवकभवाभावभावैकभावा॥
भावाभावाप्रशक्तिः शशिमुकुटतनोरर्धकाया सुकाया।
काये कायेकायेशकाया भगवति नमतो नो जयेव? स्वसिद्ध्या[2]॥

दङ्-फुक् में अर्धनारीश्वर की एक प्रतिमा भी प्राप्त हुई है। पार्वती के अतिरिक्त गणेश की भी पूजा होती थी। इसे विनायक

१. भद्रेश्वर, इन्द्रभद्रेश्वर, विक्रान्तरुद्र, भद्र—चम्पेश्वर।

२. Po-Nagar Temple Inscription of Permeshver Verman I

भी कहा जाता था। पो-नगर में इसके लिये मन्दिर भी बनवाया गया था।[1] मीसन में भी इसके दो मन्दिर थे। कार्त्तिक या जिसे कुमार कहा जाता है चम्पा के लोग उसकी पूजा भी करते थे। अब तक चंपा में कुमार की चार मूर्त्तियां मिली हैं। इनमें से दो में वह मोर पर सवार है और दो में गैंडे पर। नन्दि बैल की मूर्त्तियां भी बहुत बड़ी संख्या में चंपा से प्राप्त हुई हैं। इन मूर्त्तियों में कौड़ियों की माला उसके गले में डली हुई हैं और वह मन्दिर के अन्दर स्थित शिव की ओर देख रहा है।

वैष्णवधर्म

शैवधर्म के साथ वैष्णवधर्म का भी चंपा में प्रचार था। पर वैष्णवधर्म को वह प्रधानता प्राप्त न थी जो शैवधर्म को थी। चंपा के लोग विष्णु को पुरुषोत्तम, नारायण हरि, गोविन्द, माधव आदि कई नामों से जानते थे। शिव की तरह विष्णु के विषय में भी बहुत सी दन्तकथायें लोगों में प्रचलित थीं। चम्पा के प्राचीन लेखों में कहा गया है कि वह युद्धों में असुरों को जीतता है। वह संसार की रक्षा करता है। उसने 'मन्दर' पर्वत को मथानी बना कर समुद्र को मथा। राम का रूप धारण कर राक्षसों का नाश किया। कृष्ण के रूप में अवतार लेकर कंस का वध किया। मधुकैटभ राक्षसों को मारा। गोवर्धन पर्वत को हाथ पर उठाया। सम्पूर्ण देव, असुर और मुनि उसके चरण कमल की वन्दना करते हैं।[2] चंपा के राजा अपने को विष्णु का अवतार समझते थे।

१. Po–Nagar Inscription of Hari Verman, I.

२. ···तथापि नारायणस्समस्तभुवनपरिरक्षणसमर्थभावः क्षीरार्णवतरङ्गसङ्घाततल-शयनानन्तभोगभुजगपरिसेवितचतुर्भुजभुवनस्तम्भश्चापि गोवर्धनगिरिधरणसुरा-सुरमुनिवन्दित चरणारविन्दस्तु कृतमधुकंसासुरकेशिचानूरारिष्टप्रलम्बनिधनोऽपि-मधुकैटभरुधिरसन्ध्यायमानचरणनखमणिदर्पणः···।

Glai Lamov Stelae Inscription of Indra Varman I.

विष्णु की मूर्त्तियां बिल्कुल भारतीय रूप को लिये चंपा में मिली हैं। वह गरुड़ पर बैठा हुआ है। उसके चार हाथ हैं। दो में गदायें हैं और शेष दो में शंख तथा चक्र हैं। विष्णु के अनन्तशयन की मूर्त्ति भी मिली है। इसमें वह शेषनाग पर सोया हुआ है। है। शेषनाग अपने सहस्रों फनों द्वारा उसकी रक्षा कर रहा है। कृष्ण की भी एक मूर्त्ति मिली है जिसमें उसने हाथ पर गोवर्धन पर्वत उठाया हुआ है। विष्णु की पत्नी– लक्ष्मी, पद्मा, श्री, आदि कई नामों से चंपा निवासियों में बड़ी विख्यात थी। लक्ष्मी को शक्ति का चिह्न मानने की जो प्रथा हिन्दुओं में है वह चंपा-निवासियों में भी थी। वहां लक्ष्मी की अभी तक तीन मूर्त्तियां मिली हैं। भारतवर्ष में गरुड़ को पक्षियों का राजा और सर्पों का शत्रु समझा जाता है, ठीक यही विचार चम लोगों में भी था।

ब्रह्मा तथा अन्य देवी देवता

शिव और विष्णु के अतिरिक्त ब्रह्मा जी भी चंपानिवासियों से सुविदित थे। वे इसे चतुरानन (चार मुख वाला) और स्वयम्भूः (स्वयमुत्पन्न) कहते थे। इसके विषय में यह कथानक प्रसिद्ध था कि ब्रह्मा जी ने मेरुपर्वत को सुवर्णमय बनाया है। चंपा की मूर्त्तियों में ब्रह्मा जी हंस पर सवार हैं। इनके हाथों में गुलाब के फूल हैं।

ब्रह्मा, विष्णु और सिव की पूजा करते हुये वे हिन्दुओं के अन्य देवताओं को न भूले थे। चंपा का एक प्राचीन लेख इस प्रकार प्रारम्भ होता है—नमोऽस्तु सर्व देवेभ्यः प्रजानां निरुपद्रवः।[1] इससे स्पष्ट है कि वे अन्य देवताओं को भी जानते थे। चंपा के लेखों में निम्न देवताओं का वर्णन इस रूप में पाया जाता है।

---

१. Glai Stlae Inscription of Indra Verman I.

इन्द्र— यह देवों का राजा है। वृत्र और असुरों का नाश करने वाला है। इसने पूर्व जन्मों में बड़े बड़े यज्ञ किये थे। यज्ञ द्वारा ही यह स्वर्ग का राजा बना है।[1]

यम— इसका नाम धर्मराज भी है। यह मृत्यु का देवता है।

चन्द्र— यह राहु द्वारा ग्रसा जाता है।

सूर्य— इसके हाथ में तलवार है। यह रथ पर चढ़ता है। उसमें सात घोड़े जुते हुए हैं।

कुबेर—यह महेश्वर का मित्र है। इसके पास अतुल सम्पत्ति है। इसका नाम धनद[2] और एकाक्षपिङ्गल भी है। चंपा के लोग धन के लिये कुबेर की उपासना करते थे।

कई स्थानों पर गङ्गा का वर्णन भी किया गया है। यथा— गङ्गादर्शनजं सुखं महदिति……। इसके अतिरिक्त सिद्ध, विद्याधर, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व और अप्सराओं का वर्णन भी चंपा के लेखों में स्थान स्थान पर पाया जाता है।[3] एक तरह से सारा का सारा हिन्दूधर्म अपने पूर्णरूप में वहां जाकर विकसित हुआ था। इससे चंपा में एक दूसरा भारत बन गया था। निराशावाद की जिस

१. यावद् धर्मनयेन रक्षति दिवं देवेन्द्र इथ्याज्ञया।
अन्यत्रापि …… शतमख इव…
Gang Tikuh Stelae Inscription of Indra-
Verman I.
अपिच—बहुमखसुविधाबिन्द्ररूपोपमानः।
Myson Stelae Inscription

२. … … पूर्वाजन्मानवरतमखकुशलतपः फलतयाधनद इव… …।
Gang-Tikuh Stelae Inscription of Indra Verman I.

३. …… सुरासुरमुनिसिद्धयक्षगन्धर्वकिन्नरवराप्सरः… …।
Glai Lamov Stelae Inscription of Indra Verman I.

लहर ने मध्यकाल में भारत को घेरा हुआ था, उसने चंपा पर भी अपना प्राबल्य दिखाया था। उत्कीर्ण लेख बार बार यह रट लगाते हैं कि मानव-जीवन नश्वर है, सांसारिक संपत्ति क्षणिक है, इहलौकिक सुख असार है। इसलिये मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये, श्राद्ध का भाव भी प्रकट होता है।[1] भारतीयों की तरह चंपा निवासी भी यह मानते थे कि नक्षत्र और ग्रह मनुष्य के भाग्य को बनाते और बिगाड़ते हैं। जयइन्द्रवर्मा की ख्याति और विद्वत्ता चन्द्रमा, बृहस्पति, सूर्य आदि देवताओं के कारण समझी जाती थी।[2] युगों का विचार भी उनमें प्रचलित था। तीन युगों के नाम—त्रेता, द्वापर और कलि भी वे जानते थे। त्रेता को वे भारतीयों की ही तरह स्वर्णीय युग समझते थे। उनका विश्वास था कि तब संसार में धर्म का साम्राज्य था। न कोई पापी था और न कोई पाप का दण्ड देने वाला ही था। न कोई अपराधी था और न कोई अपराध का दण्ड देने वाला था। सब लोगों की स्वभावतः ही पुण्य की ओर रुचि थी और पाप-मार्ग से हटने की प्रवृत्ति थी। तदनन्तर द्वापर आया। इस युग में विचित्रसागर नामक राजा हुआ। वह बहुत धार्मिक था। तत्पश्चात् कलियुग आया। कलियुग में लोगों का झुकाव अधर्म, पाप और अभिमान की ओर होता है। इस पापमयीप्रवृत्ति से बचने का उपाय पुण्यमय कार्यों का करना

१ स्फुरदम्भः प्लवमानफेनसदृशं कायं त्वनित्यं महत्,

तत्पुण्यं भवसागरात् स्म कुरुते पित्रोर्मुंचे स्वात्मनः।

Lai-Trung Inscription of Indra Verman II

२. सौम्याङ्गारबृहस्पतीन्दुदिनकृत्काव्यार्कजैःपालितः

श्रीमाञ्छ्रीजयइन्द्रवर्माविदितो देदीप्यते प्रज्ञया॥

Dong Duong Inscription of Indra Verman II.

बताया गया है।[१] पञ्चभूतों का विचार भी उनमें प्रचलित था।[२] चंपानिवासी यह भी जानते थे कि वस्तुतः परमेश्वर एक है। उसकी नानाविभूतियां ही नानादेव हैं। आवश्यकतानुसार परमात्मा विविध रूपों में अवतार ग्रहण करता है। जब वह यह देखता है कि संसार दुःख से व्याकुल है तो वह उन्हें मोक्षमार्ग दिखाने के लिये अपनी विभूतिसम्पन्न किसी देवता को भेजता है।[३]

बौद्धधर्म

हिन्दूधर्म के साथ साथ बौद्धधर्म भी चम्पा में दृढ़ सत्ता रखता था। चम्पा में बुद्ध—लोकेश्वर, लोकनाथ, सौगत, शाक्य-मुनि वज्रपाणि, प्रमुदितलोकेश्वर आदि कई नामों से स्मरण किया जाता था। समझा यह जाता था कि बुद्ध सर्वशक्तिमान् है। वह कई योनियों में पहिले भी पैदा हो चुका

१. सारासारविवेचनस्फुटमना मान्यो मनो नन्दनः-
पापापापभयप्रियः प्रियकरः कीर्त्यर्जनैकोद्यमः ।
लोकालोकितकलौ कलौ सनिसरन्धातुं · वद्धाविनो-
भात्रोद्धारनुभावसद्गुणैर्धर्मं तनोत्येव यः ॥
Po-Nagar Temple Inscription of Jay Permeshver Verman I

२. ......नमो पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्चरञ्चमम् ।
Myson Stelae Inscription of Bhadra Verman.

३ दुःखेनाभिहता नराश्च नरके केचित् तथा नारका-
रात्रौ वा च दिवा तदा च सततं काङ्क्षन्ति ते दर्शनम् ।
तर्षाभिश्च नरा दिवाकरहता ग्रीष्मे जलं शीतलम्-
ये ते द्रष्टुमनेकदुःखविहतावेच्छन्ति भूमौ यथा ॥
अपि च—क्वचिदपि बलभिज्जो ब्रह्मजो विष्णुजश्च-
क्वचिदपि भुजगेन्द्रशङ्करश्च क्वचिद्वा ।
क्वचिदृषिरविचन्द्राऽथाभ्रनिर्वह्निरूपः-
क्वचिदभयदविम्बस्सत्वमोक्षाद् बभूव ॥
Dong-Duong Stelae Inscription of Indra Verman I

है। वह दुखियों के प्रति संवेदना और दरिद्रों के प्रति दया धारण करता है। उसकी आत्मा में प्राणिमात्र के प्रति कल्याणमयी भावना जागृत है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा की ओर से भी बौद्धधर्म को संरक्षण प्राप्त था। राजाओं और नागरिकों-दोनों ने बुद्ध के मन्दिर बनवाये थे। दङ्-दाङ् का उत्कीर्ण लेख बताया है कि जय-इन्द्रवर्मा ने लोकेश्वर की मूर्त्ति बनवाई थी। चम्पा में बुद्ध की बहुत सी मूर्त्तियां मिली हैं। एक में वह शेषनाग पर आसीन है। मिट्टी की कुछ मोहरें मिली हैं जिन पर बुद्ध की मूर्त्तियां बनी हुई हैं। इन सब बातों से यही परिणाम निकलता है कि चम्पा में बौद्धधर्म का पर्याप्त प्रभाव था।

सामाजिक संगठन

भारतीय-प्रवासियों ने चम्पा में दृढ़ हिन्दूसमाज की स्थापना की थी। पर वह समाजिक बन्धन चम्पा की प्राचीन प्रथाओं से कुछ शिथिल हो गया था। कहने में तो वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार भागों में बंटे हुए थे पर क्रियात्मक दृष्टि से उनमें ब्राह्मण और क्षत्रिय दो ही भेद थे। ब्राह्मण और क्षत्रियों ने परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा ब्राह्मणक्षत्रियरूपी एक जाति पैदा की, जो क्षत्रियों की ही एक उपजाति समझी जाती थी। यह ब्राह्मण-क्षत्रिय जाति भारत की प्रसिद्ध जातियों में से है। बंगाल के 'सेन' वंशीय राजा इसी जाति के थे आज भी यह जाति भारत के सब प्रान्तों में विद्यमान है। चम्पा के राजा इन्द्रवर्मा और रुद्रवर्मा इसी जाति के थे। समाज में ब्राह्मणों की ऊंची स्थिति थी। उन्हें आदर और मान की दृष्टि से देखा जाता था। वे मनुष्यों में देवता समझे जाते थे। ब्रह्म हत्या की गणना महापापों में की जाती थी।[1] चम्पा

१. देखिये, Myson Stelae Inscription of Prakas Dharm

ये ध्वंसयन्ति ते ब्रह्महत्याफलमनन्तं कल्पेष्वजस्रमनुभवन्ति ये परिपालयन्ति तेऽश्वमेधफलम्। ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोरित्यागमाद्दिति प्रतिज्ञातम्।

निवासी किसी प्रकार की भी शराब नहीं पीते थे। नाच-गान में उनकी खूब रुचि थी। लोगों के नैतिक आचरण की ओर भी ध्यान दिया जाता था। उनका विश्वास था कि कच्चे फलों को तोड़ने वाला कृतघ्नी तथा दूसरे की पृथ्वी को छीनने वाला अनन्तकाल तक नरक यातना भोगता है।[1] प्रतिष्ठित व्यक्तियों को उपाधियां भी प्रदान की जाती थीं। राजा जयसिंहवर्मा ने अपने सेनापति को ईश्वरकल्प, शिवकल्प और श्रीकल्प की उपाधियां दी थीं।

चम्पा के स्त्री पुरुष नीचे का हिस्सा तथा छाती ढके रखते थे और सारा शरीर नंगा रखते थे। उनके कपड़ों का रंग काला, पीला, लाल और बैंजनी होता था। तपस्वी और नौकर कौपीन पहनते थे जो कि शुद्ध भारतीय वस्तु है। वे केशों को तरह तरह से संवारते थे। विविध वस्तुओं से सिर ढंकते थे। और यज्ञोपवीत को धार्मिक चिह्न के रूप में न पहन कर आभूषण रूप में धारण करते थे। लेकिन इतना स्पष्ट है कि वे पहनते अवश्य थे।

वैवाहिक संबन्ध

भारत की तरह चम्पा निवासी भी विवाह को पवित्र मानते थे। वे इसे गृहस्थ जीवन की आधारशिला समझते थे। वे अपनी जाति मे और गोत्र आदि का विचार करके ही विवाह करते थे। एक लेख में चंपा की नारिकेल और क्रमुक इन दो जातियों का उल्लेख है।[1] इसीप्रकार की अन्य जातियां भी चंपा में प्रचलित थीं। ये सब कथानकों पर आश्रित थी। नारिकेल जाति का संस्थापक नारिकेल

---

१ पाकभेद फलन्नश्च भूमिहर्त्ता च ते त्रयः।
नरकाश्च निवर्तन्ते यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

Glai Lamov Stelae Inscription of Indra Verman I

प्रालेयेश्वरधर्मराजविदिता यो नारिकेलान्वयो-
दायादक् क्रमुकान्वये जनितवानासीन्नरेन्द्रानतम्।

Myson Stelae Inscription.

में पैदा हुआ था, ऐसा प्रसिद्ध था। कुलीन श्रेणी की लड़की कुलीन श्रेणी में ही विवाह कर सकती थी। यह तो हो सकता था कि उपजाति भिन्न हो पर जाति का एक होना आवश्यक था।

चीनी विवरणों से ज्ञात होता है कि चंपा की वैवाहिक पद्धति हिन्दू वैवाहिक पद्धति के सदृश थी। भारत की तरह वहां भी ब्राह्मण ही योग्य वर निश्चित करता था। ब्राह्मण सोना चाँदी और हीरे के कुछ उपहार तथा दो प्याले शराब और मछली लेकर वधू के घर जाता था। दोनों पक्षों से संबन्ध स्वीकार हो चुकने पर वह इस शुभकार्य के लिये मुहूर्त्त निश्चित करता था। चम्पा में विवाह कुछ निश्चित तिथियों में ही हो सकता था। अन्य तिथियों में विवाह करना निषिद्ध था। विवाह के दिन दोनों पक्षों के मित्र और बन्धु इकट्ठे होते थे। वे सब, संस्कार तथा नाच-गान में सम्मिलित होते थे। तब वर वधू के घर जाता था। पुरोहित द्वारा दोनों का परिचय कराया जाता था। तदनन्तर वर वधू का पाणि-ग्रहण करता था। तब पुरोहित कुछ मंत्रों का पाठ करता था। इसप्रकार एक वार फिर नाच-गान होकर संस्कार समाप्त हो जाता था। चम्पा-निवासियों का पति-पत्नी संबन्ध भी हिन्दुओं की तरह था। पति के मरने पर पत्नी भी पति की चिता पर अपने को सती कर देती थी। 'ओडोरिक-डि-पोरडिनन्' नामक एक यात्री ने इस प्रथा का वर्णन इस प्रकार किया है:—

"चम्पा में जब कोई पुरुष मरता है तो उस की स्त्री को भी उसके साथ जला दिया जाता है, क्योंकि वे समझते हैं कि पत्नी को सदा पति के साथ ही रहना चाहिये। इसलिये जब पति दूसरे लोक जारहा है, तब पत्नी को भी वहीं पहुंचना चाहिये।"[1]

१. Ancient Indian Colonies in the Far East, Vol 1, Champa

जो स्त्रियां सती नहीं होती थीं, वे हिन्दू विधवाओं की तरह तपस्या का जीवन व्यतीत करती थीं। वे मस्तक में सिन्दूर नहीं लगाती थीं। अच्छे वस्त्र नहीं पहनती थीं। कुछ एक ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब विधवाओं ने दुबारा विवाह कर लिया। पर ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। स्त्रियों में बहुत ऊंचे विचार काम करते थे। जयसिंहवर्मा के दङ्-दोङ् के लेख में स्त्रियों के गुणों का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है:—

या पुण्ये निपुणा विशेषगुणभाग् भाग्योदयालङ्कृता।
कीर्त्याशाभिरता मनोविहितसच्चिन्तास्पदा भ्राजते
गन्धे पुष्पनिबन्धवस्त्ररचनास्वेवं विदग्धोचिता॥

चम्पा की स्त्रियां हिन्दू स्त्रियों की ही तरह बड़ी धर्मप्राण थीं। वे दान-पुण्य भी किया करती थीं। अपना सतीत्व कायम रखना परमधर्म समझती थीं।

त्यौहार

चीनी विवरणों में चम्पा के त्यौहारों का वर्णन मिलता है। ये त्यौहार हिन्दू तिथि क्रम के अनुसार निश्चित तिथियों में होते थे। चम्पा का वर्ष चैत्र मास से आरम्भ होता था और अमावस्या के दिन प्रत्येक मास समाप्त होता था। बहुत से हिन्दू त्यौहार चम्पा में मनाये जाते थे। नये वर्ष के प्रथम दिन एक हाथी नगर के बाहिर इस उद्देश्य से छोड़ा जाता था कि नवीन वर्ष की सब बुराईयां भाग जायें। चैत्रमास के पन्द्रहवें दिन राजधानी के बाहिर लकड़ी का एक चबूतरा बनाया जाता था। राजा और प्रजा उस पर कपड़े और सुगन्धित पदार्थ रखते थे। इन्हें परमात्मार्पण करने के लिये जला दिया जाता था। आषाढ़ मास में नौकादौड़ होती थी। इन सब उत्सवों पर भारतीय छाया विद्यमान है। भारत की अनेक कथाओं में आता है कि राजा की सन्तान न होने पर हाथी छोड़ा जाता था। दुर्गापूजा के दिनों में नौकादौड़ की प्रथा बंगाल के हिस्सों

में आज दिन भी प्रचलित है। एक अन्य त्यौहार भारतीय दोलयात्रा त्यौहार का विकृत रूप था। ग्यारहवें मास की पूर्णिमा के दिन किसान अपनी फसल में से कुछ भाग राजा को भेंट देते थे। यह प्रथा भारतीय रियासतों में अब भी विद्यमान है। चम्पा में राजा अपने हाथ से थोड़ी सी फसल काट कर सब को इस बात का संकेत करता था कि अब फसल काटने का समय आ गया है।

मृतक संस्कार

चम्पा में मृतक संस्कार हिन्दूविधि से होता था। शव को चिता पर रख कर जला दिया जाता था। साधारण मनुष्य को अगले ही दिन और बड़ों को तीन या सात दिन पश्चात् जलाया जाता था। शव को शराब में भिगोकर अर्थी पर रखकर बाजे के साथ श्मशान भूमि में जलाने के लिये ले जाया जाता था। मृत पुरुष के सम्बन्धी मुंडे हुए सिरों से रोते और चीखते हुए साथ साथ चलते थे। शव नदी के किनारे ले जाकर जला दिया जाता था। यदि कोई महान् व्यक्ति मरता था तो उसका दाह नदी के मुहाने पर होता था। उसकी राख ताम्रपात्र में रख नदी में बहा दी जाती थी। राजा के मरने पर राख सोने के बर्तन में रखी जाती थी और समुद्र में फेंक दी जाती थी। दो मास तक निरन्तर प्रतिसप्ताह के अन्तिम दिन मृत मनुष्य के सम्बन्धी सुगन्धित पदार्थों के साथ श्मशान जाते और शोक मनाते थे। सौवें दिन और तीसरे वर्ष वे मृत मनुष्य के सम्मान में कुछ और विधियां भी करते थे। यद्यपि साधारणतया शव जलाया जाता था तो भी कई वार पारसियों की तरह शव को खुले स्थान में रख दिया जाता था, वहां पक्षी उसके मांस को खा जाते थे। कुछ दिवस पश्चात् उसके परिवार के लोग हड्डियां इकट्ठी करते थे और उन्हें जला कर राख कर देते थे। यह राख पानी में बहा दी जाती थी।

उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि चंपा में कम से कम दसवीं शताब्दी तक तो अवश्य ही संस्कृत साहित्य का अध्ययन होता था। संस्कृत पढ़ेलिखे लोगों की भाषा समझी जाती थी। भारतीय ग्रन्थों के अतिरिक्त चंपा निवासियों ने स्वयं भी कई ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे थे। संस्कृत साहित्य का विस्तार करने में राजा लोग अगुआ थे। राजा भद्रवर्मा तृतीय चारों वेदों का ज्ञाता था। इन्द्रवर्मा तृतीय षड्दर्शन, जैनदर्शन और व्याकरण का पण्डित था। जयइन्द्रवर्मदेव सप्तम व्याकरण, ज्योतिष, महायान और धर्मशास्त्र विशेषतया नारदीय और भार्गवीय (शुक्रसंहिता) शास्त्र का अच्छा ज्ञाता था। एक स्थान पर योगदर्शन का उल्लेख है।[1] रामायण और महाभारत से चंपा निवासी भलीभांति परिचित थे। एक लेख में युधिष्ठिर, दुर्योधन और युयुत्सु का उल्लेख है।[2] एक अन्य लेख में राम और दशरथ का वर्णन मिलता है।[3] एक स्थान पर अर्जुन का वर्णन है।[4] एक लेख में पाण्डु का उल्लेख किया गया है।[5] एक अन्य स्थान पर अश्वत्थामा और द्रोण को भी स्मरण किया गया।[6] इसी प्रकार एक जगह विश्वामित्र, अनसूया और अत्रिमुनि साहित्य

१. भक्त्या योगाविशुद्धया पृथुतमौजोभिश्च सिद्धर्षिभिः।

Lai-Trung Stelae Inscription of Indra Verman III

२. युधिष्ठरोऽसौ… …दुर्योधनाद्यैः… …युयुत्सु… …

Phu-Luong Stelae Inscription of Rudra Verman III

३. दशरथ नृपजोऽयं राम इत्याशया यम्।

Myson Stelae Inscription of Prakash Dharman.

४. … …धनञ्जय इवाप्रतिहतपराक्रमः… … …।

Yang-Tikuh Stelae Inscription of India Verman I

५. …स जयति महसाजौ यथा पाण्डुसूनुः।

Hoa-Que Stelae Inscription of Bhadra Verman

६. … …अश्वत्थामो द्विजश्रेष्ठाद् द्रोणपुत्रादवाप्यतम्।

Myson Stelae Inscription of Prakasa Dharam,

का नाम आया है।[1] एक स्थान पर इन्द्र-पुत्र—जयन्त का भी वर्णन है।[2] कुबेर का एकाक्षपिङ्गल के रूप में वर्णन पुराण से लिया गया है। चम लोगों को पुराणों का भी पता था।[3] इन्द्रवर्मा तृतीय का मंत्री सब धर्मशास्त्रों का विद्वान् था।[4] संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि चम लोग चार वेद, षड्दर्शन, रामायण, महाभारत, जैनदर्शन, महायान, साहित्य, शैव और वैष्णव साहित्य, काशिका सहित व्याकरण, ज्योतिषशास्त्र, मनु, नारद और भृगुस्मृति, पुराण तथा संस्कृत काव्य और गद्यग्रन्थों से भलीप्रकार परिचित थे।

भवन निर्माणकला चंपा के हिन्दू राजाओं ने बहुत बड़ी संख्या में मंदिरों, मूर्त्तियों और विहारों का निर्माण कराया था। इससे वास्तुकला और भवननिर्माणकला में चम लोग बहुत प्रवीण हो गये थे। चंपा के सभी मन्दिरों का मुख पूर्व की ओर है। इस पर भी भारतीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। चंपा ने वास्तुकला और भवन-निर्माणकला में जो उन्नति की, उसका मूलाधार वह भारतीयकला थी, जिसे भारतीय उपनिवेशक भारत छोड़ते समय अपने साथ ले गये थे। यह ठीक है कि चम लोगों ने भारतीय कला का अन्धा अनुकरण नहीं किया, उन्होंने उसमें अपनी कलम भी लगाई तथापि यह बिल्कुल निश्चित है कि इस कला का मुख्याधार भारतीय था।

---

१. …जन्माच्छन्दस्यसत्यकौशिकस्वामी, तस्याः पतित्वमागाद् नसूयाया इवात्रिमुनिः।

Myson Stelae Inscription of Prakasa Dhrman.

२. शक्त्युग्रेण यशोऽर्थिनेऽतिबलवान् देवेन्द्रपुत्रोपमः।

Glai Lamov Stelae Inscription of Indra Verman I.

३. एतेन पुराणार्थेन लक्षणेनैतद्गम्यते………।

Myson Stelae Inscription of Jaya Hariverman.

४. ……शास्त्री शास्त्र संघैः।

उपसंहार

इस अध्याय को समाप्त करते हुए यह कहना कुछ आवश्यक सा प्रतीत होता है कि चम्पा में भारतीय लोग सर्वप्रथम प्रथम शताब्दी में ही नहीं गये अपितु भारत और चम्पा का पारस्परिक सम्बन्ध अति प्राचीन है। चम्पा के लेखों में इस ओर बहुत से निर्देश पाये जाते हैं। एक स्थान पर लिखा है—सहस्रों वर्षों से चले आ रहे लिंग को आवानिवासी उठाकर ले गये।[1] एक अन्य स्थान पर एक मूर्त्ति के विषय में लिखा है कि पांच सहस्र नौ सौ ग्यारह वर्ष पूर्व द्वापर में विचित्रसगर ने इसकी स्थापना की थी।[2] इस प्रकार ये दो उदाहरण ऐतिहासिकों के सम्मुख उपस्थित हैं जो कि भारत और चम्पा के पारस्परिक सम्बन्ध को सहस्रों वर्ष पीछे ले जाते हैं। उहसंहार

अभी तक यह विचार भी विवादास्पद रहा है कि चंपा में आवासित होने वाले हिन्दू भारत के किस प्रदेश से आये थे? प्राचीन शिलालेखों की शैली के आधार पर इस प्रश्न का भी उत्तर देने का प्रयत्न किया जायेगा। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर यही परिणाम निकलता है कि महाराष्ट्रीय लोगों का इसमें पर्याप्त हाथ था। प्राकृत भाषा का एक सूत्र है—'अण् मुकुटादिषु' अर्थात्

---

१. बहुवर्षसहस्राणि स बभूव महीतले।

ततश्च कलियुगदोषातिशयेन नावागतैज्जंववलसंधैनिहंसतेपि

नवाम्बराद्रियमिते शककाले स येव शून्योऽभवत्।

Gang–Tikuh Stelae Inscription of Indra Verman I.

२. पञ्चसहस्रनवशतैकादशैविगतकलिकमङ्कद्वापरवर्षे श्रीविचित्रसगरसंस्थापितश्रीमुख-

लिङ्गदेवः।

Po–Nagar Stelae Inscription of Vikrant Verman II.

मुकुटादि शब्दों को अण् होता है, महाराष्ट्री भाषा में। इससे मुकुट के स्थान पर मकुट हो जाता है। इसका प्रयोग चंपा के लेखों में कई स्थानों पर किया गया है।[1] इसी प्रकार 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग महाराष्ट्री लोग करते हैं। इसके लिये प्राकृत-सूत्र 'नोणः' है। उत्तरीयभारत के लोग इस णत्व को पसन्द नहीं करते। उनमें किंवदन्ती भी है—फाल्गुने गगने फेने णत्वमिच्छन्तिबर्बराः'। ऐसे प्रयोग भी चंपा के लेखों में पर्याप्त विद्यमान हैं।[2] इसी प्रकार 'द' के स्थान पर 'ड' भी महाराष्ट्री में देखा जाता है। इसका प्रयोग भी चपा के लेखों में यत्र तत्र देखने को मिलता है।[3] इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि चम्पा में बसने वालों की पर्याप्त संख्या अथवा कम से कम इन लेखों के लिखने वाले तो अवश्य ही महाराष्ट्री सज्जन थे।

---

१. सुरसिद्धविद्याधरगणमकुट किरीटवर··· ··· ···

Yang–Tikuh Stelae Inscription of Indra Verman I.

अपि च—श्री सत्यमुखलिङ्ग देवस्य मकुटं प्रणालस्य।

Po–Nagar Stelae Inscription of Vikrant Varman II.

किञ्च—भावाभावाग्रशक्तिः शशिमकुटतनोरर्धकायासुकाया।

Po–Nagar Temple Inscription of PermeshverVermanI

२.··· ··· ···क्षीरार्णवतरङ्गगणसिन्धुफेणशशिकर········

Yang–Tikuh Stelae Inscription of Indra Verman I

अपि च—देवीफाल्गुणनील पञ्चदिवसे·········

Bo–Mang Stelae Inscription of Indra Verman II.

३. सुरासुररिपुपवित्रचरण युगलसरोरुहमकरण्डस्य········

Yang–Tikua Stelae Inscription of Indra Verman I.

दशम-संक्रान्ति

श्याम भारतीय रंग में—

दशम-संक्रान्ति

स्याम भारतीय रंग में

स्याम कम्बुज की आधीनता में

स्याम कम्बुज की आधीनता में—सुखोदय के शासक—इन्द्रादित्य, रामखम्हेङ्—सूर्य्यवंशराम—अयोध्या के शासक—रामाधिपति—रामराजा—परमराजाधिराज—बर्मी आक्रमण—पश्चिमीय जातियों का प्रवेश—ऋणमोचन—अयोध्या का पतन—देवनगर के 'राम'—स्याम पर भारत की छाप—शासनव्यवस्था—धर्म—त्यौहार, साहित्य—भाषा—प्राचीन स्मारक—उपसंहार।

जिस समय भारतीय आवासक चंपा को आवासित कर रहे थे, लगभग उसी समय, उसके उत्तरपश्चिम में स्याम राज्य का उद्भव हो रहा था। स्याम की स्थापना कब और कैसे हुई ? इसका ठीक ठीक उत्तर देना बहुत कठिन है। इसकी स्थापना के विषय में एक दन्तकथा प्रचलित है, जिससे इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। कहा जाता है कि:—

"दो सहस्र वर्ष हुए, जब यह देश शून्य पड़ा था। उस समय यहां कहीं कहीं कुछ तपस्वी रहते थे। इसी समय चीन में एक राजकुमार ने अपने पिता को मार कर स्वयं सम्राट् बनने के लिये उद्योग किया, परन्तु उसे इसमें सफलता प्राप्त न हुई। तब राजा ने राजकुमार और उसके साथियों को मरवाना चाहा। पर सलाहकारों ने उसे समझाया कि आप इन्हें अभय प्रदान कर देश से निर्वासित कर दें, और ये पुनः कभी स्वदेश न लौटें।"

"इस प्रकार निर्वासित हुये लोगों ने स्याम देश को आवासित

कर अपनी शक्ति का विस्तार आरम्भ किया। वहां इन्होंने एक-नगर और बहुत से मन्दिरों का निर्माण किया। तदनन्तर जूडिआ नामक स्थान आवासित किया गया। यहां भी एक छोटा सा देवालय बनाया गया। यह आज भी विद्यमान है। उस समय वहां सात तपस्वी रहते थे। ये सातों परस्पर भाई थे और आकृति में एक समान थे।"[१]

यदि इस अनुश्रुति को सत्य माना जाये तो स्याम देश को सर्वप्रथम आवासित करने वाले भारतीय न होकर चीनी थे। इसके अनुसार स्याम में सर्वप्रथम चीनी लोगों ने बस्तियां बसाईं। लेकिन कालान्तर में भारतीयों ने भी इस ओर पग बढ़ाया। वे भी स्याम गये, वहां बसे और वहां रहते हुये भारत से व्यापार करने लगे। इसकी सूचना स्याम में प्राप्त एक तामिल शिलालेख से मिलती है। यह लेख आठवीं शताब्दी का है, और दक्षिणभारत में 'तिरुवलम्' में प्राप्त विजयनन्दी विक्रमवर्मा के लेख से मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि— 'मणिग्रामम्' व्यापारिक संघ के कुछ सदस्य स्याम में निवास करते थे। ये लोग वैष्णवमतावलम्बी थे। इन्होंने विष्णु की पूजार्थ एक मन्दिर भी बनवाया था। ये लोग मूलतः तामिल देशवासी थे और समुद्र-मार्ग से स्याम पहुंचे थे। इस प्रकार आठवीं शताब्दी तक भारतीय लोग निश्चितरूप से स्याम में बस चुके थे। वहां रहते हुये इन्होंने भारत से व्यापार करना तथा मन्दिरों की स्थापना कर स्वसंस्कृति का प्रचार भी प्रारम्भ कर दिया था।

भारत और स्याम का पारस्परिक संबन्ध सर्वप्रथम आठवीं शताब्दी में ही नहीं हुआ, प्रत्युत इससे सैकड़ों वर्ष पूर्व भारतीय

---

१. देखिये, Ancient Indian Colony of Siam, By. P.N. Bose Page—20.

लोग स्याम में बस चुके थे। उस समय स्याम कंबुज की आधीनता में था। कंबुज के भारतीय प्रवाह के साथ साथ स्याम भी उसी प्रवाह में प्रवाहित हो चला। भारत और स्याम का यह संबन्ध ईसा की तीसरी शताब्दी तक ले जाया जाता है। तीसरी शताब्दी से भारतीयों ने वहां जाना आरम्भ कर दिया था और भारतीय नगरों के नाम पर नये नगर बसाने शुरु कर दिये थे। नीचे स्याम के कुछ नगरों के नाम दिये जाते हैं जो कि मूलतः संस्कृत भाषा के हैं:—

संस्कृत	स्यामी
राजपुरी	रातपुरी
अयोध्या	अयुध्या
नवपुर	लोफाबुरी
विजय	फिक्सेई
सुखोदय	सुखोथेई
संघलोक	संघलोक
उत्तरतीर्थ	उत्तरदिथ

इनको पढ़नें से यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि स्याम पर भारतीय रंग कितनी शीघ्रता से चढ़ा था। तेरहवीं शताब्दी तक स्याम कंबुज के ही आधीन रहा। स्याम का, इन एक हजार वर्षों का इतिहास कंबुज के इतिहास से पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रथम राजा इन्द्रादित्य था, जिसने स्याम को कंबुज की आधीनता से मुक्त कर लिया। इन दस शताब्दियों तक स्याम में शैवधर्म का प्राबल्य रहा। शैवधर्म ही राष्ट्रधर्म बना रहा, क्योंकि तब कंबुज का राष्ट्रधर्म भी शैव ही था। तत्पश्चात् शैवधर्म का स्थान बौद्धधर्म ने ले लिया। बौद्धभिक्षु भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार करने स्याम पहुंचने लगे। बड़े बड़े भिक्षुओं को बौद्धसंघ की स्थापना के लिये बुलाया

भी जाने लगा। श्रीसूर्य्यवंशराम ने स्यामी बौद्धसंघ की आन्तरिक शुद्धि के लिये सिंहलद्वीप से संघराज को अपने यहां आमन्त्रित किया। इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी से स्याम मुख्यतया बौद्धधर्मावलम्बी बन गया।

सुखोदय के शासक

(१२१८ से १३७६ तक)

इन्द्रादित्य

१३५० ई० के पश्चात् का स्याम का इतिहास तीन भागों में बंटा हुआ है। ये तीन भाग तीन नगरों के कारण हैं। आगामी छः सौ वर्षों में स्याम की कोई एक स्थिर राजधानी नहीं रही, प्रत्युत वह समय समय पर बदलती रही। पहले सुखोदय, फिर अयोध्या और तदनन्तर वर्त्तमान बैङ्कॉक स्याम की राजधानी बनाया गया। एक तरह से स्याम का अपना इतिहास सुखोदय से ही प्रारम्भ होता है। सुखोदय का प्रथम राजा इन्द्रादित्य था। यह १२१८ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ था। इसने सुखोदय को अपनी राजधानी बनाया था। इस प्रकार इन्द्रादित्य को सुखोदय के स्वतन्त्र राज्य का प्रवर्त्तक कहा जा सकता है। सुखोदय के शासक १२१८–१३७६ तक शासन करते रहे। सुखोदय से एक उत्कीर्ण लेख मिला है। यह सुखोदय वंश के तृतीय राजा रामखमृहेङ् का उत्कीर्ण कराया हुआ है। इसमें इन्द्रादित्य का भी वर्णन किया गया है। इन्द्रादित्य का पुत्र अपने पिता का वर्णन करते हुए लिखता है "हम सब पांच भाई बहिन थे। तीन भाई और दो बहिनें। बड़ा भाई शीघ्र ही कालग्रस्त हुआ। उस समय मेरी आयु बहुत कम थी।" आगे फिर लिखा है "जब मेरी आयु १६ की वर्ष थी तो शत्रुओं ने देश पर आक्रमण किया। मैंने उनका खूब सामना किया और उन्हें परास्त कर दिया। पिता ने प्रसन्न होकर मुझे रामखमृहेङ् की उपाधि

प्रदान की। मैं अपने पिता के जीवनकाल में सदा उनके समीप ही रहता था, और उनकी सहायता किया करता था। यदि मैं कोई मृग या मछली प्राप्त करता तो उसे पिता के पास ले जाता था; यदि मैं कोई फल या मिठाई पाता तो उसे पिता के सम्मुख ला रखता, यदि मैं हाथियों का शिकार करने जाता और उन्हें पकड़ लेता तो उन्हें लाकर पिता की भेंट करता था; यदि मैं हाथी, दास, चांदी और सोना प्राप्त करने जाता और उन्हें पा लेता तो वह सब कुछ भी अपने पिता की सेवा में प्रस्तुत करता था।"[1] इस प्रकार सुखोदय वंश के संस्थापक इन्द्रादित्य ने पुत्रों की सहायता प्राप्त कर सुखपूर्वक शासन किया। इन्द्रादित्य के पश्चात् 'बान्-मुराण्' राजा हुआ। इसके समय भी सुखोदय में प्राप्त लेख के लेखक, इन्द्रादित्य के तृतीय पुत्र, रामखमृहेङ की सहायता बनी रही। वह लिखता है-"मेरे पिता परलोकगामी हुए, इसके पश्चात् मैं अपने भाई के समीप रहने लगा और जिस भाव से, पहले अपने पिता की सेवा करता था उसी तरह उसकी सहायता करने लगा।"

१२८३ ई० में रामखम्हेङ् उत्तराधिकारी हुआ। यह 'रामराजा' नाम से भी विख्यात है। उक्त लेख में ही आगे लिखा है- "मेरे बड़े भाई की भी मृत्यु हो गई और अब मैं राज्य का स्वामी बना हूं।" स्यामी राजाओं में रामराजा का स्थान बहुत ऊंचा है। सुखोदय का लेख इसी का उत्कीर्ण कराया हुआ है। इसके समय की सबसे मुख्य घटना यह है कि इसने स्यामी वर्णमाला प्रचलित की थी। यह अपने लेख में लिखता है-'मेरे मन में विचार उठा कि स्यामी वर्णमाला का प्रयोग किया जाये। तदनुसार मैंने वह वर्णमाला[2] रामखम्हेङ्

१. देखिये, Ancient Indian Colony of Siam, Page 34-35.

२. यह वर्णमाला किस वर्णमाला के आधार पर बनाई गई है? इस विषय में ऐतिहासिकों में तीन पक्ष हैं:—

तय्यार कर उसका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।[1] आगे चलकर यह अपने देश के धर्म का वर्णन करते हुए लिखता है—"प्रजा बुद्ध की भक्त है। नगरों में बुद्ध की बड़ी बड़ी मूर्त्तियां, चित्र तथा मन्दिर बने हुए हैं। राजधानी के पश्चिम में अरण्यविहार है, जो श्री-धर्मराज से आये एक विद्वान् को भेंट किया गया था, जिसने यहां आकर त्रिपिटक का अध्ययन किया था। यद्यपि मेरे देश में हिन्दू-धर्म का विशेष प्रचार नहीं, तो भी कुछ लोग ऐसे हैं, जो देवों को पूजते हैं, और जिन पर राज्य की समृद्धि निर्भर करती है।"

इस समय स्याम की राजधानी सुखोदय थी। नगर की शोभा अद्वितीय थी। इसमें चार प्रवेशद्वार थे। स्थान स्थान पर बुद्ध-प्रतिमाओं से विभूषित मन्दिर थे, जिनमें बहुत से विद्वान् भिक्षु रहते थे। राजधानी से पश्चिम की ओर एक विहार था। विहार के मध्य में एक विशाल भव्य मन्दिर था। पूर्व में अन्य मन्दिर थे, जिनमें विद्वान् लोग निवास करते थे। उत्तर की ओर बाजार तथा राजप्रासाद था और दक्षिण में कृषि होती थी। रामराजा का शासन

(क) इसका मूल 'पाली' या 'सिंहली' वर्णमाला है।

(ख) यह 'बर्मी' वर्णमाला से निकली है।

(ग) इसका स्वरूप 'ख्मेर' वर्णमाला से तय्यार किया गया है।

इन पर विचार करते हुए यही प्रतीत होता है कि स्यामी वर्णमाला का आधार ख्मेर वर्णमाला रही होगी। इसमें निम्न युक्तियां दी जा सकती हैं:—

(१) सुखोदय लेख के अक्षर ख्मेर अक्षरों से समता रखते हैं।

(२) कम्बुज और स्याम परस्पर बहुत निकट हैं।

(३) तेरह सौ वर्ष तक स्याम कम्बुज के अधीन रहा है। इससे यह स्वाभाविक है कि उसकी वर्णमाला का प्रभाव इस पर पड़ा हो। प्रो० ब्रैडले और सर चार्ल्स ईलिअट ने भी इसी कथन की पुष्टि की है।

१. देखिये, Ancient Indian Colony of Siam, Page 37-

विक्रम के शासन के सदृश था। वह विवादों का निर्णय स्वयं करता था। वह प्रजा के लिये अगम्य न था। छोटे से छोटा व्यक्ति भी उससे मिल सकता था। उसने आज्ञा प्रचारित की हुई थी कि यदि राजधानी के किसी भी प्रजाजन को किसी भी व्यक्ति से कष्ट पहुंचा हो, या उसका दिल दुखा हो तो वह तुरन्त प्रासाद पर लटकते हुए घन्टे को बजादे। घन्टे की आवाज़ आने पर राजा स्वयं प्रार्थना सुनता था और बात की गहराई तक पहुंच कर निर्णय करने का प्रयत्न करता था।[1] इस प्रकार, रामराजा ने अपने सुदीर्घ शासन में न्यायपूर्वक आचरण किया। इसी से यह स्यामी लोगों में इतना पूजा का पात्र बन गया कि वे इसे ज्ञान, वीरता, साहस, शक्ति और वेग में अनुपमेय मानने लगे।

सूर्यवंशराम

१३५५ ई० में श्री सूर्यवंशराम सिंहासनारूढ हुआ। यह हृदयराज, श्रीधर्मराज, श्रीधार्मिक तथा राजाधिराज आदि कई नामों से प्रसिद्ध था। राजा अपनी उदारता के लिये भी विख्यात था। प्राणिमात्र के प्रति दया तो इसमें कूट कूट कर भरी हुई थी। यह विद्वान् भी बहुत था। ज्योतिष विद्या में पारंगत था। इसने स्याम के तिथिक्रम का भी संशोधन किया था। धर्म में इसकी रुचि असामान्य थी। इसने अनेक कुटी, विहार और चैत्यों का निर्माण कराया था। इतना ही नहीं, विविध धातुओं के मेल से एक बुद्धप्रतिमा भी इसने बनवाई थी। यद्यपि राजा बौद्ध था, और यह लोगों में बुद्ध के उपदेशों का प्रचार किया करता था, तथा अपने प्रजाजनों को दुःख से छुड़ाने के लिये निर्वाण पथपर जाने की प्रेरणा करता था, तथापि इसके शासन काल में हिन्दू और बौद्ध, दोनों धर्म समृद्धिपथ पर थे। श्रमण और ब्राह्मण, दोनों का ही समान आदर था। जहां इसने बुद्ध की मूर्त्तियां स्थापित कराईं, वहां

१. देखिये, Ancient Indian Colony of Siam Page 41

परमेश्वर और विष्णु पर भी भेंटें चढ़ाईं। यह जहां बौद्ध साहित्य का विद्वान् था, वहां हिन्दू शास्त्रों से भी पूर्णतया परिचित था। त्रिपिटक, वेद, शास्त्र, आगम, और ज्योतिःशास्त्र इसके हस्तामलकवत् थे। १३५२ ई० में सूर्यवंशराम ने सीलोन से उस महाबोधि की शाखा स्याम मंगाई जिसे संघमित्रा अपने साथ वहां ले गई थी। बोधिद्रुम की शाखा के समीप ही राजा ने पटना से लाये हुए अवशेषों पर एक चैत्य बनवाया। बाईस वर्ष शासन करने के उपरान्त १३६२ ई० में सूर्यवंशराम ने राजपण्डित को सीलोन भेजकर महा-स्वामी संघराज को अपने देश में निमन्त्रित किया। संघराज के आगमन का समाचार पाकर, राजा ने उसके स्वागत के लिये विविध समारम्भ रचे। उसने संघराज और उसके साथियों के निवासार्थ बहुत सी कुटियां और विहार बनवाये। उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये बहुत सा सोना, चांदी और बहुमूल्य वस्तुएं वितीर्ण की गईं। इसी समय नगर के मध्य में महात्मा बुद्ध की एक स्वर्ण-प्रतिमा स्थापित की गई। तत्पश्चात् सूर्यवंशराम ने महास्वामी संघराज से प्रवज्या ग्रहण की। उस समय राजा ने स्वर्णप्रतिमा के सम्मुख बद्धांजलि होकर कहा—"मैं अब बुद्ध की शरण में आता हूं, मुझे अब न ब्रह्मा बनने की चाह है, न इन्द्र बनने की, और न चक्रवर्ती बनने की; मैं तो केवल बुद्ध होना चाहता हूं, ताकि कामभव रूपभव और अरूपभव दुःखों से छटपटाते हुए प्राणियों को संसार-सागर से पार पहुंचा सकूं।"[१] राजा के पीछे बहुत से कुलीन लोगों ने भी उसका अनुकरण किया। भारतवर्ष में जातकों के नाम बर्हुत स्तूप पर सब से पहले खुदे हैं। यही नाम स्याम में बौद्धधर्म के प्रविष्ट होने पर, वहां भी प्रचलित हो गये। इनका वर्णन स्यामी

१. देखिये, Hinduism and Budhism, by Eliot, Page 83.

शिलालेखों में पाया जाता है। ये लेख सूर्यवंशराम के समय के हैं। इनका काल १३५० ई० बताया जाता है। सूर्यवंशराम के साथ इन्द्रादित्य से प्रारम्भ हुए वंश की समृद्धि समाप्त होगई। अब से अयोध्या के शासकों का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। सूर्यवंशराम के समय ही १३५० ई० में रामाधिपति ने अयोध्या नामक नया नगर बसाया। इसका प्राचीन नाम द्वारवती था। लेकिन नवीन नगर बसने से यह अयोध्या कहलाने लगा। १२१८ से १३५० तक सुखोदय के शासक जिस स्वातन्त्र्य सुख को भोगते रहे थे वह अब अयोध्या के राजाओं को प्राप्त होने लगा। यद्यपि १३५० से अयोध्या ने स्याम के इतिहास में प्रमुख भाग लेना आरम्भ कर दिया था, तो भी सुखोदय का प्रभाव एकदम समाप्त नहीं हुआ। बुझते हुए दीपक की तरह इसके कुछ समय बाद तक भी इसका नाम चमकता रहा। लेकिन इस बीच में अयोध्या स्यामी संस्कृति और राजनीति का केन्द्र बन चुकी थी और इसके उत्कर्ष के साथ ही वहां नये राजवंश की भी स्थापना होगई थी।

अयोध्या के शासक

(१३५० से १६०४ तक)

पीछे कहा जा चुका है कि सूर्यवंशराम के समय १३५० ई० में रामाधिपति ने अयोध्या नगर की स्थापना की थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् ही अयोध्या ने सुखोदय के प्रभाव को अतिक्रान्त कर लिया यद्यपि स्याम का शासनसूत्र सुखोदय के शासकों से छिनकर अयोध्या के राजाओं के हाथ में चला गया था, लेकिन इससे स्याम की संस्कृति में कोई अन्तर न पड़ा था। अयोध्या का प्रथम राजा रामाधिपति था। सिंहासनारूढ़ होते समय इसकी आयु ३७ वर्ष की थी। इसने कुल १६ वर्ष शासन किया। अपने शासनकाल में रामाधिपति

रामाधिपति ने बहुत से नगर, विहार, भवन और चैत्यों का निर्माण करवाया।

रामराजा १३६४ ई० में रामराजा राजा बना। इस काल का एक उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुआ है। इसमें इस बात का वर्णन है कि किस प्रकार बुद्ध की पूजा के लिये एक मन्दिर खड़ा किया गया और उसमें महात्मा बुद्ध की पित्तल प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गई। इसके साथ ही एक चैत्य भी बनाया गया, इसमें एक रंगीन ज्योति अन्य दस ज्योतियों के साथ जगमगाती थी। एक पुस्तकालय भी इसमें था। राजा ने मंदिर को बहुत से गांव भी प्रदान किये थे। उसने बुद्ध की पूजा के लिये अपनी बहिन भी दे दी थी। लेख के अन्त में राजा इस दानपुण्य का तात्पर्य बताते हुए लिखता है कि—"यह सब कुछ मैंने इस लिये किया है कि अगले जन्म में बुद्ध बनकर पैदा हो सकूं।"[1]

परमराजाधिराज १४१७ई० में परमराजाधिराज उत्तराधिकारी बना। इस काल का भी एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जो सुखोदय के 'बुद्धपाद' के नाम से विख्यात है। यह १४२७ ई० का है, और पाली लिपि में लिखा हुआ है। सुखोदय का बुद्धपाद, बुद्ध के अन्य सब चरणों से उत्तम है। सीलोन का 'रत्नपाद' सादा है। उस पर किसी प्रकार की चित्रकारी नहीं हैं। परन्तु सुखोदय का बुद्धपाद बहुत सुन्दर है। यह अपने में कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। बुद्धपाद पर दो चक्र बने हुए हैं। इनमें छः वृत्त हैं। प्रथम वृत्त में ३२, द्वितीय में २४, तृतीय में १६, चतुर्थ में १६, पञ्चम में १२ और छठे में ८ चिह्न हैं। कुल मिलाकर १०८ चिह्न हैं। चरण के नीचे जुलूस की आकृति में खड़े हुए बहुत से थेरों (स्थविरों) की मूर्त्तियां बनी हुई हैं। ये थेर

१. देखिये, Ancient Indian Colony of Siam, Page 63.

हाथ जोड़ कर, सिर झुकाये खड़े हुए हैं। मानो ये बुद्ध को भेंट दे रहे हों। थेरों के नाम पाली अक्षरों में खुदे हुए हैं। इनकी संख्या अस्सी है। इसी लेख से यह भी ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण प्राप्त करने के १९७० वर्ष उपरान्त राजा महाधर्माधिराज एक विशाल बहुमूल्य प्रस्तरखण्ड लाया। इस पर सीलोन के समन्तकूट की भांति भगवान् का चरण अंकित था। यह चरण सीलोन के बुद्धपाद के समान नाप का था।

१५४८ ई० में वरधीरराज अयोध्या का राजा हुआ। इसके सिंहासनारूढ़ होते ही बर्मी लोगों ने स्याम को आ घेरा। पहला हमला स्याम की ओर से किया गया था। स्यामी राजा ने दो सौ हाथी, एक हजार घुड़सवार और साठ हजार पदाति बर्मा के 'सेवाय' नामक स्थान को जीतने के लिये भेजे। स्यामी लोगों ने सेवाय जीत लिया। जब यह समाचार बर्मी[1] राजा को मिला तो उसने एक बृहती सेना स्याम पर आक्रमण करने के लिये भेजी। स्यामी लोग बुरी तरह परास्त हुये। राजकुमार और राजा का साला शत्रुओं द्वारा कैद कर लिये गये। अन्ततः सन्धि हुई। वरधीरराज का लड़का और साला दोनों छोड़ दिये गये। स्यामी राजा ने बर्मी राजा को ३० हाथी, ३०० मुद्रायें तथा दो श्वेत हाथी देने की प्रतिज्ञा की। यद्यपि राजा ने श्वेत हाथियों को देना स्वीकार कर लिया तथापि उसे उनका देना बहुत सता रहा था। १५६३ ई० में बर्मी राजा को पता चला कि स्यामी राजा ने फिर से कुछ श्वेत हाथी प्राप्त कर लिये हैं। इस बीच में वरधीरराज की मृत्यु हो चुकी थी और महामहिन्द उसका उत्तराधिकारी था। बर्मी राजा ने महामहिन्द से एक श्वेत हाथी और मांगा। पर उसने उत्तर देने में टालमटोल की। परिणामतः १५६४ ई० में बर्मी सेनाओं ने फिर बर्मी आक्रमण

---

१. 'पेगु' संस्कृत 'हंसनगर' का राजा। यह प्रदेश पेगु में था।

से अयोध्या को आ घेरा। दीर्घकाल तक युद्ध करने के उपरान्त जब महामहिन्द ने देखा कि मैं सामना करने में असमर्थ हूं, तो उसने आत्मसमर्पण कर दिया। राजा, रानी और छोटा राजकुमार कैद कर लिये गये, और बड़ा लड़का स्याम का राजा उद्घोषित हुआ। १५६८ ई० में महामहिन्द कैद से मुक्त कर दिया गया। उसके स्वदेश लौटते ही स्याम में पुनः स्वातन्त्र्यसंग्राम छिड़ गया। महामहिन्द के ज्येष्ठ पुत्र ने अपने पिता की सहायता से बर्मा की आधीनता से मुक्त होने का प्रयत्न किया। शीघ्र ही बर्मी सेनाओं ने अयोध्या पर आक्रमण किया। राजधानी लूट ली गई। महिन्द का ज्येष्ठ पुत्र कैद कर कत्ल कर दिया गया। इस प्रकार बर्मी लोगों ने स्याम पर तीन वार आक्रमण किया और दुर्भाग्यवश तीनों वार स्यामी सेनाओं को बुरी तरह हार माननी पड़ी। इन आक्रमणों से स्याम की तत्कालीन राजधानी और संस्कृति को बहुत धक्का पहुंचा। इन्हीं के परिणामस्वरूप कुछ काल पश्चात् बैङ्काक नाम से नया नगर बसाया गया। इसी को स्याम की नूतन राजधानी बनाया गया और बौद्धधर्म की बिगड़ी हुई दशा को सुधारने के प्रयत्न होने लगे।

पश्चिमीय जातियों का प्रवेश

१६१० ई० में इन्द्रराज स्याम का राजा हुआ। इस समय तक पूर्व में व्यापार करने का मार्ग ढूंढा जा चुका था। पोर्चुगीज, डच, फ्रैंच और इंग्लिश लोगों ने भारत तथा मसाले के द्वीपों में अपनी कोठियां खोल कर पश्चिम से व्यापार प्रारम्भ कर दिया था। इसी दिशा में पग बढ़ाते हुए विदेशी लोग स्याम की ओर भी पग बढ़ाते चले जा रहे थे। १६०४ ई० में डच लोगों ने अयोध्या में अपनी कोठी बनाई। इनकी देखादेखी फ्रैंच, इङ्गलिश और स्पैनिश लोग भी आये। इन व्यापारियों के पीछे पीछे ईसाई प्रचारक भी स्याम में प्रविष्ट हुये। वहां पर गोरे बनियों और पादरियों

का संबन्ध शान्तिपूर्ण रहा। अन्य देशों की भाँति स्याम में इन्होंने ऊधम नहीं मचाया। १६५६ ई० में स्यामी राजा ने अपने देश के सम्पूर्ण बन्दरगाह योरुपीय व्यापारियों के लिये खोल दिये। इतना ही नहीं, इसी समय दो स्यामी दूत भी व्यापारिक सन्धि के लिये फ्रांस के राजा पन्द्रहवें लुई के पास भेजे गये। १६६२ ई० में प्रकाशित हुई 'स्याम राज्य का वर्णन'[१] नामक पुस्तक का लेखक, जो डच व्यापारिक संघ का प्रधान था[२] स्याम और विदेशियों के पारस्परिक संबन्ध पर प्रकाश डालते हुये लिखता है— पोर्चुगीजों और स्यामियों की परस्पर मित्रता है, ये लोग बहुत समय से इस देश में मुक्तव्यापार करते रहे हैं। व्यापार के अतिरिक्त इन्हें देश में गिरजाघर बनाने और अपने धर्म का प्रचार करने की भी आज्ञा है। यहां तक कि ईसाई प्रचारकों को राज्य की ओर से मासिक वेतन भी दिया जाता है।[३]

विगत शताब्दियों में स्याम और बर्मा में जो परस्पर संघर्ष रहा, उससे स्याम में बौद्धधर्म का लोप सा हो गया था। तब सिंहलद्वीप ने अपने यहां से बौद्धसंघ को स्याम भेजकर वहां फिर से स्थविरवाद की स्थापना की। इससे पूर्व भी सूर्यवंशराम ने सीलोन के संघराज को अपने देश में निमन्त्रित किया था। इस प्रकार एक बार स्याम ने सीलोन से बौद्धधर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। आगे चलकर एक समय ऐसा भी आया जब स्याम में तो बौद्धधर्म बहुत उन्नति कर रहा था परन्तु सीलोन में वह अन्तिम सांस ले रहा था। बुद्ध की जन्मभूमि भारत में भी तब मुसलमानों के अत्याचारों से बौद्धधर्म ऋणमोचन

१. Description of the Kingdom of Siam.

२. Yeremias Van Vliet.

३. देखिये, Ancient Indian Colony of Siam. Page 79.

की ज्योति बुझ चुकी थी। इस दशा में जब अठारहवीं शताब्दी में सिंहलद्वीप में संघ की आन्तरिक दुर्बलताओं और बाहरी आक्रमणों के कारण बौद्धधर्म का दीपक बुझने लगा, उस समय स्यामी राजा धार्मिक ने ही महास्थविर उपाली की आधीनता में भिक्षुओं का एक मण्डल स्वर्ण तथा रजतमयी बुद्धप्रतिमायें और सारा त्रिपिटिक सीलोन भेजकर पांच सौ वर्ष पुराना ऋण चुकाया।

अयोध्या का पतन

जिस समय लार्ड क्लाईव भारतवर्ष में ब्रिटिशसाम्राज्य की आधारशिला रख रहा था, और जब प्लासी के संग्राम में यह निर्णय हो चुका था कि भारत का शासनसूत्र किस के हाथ में रहेगा, उस समय हिन्दचीन में स्यामी लोग एक नये नगर की स्थापना कर रहे थे। यही नगर कुछ समय पश्चात् स्याम की वर्त्तमान राजधानी बना। स्यामी लोग इसे क्रुङ्-देव (देवनगर) कहते हैं और अंग्रेजी पढ़े-लिखे बैङ्कॉक बोलते हैं। इसके अभ्युदय के साथ पुरानी राजधानी अयोध्या का पतन होना प्रारम्भ हो गया। इसके ह्रास का सबसे बड़ा कारण बर्मी आक्रमण थे। १७६७ ई० में बर्मियों ने फिर आक्रमण किया। इस वार अयोध्या नगर बिल्कुल नष्टभ्रष्ट कर दिया गया। तब से आज तक स्याम की राजधानी बैङ्कॉक ही है। इस नगर के साथ ही स्याम में नये वंश का भी प्रादुर्भाव हुआ क्योंकि बर्मियों के आक्रमणों से अयोध्या के शासक बहुत शिथिल पड़ गये थे।

देवनगर के 'राम'

(१७६७ से १६३६ तक)

१७६७ ई० में फॉय-ताक नामक एक स्यामी नेता ने बिखरी हुई स्यामी सेनाओं को एकत्र कर बर्मी लोगों को देश से बाहिर निकाल दिया। अयोध्या के पतन से बौद्धसंघ में बहुत गिरावट आगई थी। फॉयताक ने इसमें बहुत शीघ्र सुधार किया। इसी ने देवनगर की

स्थापना की थी। १७८२ ई० में चाव-फाय-चक्री राजा हुआ। इससे एक नये वंश का प्रारम्भ हुआ। यही वंश अब तक स्याम में शासन कर रहा है। स्याम के वर्त्तमान शासक अपने को इसी का वंशज बताते हैं। राजा बनते ही, इसने त्रिपिटक का सुधार करने के लिये तथा त्रिपिटक रखने का भवन बनाने के लिये एक सभा का आयोजन किया। इस वंश का द्वितीय शासक फ्रः-बुद्ध-लू-ला था। यह बहुत बड़ा कवि था। और आज भी यह अपनी कविता के लिये सम्मानित है। इस दृष्टि से इसकी तुलना भारतीय नरेश हर्षवर्धन से की जा सकती है। १८५१ ई० में मोङ्-कुट् उत्तराधिकारी हुआ। यह इस वंश का चतुर्थ शासक था। इसने १७ वर्ष शासन किया। यह गणित और ज्योतिष का अच्छा पण्डित था। सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का समय बता सकता था। विविध धर्मों का अध्ययन भी इसने किया था। इसकी गणना देवनगर के मुख्य शासकों में की जाती है। इसके समय स्याम मध्ययुग से निकल कर वर्त्तमान युग में आगया। सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रत्येक दृष्टि से इस समय स्याम ने बहुत उन्नति की। इसने दासप्रथा, शराब और अफीम के विरुद्ध आवाज उठाई। स्त्रियों की स्थिति में सुधार किया। स्यामी विवरणों को प्रकाशित किया। २६ वर्ष तक यह भिक्षु बना रहा। भिक्षुकाल में इसने एक नया पन्थ चलाया। योरुपीय राष्ट्रों के साथ संधियों द्वारा स्याम की अन्ताराष्ट्रीय स्थिति बनाई। तत्पश्चात् चूडालंकार राजा बना। इसने १८६८ से १६११ तक शासन किया। यह बहुत उदार और शिक्षित था। इसने त्रिपिटक को स्यामी लिपि में छपवा कर संसार के बड़े बड़े विद्वानों में वितीर्ण किया। बहुत से शिक्षणालय और दानकर्म इसके समय में खोले गये। दुर्भाग्यवश इसी के समय स्याम का कुछ प्रदेश फ्रेञ्च लोगों ने और कुछ अंग्रेजों ने छीन लिया। १६११ से १६२६ तक

वजीरावुध ने राज्य किया। १६१४ में इसने छठे 'राम' की उपाधि धारण की। इस वंश के राजा अपने पीछे 'राम' शब्द का प्रयोग करते हैं। क्योंकि यह इस वंश का छठा उत्तराधिकारी था इसलिये इसने अपने आपको षष्ठ राम घोषित किया। १६३५ में इसने भारत के तीर्थ स्थानों की यात्रा की। स्याम का यही प्रथम राजा था, जो भारत आया था। इसके अनन्तर प्रजाधिपाक उत्तराधिकारी हुआ। १६३२ में यहां वैध राजतन्त्र स्थापित हुआ। १६३५ में प्रजाधिपाक को राजगद्दी छोड़नी पड़ी। तत्पश्चात् आनन्द उत्तराधिकारी हुआ। यह नाबालिग था। अतः आजकल स्याम का शासन एक रीजेन्ट कौंसिल द्वारा होता है।

स्याम पर भारत की छाप

यह एक प्रसिद्ध कहावत है कि स्यामी संस्कृति भारतीय-संस्कृति की विरासत है। स्याम के धर्म, भाषा और रीतिरिवाजों पर अब तक भी भारत का अतुल प्रभाव विद्यमान है। वहां के संस्कार एक दम भारतीय संस्कारों का स्मरण कराते हैं। वहां का राजा अपने नाम के पीछे 'राम' शब्द का प्रयोग करता है। राजा, मंत्री और सर्वसाधारण के नाम भारतीय नामों की ही तरह हैं। संस्कृति के अन्य अंशों की तरह व्यवस्था पर भी भारत की पर्याप्त छाप विद्यमान है।

शासन-व्यवस्था स्याम में प्रारम्भ से अब तक राजतंत्र शासन है। राजा अपने को 'थेई लोगों का प्रभु' कहता है। क्योंकि वह धार्मिक नेता भी होता है, इसलिये वह अपने को धर्म का रक्षक भी समझता है। स्यामी राजा की स्थिति खलीफ़ाओं के सदृश है। जिस प्रकार खलीफ़ा लोग एक ओर तो राजनीतिक नेता होते थे और दूसरी ओर धर्माध्यक्ष भी, उसी प्रकार स्याम के राजा भी राजा होते हुए, धर्म के

मुखिया माने जाते हैं। इस दृष्टि से स्याम में देवतंत्र[1] है। राजा का एक राजगुरु होता है। जिसे वे 'महाराछ ख़ू' कहते हैं। इसकी सहायता से वह सब कार्य सम्पादन करता है। शासन में राजा से नीचे 'उपराज' होता है। इसे द्वितीय राजा भी कहते हैं। यह सेनापति भी होता है, इसलिये इसे 'युद्धराज' भी कहा जाता है। यह प्रायः राजा का भाई होता है। शासन की सुविधा के लिये एक सभा है। इसके नौ सदस्य होते हैं। इनके नाम बिल्कुल भारतीय हैं। मंत्री, पुरोहित, खड्गगाहो (तलवार पकड़ने वाला), छातागाहो (छत्रपकड़ने वाला), अस्स (अश्वरक्षक), नवरत्न (नौ हीरों से बने हार की रक्षा करने वाला), छद्दान्त (हस्तिरक्षक) अककल (जिसके द्वारा राजा से मिला जाता है) और अग्रमहिषी (पटरानी) इनके अतिरिक्त कुछ एक कर्मचारी और होते हैं। उनके नाम इसप्रकार हैं:—

(१) राजमंत्रिन्
(२) श्रीकलस (पुलिस अध्यक्ष)
(३) कोषाध्यक्ष
(४) सूरिजवंश (प्रधानमन्त्रिन्)
(५) अमात्य
(६) यमराज (कण्टकशोधन न्यायाधीश, Criminal Judge)
(७) सूर्यवंशमन्त्रिन् (वैदेशिक और युद्ध सचिव)

'दनसेई' में प्राप्त लेख में स्याम के कुछ अन्य कर्मचारियों के नाम भी दिये गये हैं। वे इसप्रकार हैं:—

(१) महा उपराद् (राजा का प्रतिनिधि, Viceroy)
(२) महासेनापति (Commander-in-chief)
(३) श्री राजाकोषाधिपति (Cashier)

---

१ Theocracy.

भारत की तरह स्याम में भी राजा के पांच चिह्न माने जाते हैं:—

(१) श्वेतछत्र

(२) व्यजन (पंखा)

(३) खड्ग (तलवार)

(४) राजमुकुट (Royal Diadem)

(५) राजकीय पादुकायें

स्यामी राजाओं में यह प्रथा है कि वे दिवाली के लगभग वर्ष में एक बार अवश्य तीर्थयात्रा करते हैं। इसीप्रकार की तीर्थयात्रायें भारत में सम्राट् अशोक और हर्षवर्धन किया करते थे। उन दिनों वे मंदिरों में नंगे पैर जाकर पूजा करते हैं। स्यामी राजा की दिन-चर्या मनुप्रदर्शित दिनचर्या से मिलती है। वह प्रातःकाल उठता है। नित्यकर्मों से निवृत्त होकर, राजप्रासाद में जाकर राज्य के आवश्यक कर्त्तव्यों को करता है। तत्पश्चात् भोजन कर विश्राम करता है। फिर वह उस विशाल भवन में प्रविष्ट होता है, जहां वह प्रजा के कष्ट सुनता है। आठ बजे भोजन से निवृत्त होकर शयन करता है। मनु ने व्यवहारों के अठारह भेद किये हैं इसी प्रकार स्यामी 'फ-तमसरत' भी अठारह ही भागों में बंटा हुआ है।[1] मनु ने दासों

१. मनु महाराज कहते हैं—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक्॥
तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म्म च॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसङ्ग्रहणमेव च॥

को सात श्रेणियों में बांटा है, स्यामी 'लक्षण-तात' में भी दास लोग सात समूहों में विभक्त किये गये हैं।[1] हिन्दू शास्त्रों के अनुसार व्याज मूलधन के दुगने से नहीं बढना चाहिये, स्याम में इस नियम का पालन अब तक किया जाता है।[2]

धर्म

स्याम का वर्त्तमानधर्म बौद्धधर्म है। राजा और प्रजा दोनों ही बुद्ध के अनुयायी हैं। स्याम में बौद्धधर्म का सर्वप्रथम प्रवेश ४२२ ई० में हुआ। बौद्धधर्म की धारा कम्बुज और बर्मा दोनों ही ओर से बही। तेरहवीं शताब्दी तक बौद्धधर्म का विशेष प्रचार नहीं हुआ। इससे पहले वहां हिन्दूधर्म का आधिपत्य था। कम्बुज की आधीनता में रहने से वहां के धर्म का स्याम पर बहुत प्रभाव पड़ा था। शिवमूर्त्ति पर खुदे हुए १५१० ई० के एक लेख से ज्ञात होता है कि राजा धर्माशोक ने अपने राज्य में शिव की पूजा प्रचलित की थी। वह शिव और बुद्ध दोनों को आदर की दृष्टि से देखता था। 'तकोपा' में उपलब्ध आठवीं शताब्दी के लेख से पता चलता है कि उस समय स्याम में एक विशाल विष्णुमन्दिर बनवाया गया था। हिन्दू-धर्म का प्रभाव स्याम में अब तक विद्यमान है। इस समय भी वहां शिव, विष्णु, लक्ष्मी और गणेश की मूर्त्तियां उपलब्ध होती

स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वयएव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥
मनु. अ० ३, श्लो० ३-७

१. मनु जी लिखते है:—
ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ।
पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैतेदासयोनयः॥
मनु० अ० ८, श्लो० ४१५

२. मनु जी लिखते हैं:—
कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता।
मनु अ० ८ श्लो० ८३

हैं। देवनगर के राजकीय मन्दिर की दीवारों पर रामायण की कथा चित्रों में अंकित है। स्यामी कलाकार आज भी यमराज, मार और इन्द्र की मूर्त्तियां बनाते हैं। हिन्दुओं के मेरु पर्वत का विचार इस समय भी स्यामिओं के मनों में घूमता है। शिव पूजा के द्योतक लिंग आज भी कई मन्दिरों में पाये जाते हैं, यथा 'फ्रो-के' मन्दिर में। ये सब बातें हिन्दूधर्म के अतीत गौरव का स्मरण कराती हैं। नामकरण, मुण्डन, कर्णवेधादि संस्कार तो षोडश संस्कारों के ही अवशेष हैं। इतना ही नहीं, इस समय भी स्याम में कुछ ब्राह्मण निवास करते हैं जिन्हें वहां के निवासी 'फ्रम्स' कहते हैं। 'फ्रम्' ब्राह्मण का अपभ्रंश है। ये लोग यथापूर्व अपने धर्म का पालन करते हैं। राजप्रासाद में इनका बहुत मान होता है। ये अपने को उन ब्राह्मणों का वंशज बताते हैं जो पांचवीं या छठी शताब्दी में भारत से आकर स्याम में आवासित हुए थे। देवनगर में इनकी एक छोटी सी बस्ती भी है। कुल मिलाकर इनके अस्सी घर हैं। यहां इनका एक मन्दिर भी है। कुछ ब्राह्मण ज्योतिष का काम करते हैं और कुछ विहारों के साधारण शिक्षक हैं। ये लोग सहस्रों वर्षों से अपने पूर्वजों के धर्म का पालन कर रहे हैं। धन्य हैं भारत के वे सपूत जो अपनी मातृभूमि से सैंकड़ों मील दूर, थोड़ी संख्या में होते हुए, भारत से किसी प्रकार का धार्मिक सम्बन्ध न होने पर भी अपने धर्म पर स्थिर हैं।

तेरहवीं शताब्दी में जब स्याम स्वतंत्र हो गया, तब बौद्धधर्म का प्रचार बड़ी प्रबलता से होने लगा। देश देश से बौद्धप्रचारक स्याम की ओर बढ़ने लगे। सूर्यवंशराम ने सिंहलद्वीप से संघराज को भी स्याम बुलाया और उससे प्रव्रज्या ग्रहण की। आगे चलकर स्याम में बौद्धधर्म की इतनी उन्नति हुई कि जब सिंहलद्वीप में आन्तरिक कलह और आक्रमणों द्वारा बौद्धधर्म का सांस घुटने लगा,

तो स्यामी भिक्षु उपाली के नेतृत्व में आये प्रचारकों ने ही बौद्धधर्म को वहां बचाया।

स्यामी लोग बुद्ध के बहुत भक्त हैं। बौद्धधर्म में उनकी अनन्य श्रद्धा है। सत्रहवीं शताब्दी का एक लेख इस पर अच्छा प्रकाश डालता है। यह लेख 'जेरेमिअस-वन-वलीत' का लिखा हुआ है। वह लिखता है—'देश भर में बहुत से छोटे बड़े मन्दिर हैं। ये बहुत सुन्दर बने हुए हैं। प्रत्येक मन्दिर में धातु, पत्थर आदि की बनी हुई सैंकड़ों मूर्त्तियां प्रतिष्ठित हैं। मन्दिर की वेदी पर एक मूर्त्ति अवश्य होती है। मूर्त्ति के नीचे बहुत से मन्दिरों में सोना, चांदी तथा बहुमूल्य पत्थर—लाल, हीरे आदि गड़े रहते हैं। सब भिक्षु पीला चीवर पहनते हैं। कुछ बड़े भिक्षु लालरंग का चीवर धारण करते हैं। भिक्षुओं के सिर मुंडे रहते हैं। इनमें से जो विद्वान् हैं वे पुरोहित बनाये जाते हैं। इन पुरोहितों में से मन्दिरों के अध्यक्ष चुने जाते हैं। इनके लिये विवाह करना निषिद्ध है। इन्हें स्त्रियों से बातचीत तक करना मना है। भिक्षु लोग अपने पास धन नहीं रखते और न वे रखना ही चाहते हैं। उनके खाने के लिये राज्य की ओर से या भिक्षा द्वारा भोजन मिल जाता है। वे उतना ही ही मांगते हैं जितना एक दिन के लिये पर्याप्त होता है। वे शराब नहीं पीते। सूर्यास्त के पश्चात् भोजन नहीं करते। उस समय केवल कुछ पान ही चबाते हैं।'[1] इस वर्णन से स्पष्ट है कि भिक्षु कितना सादा जीवन व्यतीत करते हैं। प्रातःकाल उठकर स्नानादि के पश्चात् लगभग छः बजे ही भिक्षु लोग भिक्षा के लिये निकल जाते हैं। गृहस्थ पहले से ही भिक्षा लिये खड़े रहते हैं। भिक्षु उनके द्वारों पर कुछ देर रुक कर आगे चल देते हैं। यदि कोई देता है, तो ले लेते हैं, अन्यथा बढ़े चले जाते हैं। भिक्षा मौन होती है।

१. देखिये, Ancient Indian Colony of Siam, Page—103

भिक्षा मांगते हुए भिक्षु कुछ नहीं बोलते। जब गृहस्थ के पात्र में भिक्षा समाप्त हो जाती है तो वह पात्र उल्टा रख देता है। उसे उल्टा देख फिर कोई भिक्षु वहां नहीं रुकता। इस प्रकार भिक्षा द्वारा भिक्षु लोग जीवन-निर्वाह करते हैं।

स्याम, एक बौद्धराज्य है इस लिये वहां भिक्षुओं की संख्या बहुत अधिक है। वहां १६,५०३ विहार और १,३०,०५८ भिक्षु हैं। लगभग एक करोड़ की जनसंख्या में १६ हजार विहार तथा सवालाख भिक्षु, कुछ कम संख्या नहीं है। स्वभावतः प्रश्न होता है कि स्याम देश इतनी बड़ी, बैठीठाली जनसंख्या को कैसे और क्योंकर खिलाता है? इसका उत्तर यही है कि स्याम के विहार एक प्रकार के शिक्षणालय हैं। उनमें रहने वाले भिक्षु विद्यार्थी हैं। स्यामी लोग संसारत्याग की भावना से भिक्षु नहीं बनते, प्रत्युत संसार की पूर्त्ति के लिये। वे सोचते हैं कि चाहे तीन ही मास क्यों न हो, प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में एक वार भिक्षु अवश्य बनना चाहिये। इससे जहां यह हानि पहुंची है कि भिक्षुव्रत सस्ता हो गया है, वहां यह लाभ भी अवश्य हुआ है, कि समस्त जाति में एकानुभूति पैदा हो गई है। भिक्षु और गृहस्थी दोनों एक दूसरे की चिन्ता रखते हैं।

स्याम के अधिकांश विहारों का प्रबन्ध राज्य के आधीन है। वहां, भारत के मठों की तरह, यह आवश्यक नहीं कि गुरु का प्रधान-शिष्य ही विहार का उत्तराधिकारी हो। जब किसी विहार का संचालन करने के लिये किसी भिक्षु की आवश्यकता होती है, तो किसी भी विहार के योग्य भिक्षु को वह विहार सौंप दिया जाता है। सिंहलद्वीप की तरह यहां के भिक्षुओं का भी संघ है। भिक्षुओं में सर्वोपरि स्थान पाने वाले भिक्षु को 'संघराज' कहा जाता है। यह पद प्रायः राजपरिवार के ही किसी व्यक्ति को

प्राप्त होता है। संघराज का भिक्षुसंघ पर बहुत प्रभाव है। यद्यपि राजा धर्म का अध्यक्ष माना जाता है, तथापि आवश्यकता पड़ने पर, संघराज राजा की इच्छा से विरुद्ध भी काम कर लेता है। इसके निजू व्यय के लिये राज्य की ओर से ८० टिकल[१] दिये जाते हैं। संघराज के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से भिक्षुओं को राज्य की ओर से खर्च मिलता है। यह धन भिक्षुओं को सीधा प्राप्त नहीं होता है। प्रत्येक विहार में एक 'कप्पियकारक' होता है। उसी के पास रुपया रहता है, और वह भिक्षुओं को उनकी आवश्यक वस्तुएं ला देता है। उसी के पास आयव्यय का सब व्यौरा रहता है। सभी पदाधिकारियों और उन पर राज्य की ओर से होने वाले व्यय का व्यौरा इस प्रकार है[२]:—

पद	पदाधिकारियों की संख्या	राज्यकोष से व्यय
संघराज	१	८० टिकल प्रत्येक को
सोभडैट	४	४० " "
चौखनारो	५	३८ " "
थम	८	३५ " "
थेप	७	२८ " "
राद्	७	२५ " "
नायक	११८	२४-१६ " "
बलत्	अज्ञात	१६-१३ " "
पक्रू	८००	६ " "

इतना खर्च राजा की ओर से भिक्षुसंघ के पदाधिकारियों पर किया जाता है।

१. एक टिकल एक रुपये से कुछ ही अधिक होता है।

२. यह वर्णन मैं भदन्त श्री आनदकौसल्यायन जी की कृपा से प्राप्त कर सका हूँ। आप स्याम हो आये हैं। इसके लिये मैं उनका बहुत कृतज्ञ हूँ।

त्यौहार — अन्य देशों की भांति स्याम में भी बहुत से त्यौहार मनाये जाते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण यहां दिया जाता है:[1]—

श्राद्ध—बुद्ध की उत्पत्ति, ज्ञानप्राप्ति और निर्वाण— ये तीनों त्यौहार वैशाख पूर्णिमा के दिन किये जाते हैं। इन दिनों भिक्षुकों को भिक्षा नहीं मांगनी पड़ती, प्रत्युत गृहस्थी लोग इन्हें अपने घरों पर बुला कर भोजन कराते हैं। जब भिक्षु भोजन कर रहे होते हैं तब गृहस्थ लोग पानी गिरा गिरा कर कहते हैं:— हमने भिक्षुओं को जो भोजन दिया है, और इससे हमें जो पुण्य प्राप्त हुआ है, वह हमारे मृतपिताओं, मृतमाताओं और मृतसंबन्धियों के लिये हितकारी हो।[2] कहना न होगा कि यह हिन्दुओं की श्राद्धप्रथा का ही अवशेष है। इस दिन जलूस निकाले जाते हैं और रात्रि को प्रकाश किया जाता है।

संक्रान्ति उत्सव— नववर्ष का यह त्यौहार तीन दिन तक मनाया जाता है। इन दिनों बुद्ध की मूर्त्तियों पर वस्त्र, आभूषण, फल, फूल आदि खूब चढ़ाये जाते हैं। बड़े घरानों के लोग भिक्षुओं को घरों पर बुला कर उपदेश सुनते हैं। नाचगान भी बहुत होता है।

वर्षावास—वर्षा ऋतु के आरम्भ और अन्त में उत्सव मनाये जाते हैं। इन दिनों भिक्षु लोग धार्मिक कर्त्तव्यों का बड़ी कठोरता से पालन करते हैं। वर्षा ऋतु की समाप्ति पर 'थोद-कठिन' नाम से एक त्यौहार मनाया जाता है। इसे पाली में 'कठिन' कहा जाता

१. इन त्यौहारों का परिचय मुझे सारनाथ निवासी, एक स्यामी भिक्षु 'वरुण' से मिला है। इस जानकारी के लिये मैं उनका भी बहुत कृतज्ञ हूँ।

२. उस समय यह श्लोक बोला जाता है—

यथा वारिवहा पूरा परिपूरेन्ति सागरं।
एवमेव इतो दिन्नं पेतानं उपकप्पति॥

हैं। इन दिनों भिक्षुओं को 'कठिन' नामक चीवर विशेष बांटे जाते हैं। स्याम के प्राचीन इतिहास में इसका बहुत महत्त्व था। रामखम्हेङ् ने अपने लेख में लिखा है:—'कठिन का मेला एक मास तक रहता है।' इस से ज्ञात होता है कि स्याम के प्रारम्भिक इतिहास में इस उत्सव का बहुत महत्त्व था। आज दिन तक स्यामी लोग इसे बड़े चाव से मनाते हैं। राजा और कुलीन लोग हजारों की संख्या में चीवर बांटते हैं, तथा मन्दिरों में जाकर पूजा करते हैं।

पिथि-रैक-ना-ख्वन्—वर्ष में एक दिन राजा स्वयं या अपने किसी प्रतिनिधि द्वारा देवनगर के बाहर खेतों में हल चलाता है। वह अपने साथ कुछ बीज भी ले जाता है, जिन्हें बोया जाता है। साथ साथ भिक्षु लोग मंगल गान करते हैं। अन्त में, बैल के सींगों में भरा जल खेत पर छिड़क दिया जाता है। इस उत्सव में भी भारतीयता का आभास है। अंग्रेजी पढ़े लिखे इसे "Ploughing Festival" कहते हैं।

पिथि-लाय-का-थोङ्—इस दिन केले या नारियल के पत्ते पर धूप, दीप, पान और पुष्पमालायें रख कर पानी में बहाई जाती हैं। यह सब पुण्यलाभ की आशा से किया जाता है। भारत में भी हिन्दू लोग गंगा में फूलों से भरे दोनों में दीप जगा कर बहाते हैं।

चन्द्रग्रहण—इस दिन स्यामी लोग खूब बन्दूकें छोड़ते हैं। तरह तरह के पदार्थों से शोर मचाते हैं। यह सब इसलिये किया जाता है जिससे 'राहु' डर कर भाग जाये और चन्द्रमा को न ग्रस सके। इन उत्सवों के अतिरिक्त कुछ एक संस्कार और भी किये जाते हैं, जो हिन्दुओं के षोडश संस्कारों के आधार पर हैं।

मुण्डन—बच्चे की उत्पत्ति के सातवें दिवस, उसके प्रथम बालों को उस्तरे से काटा जाता है। यह संस्कार 'चूडाकुन्तन मंगल' के

नाम से प्रसिद्ध हिन्दू संस्कार हैं। आश्चर्य यह है कि स्याम जैसे बौद्ध देश में यह क्योंकर प्रचलित है? संस्कार के लिये एक दिन निश्चित किया जाता है। उस दिन सम्बन्धी जन इकट्ठे होकर बच्चे को आशीर्वाद देते हैं। बच्चे के समीप का कोई सम्बन्धी उसके बाल काटता है और साथ साथ बाजा बजता जाता है। तदनन्तर बच्चा सबसे उपहार ग्रहण करता है और उसके संबन्धी सबको भोजन कराते हैं। राजकुमारों का मुण्डन बड़ी धूमधाम से किया जाता है। उसमें ब्राह्मण लोग प्रमुख भाग लेते हैं। ब्राह्मण राजकुमार के सिर पर पवित्र जल छिड़कता है। और उसके बालों को तीन भागों में बांटा जाता है जो शिव विष्णु और ब्रह्मा के भाग समझे जाते हैं। राजा अपने हाथ से राजकुमार के बाल काटता है। इसी समय दो अन्य ब्राह्मण शंख बजाते हैं। तदनन्तर राजकुमार एक कृत्रिम पर्वत पर ले जाया जाता है। इसे कैलास का प्रतिनिधि मानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि कैलाश पर शिवजी महाराज ने अपने पुत्र गणेश का मुण्डन किया था। राजकुमार के सिर पर फिर से पवित्र जल छिड़का जाता है। फिर सफेद रुई का बना मुकुट किसी ब्राह्मण द्वारा उनके सिर पर रक्खा जाता है। यह उत्सव एक सप्ताह तक रहता है। इससे स्पष्ट है कि स्याम में मुण्डन-संस्कार का आज भी कितना महत्त्व विद्यमान है।

नामकरण—उत्पत्ति के अनुसार मास, दिवस, नक्षत्र को दृष्टि में रखकर ब्राह्मण नवजात शिशु का नाम रखता है। हिन्दुओं में इसे नामकरण संस्कार कहा जाता है।

कर्णवेध—कान में कुण्डल पहनाने के लिये उसे बींधा जाता है। यह संस्कार भी स्याम में प्रचलित है। लड़कियों का कर्णवेध बहुत सजधज से किया जाता है।

विवाह—मनु के अनुसार स्त्री का कम से कम सोलह वर्ष की अवस्था में और पुरुष का पचीस वर्ष की आयु में विवाह होना चाहिये, परन्तु स्याम में साधारणतः स्त्री और पुरुष १७ वर्ष में विवाह कर लेते हैं। वहां बहुविवाह भी प्रचलित है। स्यामी पद्धति के अनुसार पति अपनी पत्नी को बेच भी सकता है। परन्तु वह दहेज लाने वाली स्त्री को नहीं बेच सकता।

मृतकसंस्कार—जब कोई व्यक्ति मरता है, तो उसके संबन्धी उसे स्नान कराते हैं। उसके कपड़े उलट दिये जाते हैं। धोती, कुर्ते और टोपी का मुख पीछे की ओर कर दिया जाता है। उसकी सब प्रिय वस्तुएं लेकर, कफ़न डालकर, उसकी तसवीर तथा मालायें आदि रखकर शव को एक ऊंचे स्थान पर धर देते हैं। तीन रात और तीन दिन तक, तीन अथवा सात भिक्षु पाली सूत्रों (पिरितपरित्राण-धर्मदेशना) का पाठ करते हैं। तीन दिन पश्चात् विहार के श्मशान[1] वाले हिस्से में शोकध्वनि करने वाले वाद्य बजाते हुए शव को जला दिया जाता है। जलाने से पूर्व मृत पुरुष पर चीवर रख कर भिक्षु कहता है:—

> अनिच्चावत संखारा उप्पादि वयधम्मिनो-
> उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति ते संवूय समो सुखो ॥ धम्मपद[2]

अर्थात् सब संस्कार अनित्य हैं। उत्पन्न होना और विनष्ट होना उनका स्वभाव है। उत्पन्न होकर वे निरोध को प्राप्त होते हैं। उनका

१. स्याम के प्रत्येक विहार में दो भाग होते हैं। एक तो रहने के लिये और दूसरा मृतक संस्कार के लिये।

२ इसका संस्कृतरूप निम्न प्रकार से है:—

अनित्या वत संस्कारा उत्पादव्ययधर्मिणः।

उत्पद्य निरुध्यन्ते तेषां संव्युपशमः सुखम् ॥

उपशमन होना ही सुख है— यह बोलकर चीवर हटा देते हैं। तदनन्तर कुछ व्यक्ति नारियल तोड़ कर मृत व्यक्ति के मुख पर उसका पानी छिड़कते हैं। तब मुर्दे को जला दिया जाता है। कुछ लोग शव को भूमि में भी दबाते हैं और वहां लकड़ी गाड़ कर उस पर मृतव्यक्ति का नाम, तिथि आदि लिख देते हैं।

साहित्य भारतीय धर्म, त्यौहार और संस्कारों के साथ साथ भारतीय साहित्य भी स्याम में प्रविष्ट हुआ। इस साहित्य में अधिकांश भाग बौद्धधर्म का है। हिन्दूसाहित्य बहुत कम रह गया है। इसका कारण जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हिन्दूधर्म के स्थान पर बौद्धधर्म का प्रसार है। स्यामी साहित्य में एक पुस्तक है जिसका नाम 'राम के उन' है। यह रामायण का स्यामी रूप है। कहा जाता है कि जैसे बर्तन में पानी डाला जाता है वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। यही सिद्धान्त धर्म और साहित्य के विषय में भी सत्य है। इस पुस्तक में राम और लक्ष्मण दो भाइयों की कथा है। जिन्होंने रावण के साथ लड़ाइयां लड़ीं, क्योंकि रावण ने राम की स्त्री सीता को चुरा लिया था। स्यामी साहित्य में एक और भी ग्रन्थ ऐसा है, जो रामायण पर आश्रित है। इसका नाम 'फालि-सान्-नाक्' है। इसमें वानराधिपति बालि द्वारा सुग्रीव को दी हुई शिक्षायें संगृहीत हैं। स्यामी विवरण के अनुसार बालि और सुग्रीव दो भाई थे जिन्होंने राम के साथ मिलकर लंका पर आक्रमण किया। जब दोनों भाइयों में झगड़ा हुआ तो राम ने सुग्रीव को मार दिया। स्याम तक पहुंचते पहुंचते यह घटना कुछ परिवर्तित हो गई है। रामायण के अनुसार राम ने बालि को मारा था और उसकी मृत्यु लंका पर आक्रमण करने से पूर्व ही हो गई थी। लंका पर आक्रमण के समय बालि राम के साथ न था। एक अन्य स्यामी पुस्तक में दोनों भाइयों के साहसिक कृत्यों का वर्णन है। इसका नाम 'फरिआ-

फलिङ्-सुक्रीप' है। स्यामी साहित्य की कुछ पुस्तकें महाभारत पर आश्रित हैं। इनमें से एक का नाम 'उन्मारूत' है। इसमें श्रीकृष्ण जी के पौत्र 'अनिरुद्ध' का कथानक है। एक अन्य पुस्तक में सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन है। इसमें बौद्धों के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है। इसी के एक अध्याय में लिखा है कि स्यामी लोग मनु से परिचित थे। स्यामी पुस्तक 'पक्खवदि' में हिन्दू देवी 'भगवती' का वर्णन है। इसी प्रकार 'समन खोदोन' में बुद्ध का जीवनचरित्र, 'फोतिसत' (बोधिसत्त्व) में बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथायें और 'बुद्ध-लक्षण' में मूर्त्तिनिर्माणकला का वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त स्यामी लोगों ने स्वयं भी बहुत सा बौद्धसाहित्य विकसित किया है। नान्‌किति ने बुद्धघोषरचित अट्ठकथाओं की व्याख्या की है। श्रीमङ्गल ने 'वसन्तरदीपनी' और विमलधर्म ने 'संगीतिवंश' लिखा। 'उप्पातसन्ति' में बुद्ध, धर्म तथा संघ की प्रशंसा और 'जिकालमालिनी' में बुद्ध के पूर्वजन्मों, तीन महासभाओं और विविध देशों में बौद्धधर्म के प्रचार का वर्णन किया गया है। यह बात सचमुच भारत के लिये गर्व की है कि स्याम ने भारत से ग्रहण किये धर्म को अपने देशवासियों में स्थिर रखने के लिये, उसे जनता के हृदय में प्रतिष्ठित करने के लिये सर्वसाधारण की भाषा में निरूपित कर दिया है। इससे जहां स्यामी साहित्य की वृद्धि हुई है, वहां बौद्धसाहित्य का भी विकास हुआ है। हिन्दुओं के नीति-ग्रन्थों की तरह स्याम में भी नीतिग्रन्थ पाये जाते हैं। वहां के राजकीय नियमों पर भी इसका पर्याप्त प्रभाव विद्यमान है। स्याम में यह अनुश्रुति भी प्रचलित है, कि स्याम ने वैद्यक का प्रथम ज्ञान भारत से प्राप्त किया था। इसे स्याम में भगवान् बुद्ध की चिकित्सा करने वाले 'कुमारभक्ता' ने प्रविष्ट किया था। स्यामी भाषा में इसके ग्रन्थ का नाम रोख-निधान (रोग—निदान) है। इस प्रकार

स्यामी साहित्य का बहुत बड़ा हिस्सा, विशेषतया धार्मिक, भारतीय साहित्य से लिया गया है।

भाषा धार्मिक साहित्य की तरह स्यामी भाषा पर भी भारत का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। नीचे कुछ शब्द दिये जाते हैं जिनसे यह बात स्पष्ट होती है कि स्यामी शब्द संस्कृत शब्दों के ही अपभ्रंश हैं। यथा:—

संस्कृत	स्यामी	संस्कृत	स्यामी
आकार	अकर	अमरावती	अमरवदि
अम्बर	अम्फर	अञ्जलि	अञ्छलि
अवसाद	अफसाद	आराम	अराम
असुर	असुर	पत्र	बत्र
अश्व	अस्व, अस्स	परमकोष	बरमकोत
जम्बुद्वीप	छम्फु-थ्वीब	चतुर	जतुर
चैत्र	जेत	तुषित	दुषित
हरि	ह-रि	ईश्वर	इत्स्वर
इच्छा	इत्छा	कपिलवस्तु	कबिल-वत्थु
कण्ठ	कण्थ	गमन	खमन
गङ्गा	खङ्खा	गरुड़	करुत
कुशल	कुसल	ललाट	ल-लाट
लाभ	लाफ	महा	महा
मास	मास	मेघ	मेक
मित्र	मित, मित्र	नाग	नाख
नालिका	नलिक	नमो	नमो
निवेश	निवेस	अङ्गुली	अङ्गुली
बन्धु	फन्थु	वेद	फेत
भिक्षु	पिक्खु	बुद्ध	फुत, फुत्थ

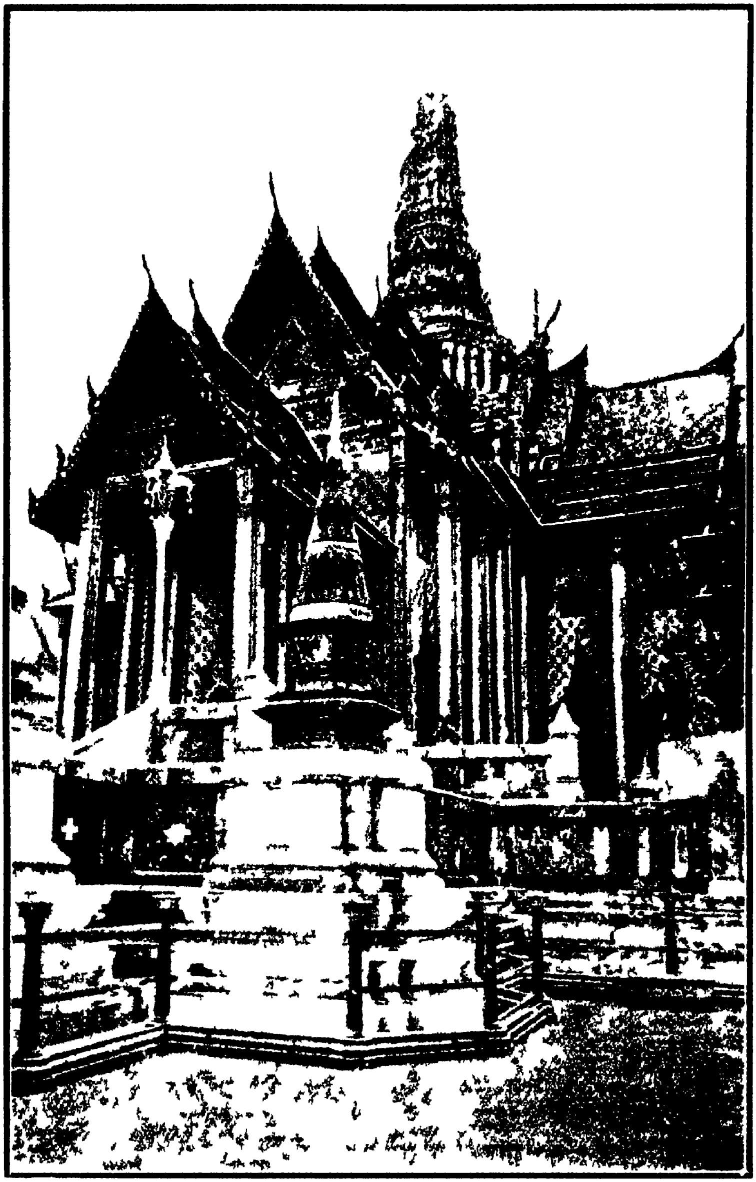
संस्कृत	स्यामी	संस्कृत	स्यामी
भूमि	फूमि	राहु	रहु
रामेश्वर	रमेस्वन्	सहस्र	सहस्र
शाल	साल	शील	सिन, सील
ताल	तल	त्रिशूल	त्रिसुन्
वरुण	वरुन्	वेदाङ्ग	वेथाङ्ग्स
योनि	योनि	यक्ष	यक
जीव	यिव		

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि स्यामी और संस्कृत शब्दों में बहुत कम अन्तर है। इसे तो एक प्रकार की प्राकृत भाषा ही समझना चाहिये। स्यामी शब्दों में फ, व, न और लघुस्वरों का प्रयोग अधिक किया गया है। यदि इन्हें ठीक कर दिया जाये तो यह भी संस्कृत ही बन जाये।

बृहत्तरभारत के अन्य देशों की भांति स्याम भी प्राचीन स्मारकों से भरा पड़ा है। ये स्मारक हिन्दू और बौद्ध दोनों प्रकार के हैं। बौद्धों की अपेक्षा हिन्दुओं के स्मारक संख्या में कम हैं। इसका कारण—जैसा कि पहले कहा गया है—तेरहवीं शताब्दी से बौद्धधर्म का निरन्तर प्रबल प्रचार है। तथापि तेरह सौ वर्षों तक कंबुज के आधीन रहने से, और कंबुज में हिन्दूधर्म का प्रचार होने से, हिन्दुओं के स्मारक भी पर्याप्त संख्या में विद्यमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और इन्द्र की बहुत मूर्त्तियां उपलब्ध हुई हैं। हिन्दू देवालयों में बुद्धप्रतिमा भी विष्णु के अवतार के रूप में पाई जाती है। मीनम की घाटी में हिन्दू संस्कृति के स्मारक विशेषरूप से पाये जाते हैं। 'चनाबुन्' प्रान्त में एक लेख प्राप्त हुआ है, जो आधा संस्कृत और आधा ख्मेर भाषा में लिखा हुआ है। इससे पता चलता है कि कभी वहां पर हिन्दू लोग बसते थे, और वे प्राचीन स्मारक

अपनी स्मृति में यह लेख छोड़ गये हैं। 'सक्सन् लेई' में बहुत से लिङ्ग पाये गये हैं। मॉङ्-सिङ् मन्दिर भारत-ख्मेर कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। इसकी आकृति दक्षिणभारत के गोपुरों जैसी है। गोपुरों की भांति इसमें चार चित्रशालायें हैं। इसके पूर्व में ही 'पंचपुरी' का मन्दिर है। यह भी गोपुराकृति का है। प्रारम्भ में यह हिन्दू देवालय था परन्तु ज्यों ज्यों बौद्धों का प्रभाव बढ़ता गया त्यों त्यों हिन्दूमूर्त्तियों का स्थान बौद्धप्रतिमायें ग्रहण करती गई। गरुडारूढ़ विष्णु और द्वारपालों की मूर्त्तियां अब तक स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन मन्दिरों का निर्माण करने वालों के सम्मुख दक्षिणभारत के गोपुरों का नक्शा अवश्य रहा होगा। 'क्सय' के मन्दिर में हिन्दू और बौद्ध दोनों प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं। यहां बुद्ध को विष्णु के अवतार के रूप में देखा गया है। खाओ-फ्र-नरई (विष्णुलोक पर्वत) पर एक लोहखण्ड पर तीन मूर्त्तियां बनी हुई हैं। बीच में शिव जी बैठे हुये हैं, और दोनों ओर एक एक अप्सरा नृत्य कर रही है। यह चित्र द्राविड़ कला का उदाहरण है। यह किसी दक्षिण-भारतीय के हाथ का कौशल जान पड़ता है।

स्याम के प्राचीन नगरों—सुखोदय, अयोध्या, और देवनगर—में बौद्धविहार, स्तूप और मन्दिरों की भरमार है। देवनगर के वत-फ्र:-केओ विहार में गणेश की दो मूर्त्तियां विद्यमान हैं। रामखम्हेङ् का प्रसिद्ध लेख भी इसी विहार में है। यहीं पर १३१५ ई० का एक लिङ्ग भी है, जिस पर एक लेख उत्कीर्ण है। देवनगर के अद्भुतालय में गणेश, विष्णु, लक्ष्मी और शिव की बहुत सी मूर्त्तियां संगृहीत हैं। एक मूर्त्ति में शिव ने अपने दोनों हाथ जोड़े हुये हैं। एक में उसने शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये हुवे हैं। इनके अतिरिक्त बुद्ध की बहुत सी मूर्त्तियां विद्यमान हैं।



स्याम का वत-क्र-वेंओ विहार

(मैसर्स मोतीलाल बनारसीदास पुस्तकविक्रेता लाहौर, के सौजन्य से प्राप्त)

कोई भूमिस्पर्श मुद्रा की, कोई ध्यानमुद्रा दशा की। किसी में श्रद्धालु लोग बुद्ध की पूजा कर रहे हैं। नटराज के रूप में शिव की पूजा कंबुज की तरह यहां भी प्रचलित थी। 'नटराज' की भी कई मूर्त्तियां यहां प्राप्त हुई हैं। स्याम के प्राचीन अवशेषों में 'लोफबुरि' का विशेष स्थान है। यहां हिन्दुओं के एक प्राचीन मंदिर के ध्वंसावशेष खड़े हैं। यह मन्दिर उस समय का बना हुआ है जब स्याम पर कम्बुज का अधिकार था। यहां तीन घनाकार भवन हैं। ये तीनों छतदार चित्रशालाओं द्वारा परस्पर मिले हुए हैं। सम्भवत: ये भवन ब्रह्मा, विष्णु और शिव को समर्पण किये गये थे। लेकिन कालान्तर में इन्हें बौद्ध रूप दे दिया गया। इन स्मारकों के अतिरिक्त हजारों विहार तथा मन्दिर बुद्ध की मूर्त्तियों से भरे पड़े हैं।

इस प्रकार बृहत्तरभारत के अन्य देशों की तरह, स्याम ने भी भारत से ही संस्कृति, सभ्यता और धर्म का पाठ पढ़ा। स्याम ने मनु के वचन को सत्य सिद्ध करते हुए भारत को अपना गुरु स्वीकार किया। यद्यपि आज अन्य राष्ट्र अपने दीक्षा गुरु भारत को भूल चुके हैं, परन्तु स्याम अपने गुरु का आज भी स्मरण करता है। स्यामी राजा अपने नाम के पीछे राम शब्द का प्रयोग करता हुआ, चूड़ाकर्म संस्कार के समय अपने हाथ से राजपुत्र के प्रथम बालों को काटता हुआ, ब्राह्मणों द्वारा राजकुमार के सिर पर पवित्र जल छिड़कता हुआ, भारत के अतीत सांस्कृतिक संबन्ध को आज भी जीवित रख रहा है। वहां की भाषा, वहां का साहित्य, वहां का धर्म और वहां के स्मारक भूतकाल के उस भव्य युग की झांकी दिखा रहे हैं जब दोनों देश परस्पर स्नेह के स्वर्णीयसूत्र से बंधे हुए थे। स्यामी नगरों और राजाओं के नाम इस अमरकथा को आज भी सुनाते हैं कि हमने अपनी दीक्षा जगद्गुरु भारत से ग्रहण की है। उपसंहार

यही कारण है कि वर्त्तमान समय में जब हिन्दू लोग किसी आत्मीय को ढूंढते हुए भारत से बाहर दृष्टि दौड़ाते हैं तो उनकी आंखें सहसा स्याम पर जाकर टिकती हैं। आज यदि संसार में कोई स्वतंत्र देश है, जहां हिन्दूसंस्कृति के प्राणभूत–ब्राह्मण लोग अपने धर्म का स्वेच्छया पालन करते हैं और उनका राजदरबार में समुचित सम्मान है; तथा यदि कोई ऐसा देश है जहां के निवासी हिन्दू संस्कारों को आज भी करते हैं तो वह केवल स्याम ही है।

एकादश-संक्रान्ति

महासागर की लहरों पर-

एकादश-संक्रान्ति

महासागर की लहरों पर-

भारतीय उषा की आभा

भारत और सुवर्णद्वीप

भारत और सुवर्णद्वीप—आवासकों के पहुँचने से पूर्व—साहित्य में सुवर्णद्वीप—स्वर्णद्वीप का आवासन— मलाया प्रायद्वीप—सुमात्रा—जावा—बाली—बोर्नियो—सॅलिबस—सप्तम शताब्दी तक सुवर्णद्वीप की सभ्यता—शैलेन्द्रों का उत्थान और पतन—शैलेन्द्रों का अभ्युदय —शैलेन्द्रों की समृद्धि—शैलेन्द्रों और चोलों में संघर्ष—शैलेन्द्रों का पतन—मलाया प्रायद्वीप के हिन्दूराज्यों की समाप्ति—शैलेन्द्रों के पश्चात्—मलक्का का उत्थान—पतन की ओर—सुमात्रा के हिन्दूराज्य का अन्त—मलायु का अभ्युदय—इस्लाम का आगमन—जावा तथा बोर्नियो में हिन्दूराज्य का अन्त—इस्लाम का प्रवेश—दुःखद अन्त—बाली में हिन्दुओं के स्वतंत्र राजवंशों का अन्त—

आवासकों के पहुंचने से पूर्व

जिस समय भारतीय आवासक कंबुज में भारतीय संस्कृति की आधारशिला रख रहे थे उसी काल में कुछ साहसी प्रवासी मलायेशिया में भारतीय सभ्यता का भवन खड़ा कर रहे थे। भारतीयों के पहुंचने से पूर्व वहां के निवासी जिन्हें आस्ट्रोनेशियन कहा जाता है, सभ्यता की प्रारम्भिक दशा में थे और कुछ प्रदेशों में तो ये बर्बरता की दशा से भी पार न हुये थे। डा० कर्न ने मलायेशिया के प्राचीन निवासियों की सभ्यता का पता लगाने के लिये बहुत यत्न किया है।

उन्होंने इनके जीवन का चित्र इस प्रकार खींचा है:—"आस्ट्रोनेशियन लोग केला, गन्ना और खीरे की कृषि करते थे। बांस, नारियल तथा चावल से वे परिचित थे। केंकड़ा, कछुआ और मछली समुद्र से प्राप्त करते थे। भैंस, सूअर और सम्भवत: गौ को भी वे पालते थे। गौ और भैंस से दूध तथा खेती का काम भी लिया जाता था। शिकार तथा मछली पकड़ने की प्रथा बहुत थी। लोहे के औजार भी प्रयोग में लाये जाते थे। पेड़ों की छाल ही उनका पहरावा था। बुनना भी वे जानते थे। मकान लकड़ी के बनाते थे। एक सहस्र तक की गणना तथा ज्योतिष का ज्ञान भी उन्हें था। समुद्रयात्रा में भी उन्हें बहुत रुचि थी। संसार की अन्य जातियों की तरह वे भी प्रकृतिपूजक थे। मुर्दे या तो समुद्र में फेंक दिये जाते थे या पशु, पक्षियों द्वारा खाने के लिये जंगल में छोड़ दिये जाते थे।"[१] इन इन्डोनेशियन लोगों में संस्कृति का सर्वप्रथम प्रचार करने वाले हिन्दू लोग थे। हिन्दू लोग पहले-पहल वहां कब पहुंचे, इस विषय में निश्चित तौर पर कुछ ज्ञात नहीं होता? केवल इतना ही ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में भारतीय लोग मलायेशिया के प्रदेशों में आवासित होने लगे थे।

साहित्य में स्वर्णद्वीप

मलायेशिया में सब मिला कर छः सहस्र द्वीप हैं। इनमें से मुख्य– मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बाली बोर्नियो और सॅलिबस हैं। प्राचीन समय में बर्मा से लेकर मलाया प्रायद्वीप तक तक के सम्पूर्ण प्रदेश को स्वर्णभूमि और शेष जावा सुमात्रा आदि सब द्वीपों को स्वर्णद्वीप कहते थे। प्राचीन ऐतिहासिकों और यात्रियों के विवरणों से इसका समर्थन होता है। 'पैरिप्लस' गङ्गा

१. देखिये Suvarndvipa, by R C. Mazumdar
Page 31-32

से अगले प्रदेश का नाम 'श्रीस्' देता है। इसमें वह बर्मा, हिन्दचीन और मलायाद्वीपसमूह को सम्मिलित करता है। अरब लेखक तो स्पष्टरूप से इन सब द्वीपों के लिये स्वर्णद्वीप शब्द का प्रयोग करते थे। अल्बरूनी लिखता है— "जावज उस द्वीप का नाम है जिसे हिन्दू लोग स्वर्णद्वीप कहते हैं, जिसका अभिप्राय है— सोने के द्वीप।"[१] इब्नसईद कहता है— "जावज एक द्वीपसमूह का नाम है, जिसमें बहुत से छोटे मोटे द्वीप सम्मिलित हैं, जिनमें सोना पाया जाता है। इन द्वीपों में स्रीबज (श्रीविजय=सुमात्रा) सबसे बड़ा है।" सोलहवीं शताब्दी तक भी यही विचार प्रचलित था। सोलहवीं शताब्दी का बुद्धगुप्त नामक एक भिक्षु अपने यात्रावृत्तान्त में लिखता है कि— "मैं ऐसे द्वीपों में गया जिन्हें स्वर्णद्वीप कहा जाता है।" इतना ही नहीं, आज तक भी यह विचार प्रचलित है। डा० फरन्द लिखते हैं– "मलाया के लोग सुमात्रा को 'पूलवइमास' बोलते बोलते हैं। इसका तात्पर्य है— सोने का द्वीप।"[२] इससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में सुमात्रा आज भी स्वर्णद्वीप के अन्तर्गत है।

सुवर्णद्वीप में भारतीयों के प्रवेश की सर्वप्रथम तिथि का पता लगाना अत्यन्त दुष्कर है। परन्तु इतना निश्चित है कि वे बहुत प्राचीन काल से ही सुवर्णद्वीप से परिचित थे। कथासरित्सागर, कथाकोष तथा जातकग्रन्थों में सुवर्णद्वीप जाने वाले यात्रियों की अनेक कथायें संगृहीत हैं। इनको पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस समय भारतीय लोग इससे इतने परिचित थे जितने अपने देश से। उन्हें वहां की प्रत्येक बात का ज्ञान था। आज जबकि विज्ञान ने इतनी उन्नति करली है, और वैज्ञानिक लोग दावा करते हैं कि

---

१ देखिये, Suvarndvipa. Page 47.

२. देखिये, Suvarndvipa, Page 47.

इतनी उन्नति संसार में कभी नहीं हुई, तब भी यह दशा है कि यदि कोई जहाज डूब या खो जाता है तो महीनों तक उसका कोई पता नहीं चलता। परन्तु उस समय भारतीयों को ये सब बातें ज्ञात रहती थी कि किस व्यापारी का जहाज डूब गया? फिर वह कैसे पहुंचा? उसने वहां क्या क्या किया? कथासरित्सागर में ऐसी बहुत सी कथायें पाई जाती हैं। वहां वर्णन मिलता है कि समुद्रशूर नामक एक व्यापारी व्यापार करने के लिये सुवर्णद्वीप गया। मार्ग में तूफ़ान के कारण उसका जहाज टूट गया। फिर एक बहते हुए शव के सहारे वह सुवर्णद्वीप के 'कलस' नामक नगर में पहुंचा।[1] इसी ग्रन्थ में एक स्थान पर 'रुद्र' नामक व्यापारी का सुवर्णद्वीप जाने का उल्लेख है। जब वह भारत लौट रहा था तो मार्ग में उसका

१. देखिये, कथासरित्सागर, निर्णयसागरमुद्रित, तरङ्ग ५४, पृष्ठ ५५५

''देव पुरा हर्षपुराख्ये नगरे समुद्रशूरो नाम कश्चित् समृद्धो धार्मिको वणिक् प्रतिवसति स्म। स एकदा वाणिज्यार्थं 'सुवर्णद्वीपं' यास्यन् अर्णवतीरमागत्य समुद्रपोतमारुरोह। कियतमध्वानं गते तस्मिन् सहसा समुदितात् मेघमण्डलात् सञ्जातवृष्टिरतिमहती प्रादुरासीत। तच्च प्रवहणं प्रबलतरङ्गाघातेन भग्नं दृष्ट्वा समुद्रशूरः जलराशौ नि-स्य कमपि शवमशिश्रियत्। क्रमेण वात्यया सह वृष्टिषु निवृत्तासु शान्ते जलनिधौ अनुकूलवायुवशात् भासमान एव सुवर्णद्वीपस्य उपकण्ठं प्राप। तत्र च तीरमुत्तीर्य्य किञ्चित् लब्धस्वास्थ्यः शवस्य परिधेयात् सहसा निर्गतं बहुरत्नमयं स्वर्णहारं प्राप्य सागरजलनिमग्नं सर्वस्वं धनं तृणाय मन्यमानः परां प्रीतिमवाप। ततः कृतस्नानाहारः कलसाख्यं नगरमभिजगाम।''

नोट—यहां 'कलस' नगर का नाम आया है। ध्वनिसाम्य से प्रतीत होता है कि यह वर्त्तमान 'क्लस्यन' नगर है।

जहाज डूब गया और वह बड़ी कठिनता से घर पहुंच सका।[1] इसी में ईशानवर्मा की कथा भी संगृहीत है वह भी व्यापार के लिये ही सुवर्णद्वीप गया था।[2] एक अन्य स्थान पर कटाह (मलाया प्रायद्वीप) की राजकुमारी का भी सुवर्णद्वीप जाने का वर्णन है। जब यह भारत आरही थी तो मार्ग में ही इसका जहाज ह्वेल मछली द्वारा निगल लिया गया। मछली जाकर सुवर्ण द्वीप के तट पर लगी। वहां लोगों ने ह्वेल को मार कर मनुष्यों से युक्त जहाज को पेट से बाहर निकाला।[3] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारतीय लोग

१ "देव ! एतन्नगरनिवासी रुद्रो नाम वणिक् सुवर्णद्वीपे वाणिज्यार्थं गतः यथायथं कृतवाणिज्यः गृहं प्रत्यागच्छन् समुद्रे भग्नपोतोऽभूत्। तत्र च जलसात्सर्वस्वोऽसौ एकाकी कथञ्चित् जीवन् गृहं प्रत्यागात।"

देखिये, कथासरित्सागर (निर्णयसागरमुद्रित) पृष्ठ ५५५

२. "अस्तीह चित्रकूटाख्यं प्रधानं महासमृद्धं नगरम्। तत्रासीत् रत्नवर्मा नाम महाधनपतिर्वणिक्। ईश्वरानुग्रहेण तस्य कश्चित् सूनुरजायत। तञ्च नाम्ना, ईश्वरवर्माणमकरोत् पिता। ·· प्राप्तषोडशवर्षश्च स पितरमुवाच। तात ! अर्थादेव धर्मकामौ स्तः। तत् किञ्चिन्मे अर्थजातं देहि। एवमुक्तः पिता तद्वचसि श्रद्धाय प्रीतः सन् पञ्चानां द्रव्यकोटीनां भाण्डं तस्मै ददौ। तदादाय स वणिक्पुत्रः ईश्वरवर्मा ससार्थः शुभे अहनि सुवर्णद्वीपाब्धिवाञ्छया प्रायात्। ······स चेश्वरवर्मा स्वर्णद्वीपादर्जिताधिकसम्पत्तिः सत्वरं पितुर्गृहं चित्रकूटवर्त्ति समायात।"

देखिये, कथासरित्सागर (निर्णयसागरमुद्रित) पृ४ ६१०--१८

३. "अस्ति सर्वसम्पदां निकेतनं कटाहाख्यं द्वीपम्। तत्रान्वर्थनामा गुणसागरो नाम नरपतिरध्युवास। तस्य महादेव्यां गुणवती नाम निर्म्मातुः धातुरेव आश्चर्यबुद्धिदायिनी सुताजनिष्ट। ततस्तत्पिता राजा मंत्रिभिरमंत्रयत राजा विक्रमादित्य एवास्या मे दुहितुर्योग्यो वरः, तत्पाणिग्रहणायैव एनां तत्सकाशे अहं प्रेषयामि। इति संमंत्र्य जलधौ प्रवहणे सपरिच्छदां सधनां तां समारोप्य सुतां न्यसृजत्। अथ सुवर्णद्वीपसमीपागतं तत् प्रवहणं सराजकन्यं सधनं मत्स्येन केनचित् न्यगीर्यंत"

देखिये, कथासरित्सागर (निर्णयसागरकृत) पृष्ठ १३५६

सुवर्ण द्वीप से खूब परिचित थे। ये व्यापार के लिये वहां जाया करते थे। वहां के द्वीप व्यापारिक दृष्टि से बड़े समृद्ध थे। इसीलिये इन्होंने उनका नाम 'सुवर्णद्वीप' रक्खा था। जावा का नाम 'यवद्वीप' रखने में भी सम्भवतः इसी भावना ने काम किया होगा।[1] ऐसा जान पड़ता है कि उस समय वहां अन्न बहुत होता था।

स्वर्णद्वीप का आवासन

स्वर्णद्वीप के विविध भागों में हिन्दू लोग कब अवासित हुए, किन कठिनाईयों को झेल कर वे वहां पहुंचे, और कब तक शासन करते रहे? इन सब बातों पर यहां तिथिक्रम से प्रकाश डाला जायेगा।

मलाया प्राय-द्वीप

हिन्दचीन के दक्षिण में पूर्व समुद्र तथा चीनी समुद्र को विभक्त करने वाली पृथ्वी की पतली सी पट्टी को मलाया प्रायद्वीप कहा जाता है। वहां के निवासी इसे 'तनः मलायु' कहते हैं। इसका अर्थ है—मलायों का देश। इस देश में भारतीय लोगों ने पहली बस्तियां कब बसाई? इसकी निश्चित तिथि तो बताना कठिन है। परन्तु यह निश्चित है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में भारत और सुदूरपूर्व में व्यापारिक संबन्ध स्थापित हो चुका था। प्रथम शताब्दी में ही फूनान राज्य आवासित किया जा चुका था। और दूसरी शताब्दी में चम्पा में हिन्दू लोग बस चुके थे। ऐसी दशा में स्पष्ट है कि मलाया प्रायद्वीप कुछ पहले ही आवासित हुआ होगा। क्योंकि वह भारत से फूनान और चम्पा जाने वाले यात्रियों के मार्ग में पड़ता है।

लेङ्वंशीय विवरणों में 'लङ्-गा-सु' नामक एक देश का वर्णन आता है। इसके अनुसार इसकी स्थापना तब से ४६० वर्ष पूर्व हुई थी।

१. संस्कृत में 'यव' शब्द का अर्थ अन्न भी है।

उस समय वहां संस्कृत का प्रचार था। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यह एक भारतीय उपनिवेश था। लेङ्‌कालीन विवरणों के अनुसार इसकी स्थापना दूसरी शताब्दी में हुई थी। क्योंकि लेङ्-वंश का समय ईसा की छठी शताब्दी है। इसी को ईच-चिङ् ने 'लङ् किआ-सु' और ह्वेन्-त्साङ् ने 'कामलंका' नाम दिया है।[1] ये तीनों नाम एक ही की ओर निर्देश करते हैं। यह स्थान निश्चय ही मलाया प्रायद्वीप का कोई भाग रहा होगा। इस देश के आचार व्यवहार का अत्यन्त मनोरंजक वर्णन चीनी विवरणों में संगृहीत है। उनके अनुसार— "इस देश के निवासी कहते हैं कि हमारे देश को स्थापित हुए ४०० वर्ष हुए हैं। परन्तु इसके शासक निरन्तर शक्तिहीन होते जा रहे हैं। राजा के सम्बन्धियों में एक व्यक्ति बहुत अच्छा था। परिणामतः लोग उसके पीछे हो लिये। जब राजा को यह समाचार मिला तो उसने उसे कारावास में डाल दिया। परन्तु उसकी जंजीरें चमत्कार से स्वयं टूट गईं। तब राजा ने समझा कि यह तो कोई दैवीय पुरुष है अतः इसे कोई कष्ट नहीं देना चाहिये। राजा ने उसे देश से निर्वासित कर दिया। देश से निकाले जाने पर वह भारत आया और यहां के राजा की सबसे बड़ी लड़की से विवाह किया। जब लङ्-गासु की मृत्यु हो गई तो राजकर्मचारियों ने राजकुमार को भारत से बुला कर अपना राजा बनाया। बीस वर्ष शासन कर चुकने पर इसकी मृत्यु हो गई। इसका उत्तराधिकारी 'भगदातो' हुआ। इसने ५१५ ई० में 'आदित्य' नामक दूत द्वारा चीनी सम्राट् को उपहार भेजे।"[2]

---

१. यह संस्कृत 'कर्मरङ्ग' है। भारतीय लोग वहां से कमरख मंगाते थे इस लिये इन्होंने उस देश का नाम ही कर्मरङ्ग रख दिया।

२. देखिये, Suvarndvipa, by R. C. Mazumdar, Page 73.

मलाया प्रायद्वीप के पूर्व में एक अन्य राज्य का वर्णन भी चीनी लेखों में पाया जाता है। इसका नाम 'पहङ्' था।[1] सुङ्कालीन विवरणों के अनुसार "४४९ ई० में पहङ् के राजा श्री पालवर्मा ने चीनी सम्राट् को ४१ वस्तुएं उपहार में दी थीं। ४५१ ई० में राजा ने राजकीय ऐतिहासिक 'दा-नपाति' के हाथ एक पत्र तथा कुछ वस्तुएं देकर भेजीं। ४५९ ई० में उसने लाल और श्वेत तोते भेंट किये। ४६४ ई० में चीनी सम्राट् मिङ्-ती ने वहां के ऐतिहासिक 'दा-सूरवान्' तथा 'दा-नपाति' को उपाधियां प्रदान कीं।"[2] इसे पढ़ कर यह तनिक भी संशय नहीं रहता कि यह भी एक हिन्दू राज्य था। राजा के नाम के पीछे 'वर्मा' शब्द का प्रयोग भारतीय राजाओं का स्मरण कराता है। राजदरबार में ऐतिहासिकों की उपस्थिति सभ्यता की उच्चता की निदर्शक है।

लेङ्वंशीय विवरणों में इसी प्रदेश के 'कन्-तो-लि' नामक एक अन्य राजा का भी उल्लेख है। चीनी विवरण बताते हैं—"यहां के लोगों का आचार-व्यवहार चम्पा और कंबुज निवासियों से बहुत मिलता है। 'हाई-वू' राजा के समय (४५४-६५) यहां के राजा श्रीवरनरेन्द्र ने रुद्र नामक कर्मचारी के हाथ सोने और चान्दी के उपहार भेजे थे।"[3]

इन सब विवरणों से मलाया प्रायद्वीप में हिन्दू राज्यों की सत्ता स्पष्टतया सूचित होती है। 'सुन्-गेई-वतु' में एक देवालय तथा कुछ प्रस्तर प्रतिमायें भी प्राप्त हुई हैं। इनके विषय में 'ईवन्' महोदय लिखते हैं—"ये अवशेष स्पष्टतया यह उद्घोषित करते हैं कि यहां के निवासी हिन्दू थे जो शिव, पार्वती, गणेश, नन्दी आदि

१. इसका संस्कृत नाम 'इन्द्रपुर' था।

२. देखिये, Suvarndvipa, By R. C. Mazumdar, Page 77.

३ देखिये Suvarndvipa, Page 79

की पूजा करते थे क्योंकि इन देवताओं की मूर्त्तियां यहां से उपलब्ध हुई हैं।" 'फा-नो' पर्वत पर एक भग्न वैष्णव देवालय तथा विष्णु की प्रतिमा पाई गई है। ऐतिहासिक शोध से ज्ञात हुआ है कि प्राचीन समय में यहां भी कोई हिन्दू नगर बसा हुआ था। इसका काल ५ वीं से ६वीं शताब्दी तक कूता जाता है। इसी प्रायद्वीप के विभिन्न प्रदेशों से कुछ शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं। ये संस्कृत में लिखे हुए हैं। इनका समय ४थी ५वीं शताब्दी माना जाता है। ये लेख अपने प्रदेशों में बौद्धधर्म के प्रचार की ओर संकेत करते हैं। इन्हीं लेखों में से एक में बौद्धभिक्षु 'बुद्धगुप्त' का भी उल्लेख मिलता है। ये सब बातें यह सिद्ध करती हैं कि ईसा की दूसरी शताब्दी तक, हिन्दू लोग निश्चित रूप से मलाया प्रायद्वीप में बस चुके थे। उनके अनेक राज्य स्थापित हो गये थे और इनके राजाओं ने उपहारों द्वारा चीनी सम्राट् के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया था।

सुमात्रा

यदि भारत से पूर्वीय द्वीपसमूह की ओर जाएं तो मार्ग में सबसे पहले, जो बड़ा द्वीप आता है वह सुमात्रा है। यह सुवर्णद्वीप नाम से कहे जाने वाले द्वीपों में सबसे लम्बा है। सुमात्रा का प्राचीन नाम 'श्रीविजय' है। ३५२ ई० में चीनी भाषा में अनूदित किये गये एक बौद्ध सूत्रग्रन्थ में जम्बुद्वीप में वर्णन करते हुये लिखा है—"समुद्र में २५०० राजा राज्य करते हैं। इनमें से चतुर्थ स्थानापन्न 'चो-यी' का राजा है।"[1] चो-यी का अर्थ है—'जय'। डा० फरन्द के मतानुसार 'जय' श्रीविजय ही है। ६६० ई० में ईच-चिङ् अपने यात्राविवरण में लिखता है कि मलायु देश (वर्त्तमान जंबि) श्रीविजय हो गया है। अर्थात् उस समय तक जंबि श्रीविजय के अन्तर्गत हो गया था। ७वीं शताब्दी के लेखों

१. देखिये, Suvarndvipa, Page 121.

के आधार पर भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि उस समय श्रीविजय का साम्राज्य बहुत शक्तिशाली बन चुका था। मलायु, बंक आदि पर इसका अधिकार स्थापित हो गया था। इस समय सुमात्रा का राजा 'जयनाश' था। यह बौद्धधर्मावलम्बी था। इसकी राजधानी के समीप प्राप्त हुये दोनों लेख बौद्ध हैं। ईच-चिङ् भी स्वीकार करता है कि सुमात्रा और उसके समीपस्थ राज्य बौद्धधर्म का बहुत प्रचार करते हैं तथा सुमात्रा बौद्धज्ञान का केन्द्र बना हुआ है।[1] मलाया प्रायद्वीप में उपलब्ध ७७५ ई० के एक संस्कृत शिलालेख से ज्ञात होता है कि श्रीविजय का राज्य बहुत शक्तिशाली था। समीपस्थ राजा उसके सम्मुख सर झुकाते थे तथा उसका आतङ्क मानते थे। जावा पर भी श्रीविजय के राजा ने चढ़ाई की थी। इससे पता चलता है कि उस समय मलाया तक इसका विस्तार हो चुका था। चीनी विवरण बताते हैं कि ६७० से ७४२ ई० तक श्रीविजय के दूत अनेक वार चीन आये। चीनी सम्राट् की आज्ञानुसार विभिन्न देशों से आये दूतों को भोजन देने की जो व्यवस्था थी उसमें श्रीविजय के दूतों के लिये ५ मास तक खाद्य सामग्री देने का वर्णन है।[2] ७२४ ई० में श्रीविजय के राजा श्रीन्द्रवर्मा ने कुमार नामक दूत के साथ कुछ उपहार चीनी सम्राट् को भेजे। ७४२ ई० में उसने अपने लड़के को ही चीन भेज दिया। चीनी सम्राट् ने उसे उपाधि प्रदान की तथा कुछ उपहार भी दिये।

ये सब घटनायें सिद्ध करती हैं कि चौथी शताब्दी तक निश्चित-रूप से सुमात्रा में हिन्दू लोग आवासित हो चुके थे। सातवीं

---

१. देखिये, Suvarndvipa, Page 47.

२. देखिये, Suvarndvipa, Page I24

शताब्दी तक सुमात्रा पर्याप्त शक्तिशाली बन गया था। उस समय वहां बौद्धधर्म का प्राबल्य था। अनेक यात्री बौद्धसाहित्य का ज्ञान प्राप्त करने सुमात्रा जाने लगे थे। सुमात्रा और भारत में समुद्रीय आवागमन भी पर्याप्त होने लगा। इन दोनों बातों को तत्कालीन चीनी यात्री ईच-चिङ् ने भी स्वीकार किया है। सुङ्वंशीय विवरणों से यह भी ज्ञात होता है कि सुमात्रा के राजा अपने नाम के प्रारम्भ में 'श्री' शब्द का प्रयोग करते थे, यथा–श्रीमहाराज, श्री देवआदि।[1]

सुमात्रा से और अधिक पूर्व में जाने पर एक द्वीप आता है जिसे 'जावा' कहते हैं। यह 'सुन्द' नाम से कहे जाने वाले द्वीपों में सबसे बड़ा है। जावा का प्राचीन नाम 'यवद्वीप' है। जावा शब्द संस्कृत 'यव' का ही अपभ्रंश है। इसका अर्थ है–'जौ।' अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय साहित्य में 'यवद्वीप' शब्द का प्रयोग होता रहा है। रामायण में जहां सुग्रीव सीता को ढूंढने के लिये विविध देशों में वानर भेजता है, वहां कुछ वानर यवद्वीप भी भेजे जाते हैं। वहां लिखा है—'यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितं सुवर्ण-रूप्यकद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्।'[2] भारतीय साहित्य के अतिरिक्त चीनी और मिश्री साहित्य में भी यवद्वीप को इसी रूप में स्मरण किया गया है। टॉल्मी अपने 'भूगोल' में 'येबदीओ' नाम से एक देश का वर्णन करता है। यह 'येबदीओ' 'यवद्वीप ही है। इस पुस्तक का काल १३२ ई० माना जाता है। चीनी विवरणों में यव-द्वीप को 'ये-तीओ'[3] नाम से स्मरण किया गया है। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि दूसरी शताब्दी तक जावा और भारत में परस्पर संबन्ध स्थापित हो चुका था। परन्तु जावा के सम्बन्ध

जावा

१. देखिये, Hinduism and Budhism, Page 163

२. देखिये, रामायण, अ० ६, श्लोक ८०.

३. An Island of Barley.

में इससे भी पुरानी अनुश्रुतियां उपलब्ध होती हैं। कहा जाता है कि "सौराष्ट्र के राजा 'प्रभुजयभय' के प्रधानमंत्री 'अजिशक' ने ७४ ई० में पहले पहल जावा में पदार्पण किया। उस समय यह देश राक्षसों से भरा हुआ था। उन्हें परास्त कर यहां अजिशक ने अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु महामारी फैल जाने से शीघ्र ही उसे वापिस लौट जाना पड़ा। इसके एक ही वर्ष उपरान्त ७५ ई० में कुछ साहसी लोग कलिङ्ग से रवाना हुए। अजिशक ने वहां के निवासियों को पहले ही जीत लिया था। अतः इन्हें बसने में कोई विशेष कष्ट नहीं हुआ। यद्यपि पहलेपहल वहां गुजराती लोग गये, पर सर्वप्रथम उपनिवेश कलिङ्ग वालों ने ही बसाये। ६०३ ई० में प्रभुजयभय के छठे उत्तराधिकारी ने पांच सहस्र अनुयायियों को लेकर छः बड़े जहाज और सौ छोटे जहाजों के साथ जावा की ओर प्रस्थान किया। ये लोग पहले पहल सुमात्रा पहुंचे परन्तु इस देश को अजिशक द्वारा वर्णित देश से भिन्न देखकर वे आगे बढ़ गये। अन्ततः उनका बेड़ा जावा के पश्चिमीय तट पर लगा। वहां जाकर इन्होंने और मनुष्यों की मांग की। शीघ्र ही दो सहस्र स्त्री, पुरुष तथा बच्चे जावा पहुंचे।"[1]

इस कथानक के अनुसार छठी शताब्दी तक जावा में निश्चित रूप से हिन्दूराज्य स्थापित हो चुका था। इसमें संदेह नहीं कि यह उपनिवेश-स्थापना आर्थिक दृष्टि से हुई थी।

छठी शताब्दी तक जावा में हिन्दूराज्य की स्थापना हो चुकी थी। इसकी सूचना वहां के शिलालेखों से भी मिलती है। जावा की वर्त्तमान राजधानी बताविया के समीप ही चिरुअतन्, जम्बु, कबोन्कोपि तथा तुगु में अनेक लेख उपलब्ध हुए हैं। ये लेख पूर्णवर्मा से संबन्ध रखते हैं। इनका समय पांचवीं शताब्दी बताया

१. देखिये, Some Notes-on Java By Henery Scott Boys Page5

जाता है। इन लेखों पर पूर्णवर्मा के अपने हाथी के पद अंकित हैं। इनमें लिखा है—'विष्णु के समान यह चरणयुगल तारुमनगराधिपति श्रीमान् पूर्णवर्मा का है। यह शत्रु राजाओं के लिये शल्यभूत तथा मित्र राजाओं के लिये सुखकर हैं। ये चरण पूर्णवर्मा के ऐरावत सदृश हाथी के हैं। पहले राजाधिराज 'पीनबाहु' द्वारा खुदवाई हुई चन्द्रभागा नदी समुद्र की ओर बही। फिर बाईसवें वर्ष में, बढ़ते हुए तेजस्वी राजा पूर्णवर्मा द्वारा खुदवाई गई, छः सहस्र एक सौ बाईस धनुष लम्बी गोमती नदी ब्राह्मणों को सहस्रों गौएं दान दिला कर बह रही है।[1]" इस लेख से स्पष्ट है कि छठी शताब्दी में जावा में पूर्णवर्मा 'तारुम' नगर को राजधानी बना कर शासन

१. देखिये, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थमाला में डा० बहादुरचन्द्र शास्त्री कृत 'जावा के प्राचीन संस्कृत शिलालेख।'

(क) विक्रान्तस्यावनिपतेः श्रीमतः पूर्णवर्मणः।
तारुमनगरेन्द्रस्य विष्णोरिव पदद्वयम्॥

(ख) तस्येदम्पादबिम्बद्वयमरिनगरोत्सादने नित्यदक्षम्।
भक्तानां यन्नृपाणाम्भवति सुखकरं शल्यभूतं नृपाणाम्॥

(ग) ……जय विशालस्य तारुमेन्द्रस्य हस्तिनः।
……ऐरावताभस्य विभातीदम्पदद्वयम्॥

(घ) पुराराजाधिराजेन गुरुणा पीनबाहुना।
खाता ख्यातां पुरीं प्राप्य चन्द्रभागार्णवं ययौ॥
प्रारभ्य फाल्गुने मासे खाता कृष्णाष्टमी तिथौ।
चैत्रशुक्ला त्रयोदश्यां दिनैस्सिद्धैकविंशकैः॥
आयता षट्सहस्रेण धनुषा सशतेन च।
द्वाविंशेन नदी रम्या गोमती निर्मलोदका॥
पितामहस्य राजर्षेर्विदार्य शिविरावनिम्।
ब्राह्मणैर्गोसहस्रेण प्रयाति कृतदक्षिणा॥

कर रहा था। यह पूर्णवर्मा विशुद्ध भारतीय था, या वहीं का कोई निवासी था, जिसने हिन्दूधर्म स्वीकार कर लिया था; इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। तथापि इतना तो निश्चित है कि उसका नाम भारतीय है। उसकी राजधानी का नाम भी भारतीय ही है। इसी से मिलते हुए एक नगर का नाम दक्षिणभारत के एक शिलालेख में उपलब्ध होता है। वहां उसका नाम 'तारुमपुर' दिया गया है।[१] 'तारुमपुर' और 'तारुम' में बहुत समता है। पूर्णवर्मा ने बाईस वर्ष शासन किया। इसका वंश तीन संतति तक राज्य करता रहा। लेख में आये विष्णुचरण, ऐरावत, गोदक्षिणा तथा ब्राह्मणों के वर्णन से ज्ञात होता है कि उन्हें भारतीय धर्म का ज्ञान वैसा ही था जैसा भारत के हिन्दुओं को। हिन्दू मास, तिथि तथा माप का वर्णन इस बात को सिद्ध करता है कि हिन्दूसंस्कृति ने वहां की सभ्यता पर पूर्ण अधिकार कर लिया था। इनसे भी अधिक महत्त्व-पूर्ण वस्तु चन्द्रभागा तथा गोमती नदियों के नाम हैं जो न केवल भारत की भौगोलिक स्थिति से ही परिचय को सूचित करते हैं, प्रत्युत यह भी सिद्ध करते हैं कि उस समय वहां के निवासी हिन्दू लोग थे।

जावा का प्रारम्भिक धर्म हिन्दूधर्म था। फाहियान के विवरण से भी इसी की पुष्टि होती है। वह लिखता है कि, "यहां हिन्दू-धर्म का प्रचार बहुत है और बौद्धधर्म का नाम भी सुनाई नहीं देता।"[२] किन्तु फाहियान के जाने के कुछ ही समय पश्चात् वह

१. देखिये, The Journal of Royal Asiatic society, Vol I 1935, by. B. C. Chabra "Expansion of Indo-Aryan culture during Pallav Rule, as-evidenced by inscriptions."

२. देखिये, Suverndvipa, Page 103.



बालि मे प्राप्त एक प्रस्तरत्रिमूर्ति

समय आया जब बौद्धधर्म का प्रचार इतना अधिक होगया कि हिन्दूधर्मानुयायियों की संख्या बहुत ही कम रह गई। जावा में बौद्धधर्म का सर्वप्रथम उपदेष्टा गुणवर्मा था। यह काश्मीरी राजघराने के सिंहानन्द का पुत्र था। बचपन से ही इसकी प्रवृत्ति वैराग्य की ओर थी। जब इसकी आयु ३० वर्ष की थी तो वहां का राजा निःसन्तान मर गया। जनता ने गुणवर्मा से प्रार्थना की कि आप हमारे राजा बनें। परन्तु गुणवर्मा ने प्रार्थना अस्वीकार कर दी और लंका चला गया। वहां से वह जावा गया। उसके पहुंचने से पहली रात, जावा की राजमाता को स्वप्न आया था कि एक भिक्षु हमारे देश में आरहा है। प्रातःकाल होते ही गुणवर्मा वहां पहुंचा। राजमाता ने उससे बौद्धधर्म की दीक्षा ली, उसके पीछे राजा भी उसी धर्म में दीक्षित हुआ। उस समय शत्रु लोग जावा पर आक्रमण कर रहे थे। राजा ने गुणवर्मा से पूछा, "क्या आपके धर्मानुसार शत्रु पर आक्रमण करना पाप है?" इस पर भिक्षु ने उत्तर दिया, "राजन्! लुटेरों को दण्ड देना तो आपका धर्म है।"[1] भिक्षु की सलाह से राजा ने शत्रु पर आक्रमण कर दिया और विजयी हुआ। कुछ ही काल के भीतर सारे राज्य में बौद्धधर्म का प्रसार हो गया और राजा ने आज्ञा दी, "मेरे राज्य के निवासी देश के किसी भी भाग में किसी भी प्राणी का वध न करें।"

जावा से डेढ़ मील पूर्व की एक ओर छोटा सा द्वीप है, जिसे बाली कहा जाता है। संसार भर में भारत को छोड़ कर एक मात्र यही द्वीप है जहां के निवासी अपनी मातृभूमि से सहस्रों मील दूर रहते हुए, तथा वहां के प्राचीन निवासियों में मिल जाने पर भी, हिन्दुओं की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता को आज भी स्थिर रक्खे बाली

१. देखिये. Suvarndvipa, Page 104

हुए हैं। यही एक स्थान है जहां इस्लाम का प्रवेश नहीं हो सका, और जहां इस्लाम की विनाशमयी प्रक्रिया ने कला के उत्कृष्ट नमूनों को मलियामेट नहीं किया। यहां के मदिर और प्रतिमाएं आज भी अखण्डित रूप में विद्यमान हैं। उनमें भारतीय मूर्त्तियों की भांति मुसलमानों द्वारा किसी प्रकार का विकार नहीं आया।

बाली में कोई प्राचीन लेख अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ। किन्तु चीनी विवरणों में 'फो-लि' नामक एक द्वीप का वर्णन मिलता है। 'पैलिअट' ने सिद्ध किया है कि यह बाली ही है। लेङ् कालीन इतिहास में फो-लि का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—"यहां के राजवंश के विषय में पूछने से पता चला कि शुद्धोदन की रानी इस देश की लड़की थी। राजा रेशमी वस्त्र पहनता है। स्वर्णीय मुकुट धारण करता है। सप्तरत्नों से अलंकृत है। स्वर्णीय सिंहासन पर बैठता है तथा स्वर्णमय खड्ग हाथ में रखता है।"[1] यह वर्णन एक समृद्ध हिन्दू राज्य का सूचक है। 'स्वी' वंश के वर्णनों से पता चलता है कि राजा किसी छारियक (क्षत्रिय) वंश का था। वहां के निवासी एक ऐसा अस्त्र चलाते थे जिसके मध्य में छेद होता था, तथा किनारे आरे की भांति कटे होते थे। यह कभी निशाना नहीं चूकता था। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि यह अस्त्र भारतीय 'चक्र' के अतिरिक्त कुछ न था। चीनी विवरण यह भी बताते हैं कि इनके पास 'सारी' नाम का एक पक्षी होता है जो बोल भी सकता है। यह 'सारी' 'सारिका' ही है। भारत में तोते और मैना को आज भी पाला जाता है, और उन्हें बोलना भी सिखाया जाता है। 'थाङ्' वंशीय इतिहास से ज्ञात होता है, "यहां के निवासी कान बींध कर छल्ले डालते हैं और कमर में कपड़ा बांधते हैं।" ये दोनों प्रथाएं भी भारतीय हैं।

---

१. देखिये, Savasndvipa, Page 134.

इस प्रकार ७ वीं शताब्दी तक बाली में भी हिन्दू सभ्यता प्रविष्ट हो चुकी थी। वहां हिन्दू राज्य की स्थापना हुई थी जिसके राजाओं ने राजनीतिक सम्बन्ध बनाने की इच्छा से अनेक बार चीनी सम्राट् को उपहार भेजे थे।

जावा के ठीक ऊपर एक बड़ा सा द्वीप है जिसे 'बोर्नियो' कहा जाता है। सुवर्णद्वीप के द्वीपों में यह सबसे बड़ा है। इतना विशाल होते हुए भी इसकी जनसंख्या बहुत कम है। बोर्नियो में हिन्दू आवासकों की सबसे प्राचीन सूचना, 'कुती' जिले के 'मुअर कमन्' स्थान में 'महाकाम' नदी के किनारे से प्राप्त चार शिलालेखों से मिलती है। ये पहले पहल १८७९ ई० में पाये गये थे। डा० कर्न ने इनका समय चौथी शताब्दी निश्चित किया है। ये लेख मनुष्य जितने ऊंचे एक यूप पर उत्कीर्ण हैं। इनमें लिखा है कि मूलवर्मा ने 'बहु-सुवर्णक यज्ञ' किया था, ब्राह्मणों को बीस सहस्र गौएं वितीर्ण की थीं और भूमि तथा अन्य बहुत सी वस्तुओं का दान किया था।[1] इन लेखों से स्पष्ट है कि चौथी शताब्दी तक बोर्नियो में अवश्य ही बोर्नियो

१. देखिये, India and Java Published by the Greater India Society.

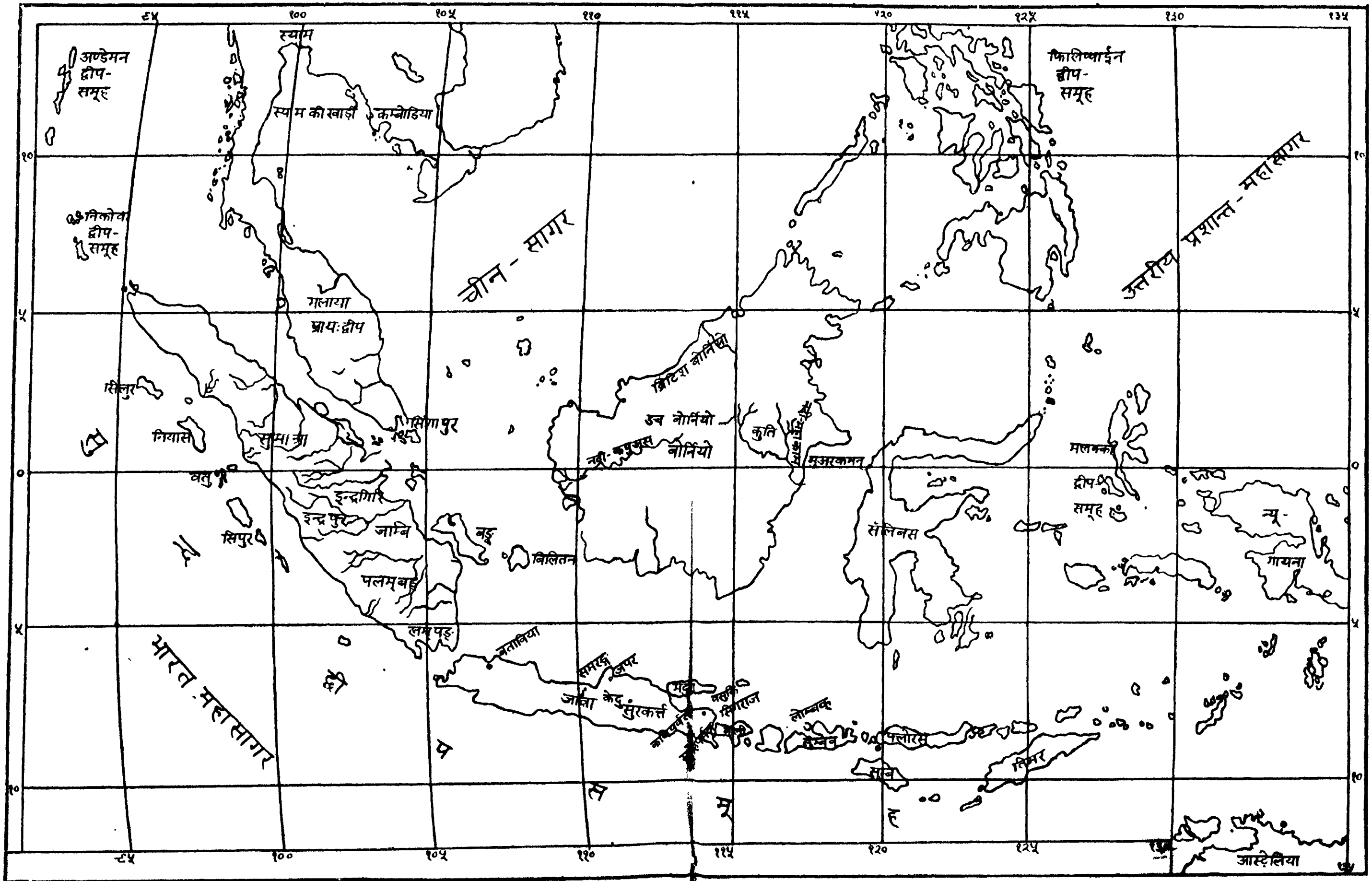
श्रीमद्विराजकीर्त्तेः राज्ञः श्रीमूलवर्मणः पुण्यम्।
शृण्वन्तु विप्रमुख्याः ये चान्ये च साधवः पुरुषाः।
बहुदानं जीवदानं सकल्पवृक्षं सभूमिदानञ्च।
तेषाम्पुण्यगणानां यूपोयं स्थापितो विप्रैः॥
श्रीमतः श्रीनरेन्द्रस्य कूण्डंगस्य महात्मनः।
पुत्रोश्ववर्मा विख्यातः वंशकर्त्ता यथांशुमान्।
तस्य पुत्राः महात्मान स्त्रयस्त्रय इवाग्नयः।
तेषां त्रयाणां प्रवरः तपोबलदमान्वितः॥
श्रीमूलवर्मा राजेन्द्र इष्ट्वा बहुसुवर्णकम्।
तस्य यज्ञस्य यूपोयं द्विजेन्द्रैः सम्प्रकीर्त्तितः॥

हिन्दूराज्य की स्थापना हो चुकी थी। राजसभा में ब्राह्मणों का पर्याप्त आदर था, तथा यज्ञादि होने लग गये थे जिनकी स्मृति में ये लेख उत्कीर्ण किये गये थे। 'मुअरकमन्' में सोने की बनी तीन वस्तुएं मिली हैं। इनमें से एक विष्णु की मूर्त्ति भी है। इसी प्रकार 'कोम्बेङ्' स्थान पर एक गुहा है। इसमें दो भवन हैं। पिछले भवन में बलुए पत्थर की बनी हुई बारह मूर्त्तियां पाई गई हैं। ये मूर्त्तियां शिव, गणेश, नन्दी, अगस्त्य, नन्दीश्वर, ब्रह्मा, स्कन्द और महाकाल की हैं। इनमें अधिकता शैव मूर्त्तियों की है। इससे यह परिणाम स्वभावत: निकलता है कि वहां शैवधर्म की प्रबलता थी। इन मूर्त्तियों के विषय में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि इन पर, बोर्नियो की अन्य मूर्त्तियों की भांति जावा की कला का प्रभाव न होकर, विशुद्ध भारतीय प्रभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सीधी भारत से ही वहां पहुंची थीं।

जिस प्रकार पूर्वीय बोर्नियो में महाकाम नदी हिन्दू आवासकों का केन्द्रस्थान बनी हुई थी, उसी प्रकार पश्चिम में 'कपु-अस।' इसकी घाटी में बहुत सी हिन्दू बस्तियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। 'सप-उक्' में एक मुखलिङ्ग तथा 'सङ्गुद' और 'बतु-पहत' में कुछ शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। इनमें से चार लेखों में 'अज्ञानाच्चीयते-कर्म' तथा तीन में 'ये धर्मा हेतुप्रभवा:' का बार बार उल्लेख आता

श्रीमतो नृपमुख्यस्य राज्ञः श्रीमूलवर्मणः-
दानं पुण्यतमे क्षेत्रे यद्दत्तम्वप्रकेश्वरे।
द्विजातिभ्योऽग्निकल्पेभ्यः विंशतिर्गोसहस्रकम्।
तस्य पुण्यस्य यूपोयं कृतो विप्रैरिहागतैः॥
सगरस्य यथा राज्ञः समुत्पन्नो भगीरथः।
... ...॥

(The Yupa Inscription of King Mula Verma.)



मलायेशिया का मानचित्र.

है। 'कपुअस्' की घाटी में प्राप्त मूर्त्तियों से भी यही परिणाम निकलता है कि आवासक लोग सीधे भारत से आये थे। इस प्रकार ईसा की चौथी शताब्दी तक बोर्नियो के पूर्व और पश्चिम में हिन्दू राज्य स्थापित हो चुके थे, जिनकी सूचना शिलालेखों तथा भग्न-देवालयों से आज भी प्राप्त होती है।

लगभग १५ वर्ष हुए जब सॅलिबस् के पश्चिम तट पर 'सिकेन्देङ्' के समीप 'कर्म' नदी के किनारे एक पर्वत की तलैटी में बुद्ध की एक विशाल, किन्तु भग्न पित्तल प्रतिमा उपलब्ध हुई। वर्त्तमान समय में यह बताविया के अद्भुतालय में विद्यमान है। यह हिन्द-चीन तथा पूर्वीयद्वीपसमूह में प्राप्त पित्तल प्रतिमाओं में सबसे विशाल है। इसके हाथ और टांगें टूटी हुई हैं। इस अवस्था में भी यह ७५ सैंटीमीटर है। इसका दायां कंधा नंगा है। कपड़े की सलवटें स्पष्टतया दिखाई पड़ती हैं। इसकी कला लंका की बुद्धप्रतिमाओं के सदृश है। डा० बॉश की सम्मति में यह मूर्त्ति अमरावती से ही वहां ले जाई गई थी। सॅलिबस्

आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व तक सॅलिबस् में भारतीय संस्कृति का कोई भी स्मृतिचिह्न उपलब्ध नहीं हुआ था। इसके प्रकाश में आ जाने से बृहत्तरभारत के इतिहास में एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ हो गया है। अब इसे भी बृहत्तरभारत में सम्मिलित कर लिया गया है।

सप्तम शताब्दी तक स्वर्णद्वीप की सभ्यता

ईसा की प्रथम तथा दूसरी शताब्दी में हिन्दू प्रवासियों ने मलायेशिया में जिस सभ्यता की प्रथम किरण को पहुंचाया था, उसका उषाकाल सातवीं शताब्दी कही जा सकती है। इसके पश्चात् शैलेन्द्र सम्राटों के समय से उसका मध्याह्न प्रारम्भ होता है। मलाया प्रायद्वीप और जावा तथा बोर्नियो में प्राप्त शिलालेखों से मालूम होता है

कि भारतीय भाषा, धर्म, राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थायें वहां के स्थानीय अंश को नष्टकर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुकी थीं। मूलवर्मा के 'कुती' में उपलब्ध लेख में यज्ञ, यूप, दान, ब्राह्मणप्रतिष्ठा, तीर्थ-यात्रा तथा सगरादि राजाओं के नाम पाये जाते हैं। जावा के लेखों में विष्णु, ऐरावत आदि देवताओं का वर्णन है। भारतीय तिथिक्रम, ज्योतिषसम्बन्धी बातें, दूरी नापने की भारतीय परिभाषा, चन्द्रभागा तथा गोमती आदि नदियों के नाम और पदचिह्न की पूजा वहां प्रचलित थी। बोर्नियो में विष्णु, ब्रह्मा, शिव, गणेश, नन्दी, स्कन्द और महाकाल की मूर्त्तियां मिली हैं। इसी प्रकार मलाया प्रायद्वीप में दुर्गा, नन्दी तथा योनि की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। जावा में तुकमस् के ध्वंसावशेषों में शंख, चक्र, पद्म तथा त्रिशूल के चिह्न पाये गये हैं। गंगा की पवित्रता का विचार भी वहां फैला हुआ था। वहां के लेखों की शुद्ध संस्कृत भाषा, भारतीय लिपि, राजाओं के 'वर्मा' युक्त नाम तथा मूर्त्तिनिर्माणकला पूर्णतया भारतीय प्रभाव से युक्त हैं। भारतीय सैनिक पद्धति भी वहां विकसित हुई थी। भारत की तरह मुर्दे जलाने की प्रथा विद्यमान थी। पांचवीं शताब्दी तक वहां हिन्दूधर्म का उत्कर्ष रहा। फाहियान चीन जाता हुआ मार्ग में जावा ठहरा। वह लिखता है, "यहां हिन्दूधर्म का प्रभाव बहुत है, और बौद्धधर्म का नाम भी सुनाई नहीं देता।" फाहियान के जाते ही गुणवर्मा जावा गया। इसने वहां बौद्धधर्म का प्रचार किया। तबसे बौद्धधर्म का प्रभाव बढ़ने लगा। ईच चिङ् कहता है, "जावा और उसके समीपस्थ द्वीपों में बौद्धधर्म का बहुत प्रचार है। दक्षिण द्वीप में मूलसर्वास्तिवादी सम्प्रदाय को मानने वाले दस राज्य हैं।"[1] इस प्रकार ईचचिङ् के समय तक बौद्धधर्म खूब फैल चुका था। भारत

१ देखिये, Suvarndvipa, Page 141.

आते हुये मार्ग में सुमात्रा में छः मास रह कर इसने शब्दविद्या सीखी, लौट कर, यहीं पर इसने बौद्धग्रन्थों का अनुवाद भी किया। इस समय तक श्रीविजय बौद्ध अध्ययन का केन्द्र बन चुका था। ईचचिङ् फिर लिखता है— "यहां एक सहस्र बौद्ध पुरोहित निवास करते हैं जो अध्ययन में मध्यदेश (मध्यभारत) की तरह रुचि रखते हैं। यदि कोई चीनी भारत आना चाहे तो उसे एक-दो वर्ष यहां ठहर कर अभ्यास के उपरान्त ही मध्यदेश जाना चाहिये।"[1] ईच-चिङ् के कथनानुसार युन्-कि, तात्सिन्, ताओ-होङ्, फा-लङ् आदि अनेक चीनी यात्रियों ने श्रीविजय में कई वर्षों तक बौद्ध-साहित्य का अध्ययन किया। ह्वी-निङ् ने तो तीन वर्ष लगातार यहीं पर रहते हुये बौद्धग्रंथों का अनुवाद भी किया। कालान्तर में महायान सम्प्रदाय भी वहां खूब फैला। इसकी सूचना जयनाश के ६८४ ई० के शिलालेख से मिलती है। तंत्रग्रंथों के प्रचार का संकेत भी इस लेख में पाया जाता है। यह सचमुच आश्चर्य का विषय है कि जिस तन्त्रशास्त्र का प्रचार भारत में सातवीं शताब्दी के मध्य में हुआ वही श्रीविजय में भी सातवीं ही शताब्दी में पहुंच गया। श्रीविजय के इतिहास में सातवीं और आठवीं ये दो शताब्दियां बहुत महत्व की हैं। इस समय नालन्दा का उपाध्याय 'धर्मपाल' तथा दक्षिणभारत का भिक्षु 'वज्रबोधी' चीन जाते हुए मार्ग में यहां ठहरे। उस समय यह केवल विद्या का ही केन्द्र न था, अपितु व्यापार का भी बड़ा भारी स्थान था। चीनी विवरणों के अनुसार अकेले 'तुन्-सुन्' नगर में ही प्रतिदिन पूर्व तथा पश्चिम से दस सहस्र से अधिक व्यक्ति आया करते थे। उस युग को देखते हुए यह संख्या बहुत अधिक प्रतीत होती है।

---

[1] देखिये, Suvarndvipa, Page 142.

शैलेन्द्रों का उत्थान और पतन

शैलेन्द्रों का अभ्युदय

सप्तम शताब्दी तक, मलायेशिया के सम्पूर्ण भाग, हिन्दू आवासकों द्वारा आवासित किए जा चुके थे। उन प्रदेशों में सैकड़ों राजा स्वतन्त्रतापूर्वक शासन कर रहे थे। तब तक किसी एक ऐसे शक्तिशाली राज्य का विकास न हुआ था, जिसकी आधीनता सभी स्वीकृत करते हों। परन्तु इन राज्यों का विकास इसी ओर था। ये सब राज्य इतिहास के उस नवीन अध्याय के पूर्ववर्ती रूप थे। अब मलायेशिया में शैलेन्द्र नामक नई शक्ति उत्पन्न हुई, जिसके आतङ्क के सम्मुख सभी राजाओं ने सिर झुकाया और उसे अपना प्रभु स्वीकार किया।

शैलेन्द्रोंकी समृद्धि

ये शैलेन्द्र लोग भारत से आये हुये नये आवासक थे। जिन्होंने सातवीं शताब्दी में कलिङ्ग से बर्मा की ओर प्रस्थान किया और आठवीं शताब्दी में बर्मा जीत कर मलायेशिया पर आक्रमण प्रारम्भ किये। ८वीं शताब्दी के अन्त मे मलाया प्रायद्वीप और सुमात्रा तथा जावा भी इनके आधीन हो गये। इन्होंने इस सम्पूर्ण प्रदेश का नाम अपने देश की स्मृति को स्थिर रखने के लिये 'कलिङ्ग' रक्खा। इनकी लिपि 'पूर्वनागरी' थी। इनका धर्म महायान बौद्ध था। बोरोबुदूर तथा कलस्सन के बौद्ध देवालय इन्हीं की कला के साकाररूप हैं। कला, लिपि तथा राजनीतिक एकता ये तीनों वस्तुएं इनके प्रयत्न से सम्पूर्ण मलायेशिया में फैल गई। शैलेन्द्रों की समृद्धि बहुत अधिक थी। अरब यात्री इन्हें 'महाराज' नाम से पुकारते थे। उनके अनुसार शैलेन्द्रों का अधिकार चंपा और कंबुज पर भी था। शिलालेखों से भी यह बात प्रमाणित होती है। जयवर्मा द्वितीय शैलेन्द्रों की आधीनता से मुक्त होने के लिये एक यज्ञ करता है। इसी प्रकार, चंपा के लेखों में भी शैलेन्द्रों के समुद्रीय आक्रमणों का उल्लेख मिलता है। ये आक्रमण शैलेन्द्रों

की सैनिक उत्कृष्टता के परिचायक हैं। अरब व्यापारी सुलेमान लिखता है— "इनकी नौसेना की प्रसिद्धि चीन और भारत तक फैली हुई।" ८४४ ई० का एक अरब यात्री इनकी समृद्धि का वर्णन करते हुये लिखता है—"महाराज की दैनिक आय २०० मन सोना है।"[१] ६०३ ई० में इब्नरोस्तेह लिखता है— "इसके समान समृद्ध और शक्तिशाली राजा और कोई नहीं, और न किसी की आय ही इसके तुल्य है।"[२] ६१६ ई० में अबूजैदहसन शैलेन्द्रों की स्तुति करता हुआ लिखता है, "अनेक द्वीपों पर इनका राज्य है। 'कलह' भी इन्हीं के आधीन है। यह कपूर, चन्दन, हाथीदांत, टिन, आबनूस तथा मसालों का सबसे मुख्य व्यापारिक केन्द्र है। ओमन् (अरब में) के साथ इसका नियमित व्यापार होता है।"[३] ६४३ ई० में मसूदी लिखता है— "महाराजा का राज्य असीम है। अत्यन्त तीव्रगामी जहाज़ दो वर्ष में भी महाराज के आधीन द्वीपों का पूरा चक्कर नहीं लगा सकता। यहां सब प्रकार के मसाले उत्पन्न होते हैं। संसार में इसके समान सम्पत्तिशाली राजा अन्य कोई नहीं है।"[४] शैलेन्द्रों का यह प्रभाव ११वीं शताब्दी तक भी विद्यमान था। १०३० ई० में अलबरूनी लिखता है—"जाबज का नाम स्वर्णद्वीप है क्योंकि यहां की थोड़ी से थोड़ी मिट्टी को भी धोने से सोना प्राप्त होता है।"

११वीं शताब्दी में शैलेन्द्रों के अनेक प्रतिस्पर्धी उत्पन्न हो गये। एक ओर तो जावा के राजा इनसे टक्कर ले रहे थे और दूसरी — शैलेन्द्रों और चोलों में संघर्ष

१. देखिये, Suvarndvipa, Page 159.

२. देखिये, Suvarndvipa, Page 161.

३ देखिये, Suvarndvipa, Page 162.

४. देखिये, Suvarndvipa, Page 163.

ओर चोल लोग। प्रारम्भ में तो जावा की विजय रही पर पीछे से वह पूर्णतया परास्त कर दिया गया। अब मैदान में केवल चोल लोग रह गये। आरम्भ में तो चोलों और शैलेन्द्रों का सम्बन्ध अच्छा था। दोनों ने मिल कर नेगापट्टम[1] में विहार बनवाया था। नालन्दा में भी देवपाल के समय एक बौद्धमन्दिर दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से बना था। इनका परस्पर व्यापारिक सम्बन्ध भी था। परन्तु कुछ वर्ष पश्चात् दोनों में युद्ध छिड़ गया। इसका कारण सम्भवत: यह था कि कलिंग और बंगाल विजय के पश्चात् भारत की सम्पूर्ण पूर्वीय सामुद्रिक शक्ति, राजेन्द्र चोल के हाथ में आगई थी। अब उसने सोचा कि यदि मैं पूर्व और पश्चिम के सामुद्रिक व्यापार के केन्द्र, शैलेन्द्र साम्राज्य को जीत लूं तो वहां की समृद्धि से मैं बहुत वैभवशाली बन सकता हूं। यह सोचकर १०१७ई० में राजेन्द्र चोल ने मलाया प्रायद्वीप जीत लिया, और वहां के राजा संग्रामविजयोत्तुङ्गवर्मा को बन्दी बना लिया तथा राजधानी को लूट लिया। तंजोर के लेख में वर्णित राजेन्द्र चोल की विजय से पता चलता है कि इसने पूर्वीय सुमात्रा तथा दक्षिणीय और केन्द्रीय मलाया प्रायद्वीप की राजधानियों को भी जीता था। किन्तु कुछ समय पश्चात् चालुक्यों के साथ संघर्ष में पड़ जाने से, तथा कलिंग के स्वतंत्र हो जाने से, चोल लोग इस सुदूरस्थ स्थान पर अपना अधिकार स्थिर न रख सके। फिर भी १०७० में वीर राजेन्द्र ने मलाया प्रायद्वीप को फिर से जीत लिया। १०९० में मलाया से चोल दरबार में दूत भेजा गया। इससे जान पड़ता है कि दोनों में संधि हो गई थी। मलाया, सुमात्रा, चीन तथा चोलों के अपने लेखों से यह बात सिद्ध होती है कि लगभग ५० वर्ष तक मलायेशिया पर

१. यह दक्षिण भारत का एक बन्दरगाह है।

चोलों का प्रभुत्व रहा। लेखों के अतिरिक्त वहां के समान त्यौहार, चोलीय, पाण्डीय, मिलीयल तथा पेलवी आदि जातियों के नाम भी दक्षिण भारत के प्रभाव को सूचित करते हैं।

शैलेन्द्रों का पतन

पूरे एक सौ वर्ष तक, चोलों के साथ निरंतर संघर्ष होने के कारण शलेन्द्रों की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी। यद्यपि पीछे किसी कारणवश चोलों ने अपने आक्रमणों की दिशा बदल ली, परन्तु जो महान् आघात चोलों द्वारा शैलेन्द्रों के विशाल साम्राज्यभवन को पहुंच चुका था उससे उसका फिर से संभल सकना कठिन हो गया। किन्तु इस चोट से शैलेन्द्र साम्राज्य एक दम नष्ट नहीं होगया। इसके बाद भी ३०० वर्ष तक शैलेन्द्रों का सितारा जगमगाता रहा। उनके नाम में जादू का असर बना रहा। चीनी ग्रन्थ चॉ-फन्-चि में भी शैलेन्द्र साम्राज्य का वर्णन मिलता है। इसका काल १२ वीं शताब्दी है। १४ वीं शताब्दी तक के अरब तथा चीनी लेखक शैलेन्द्रों का वर्णन करते रहे। ११५४ ई० में अदरीसी, १२०३ ई० में कजवीनी, १२०८ ई० में इब्न सईद और १३२५ ई० में दिमस्की-इन सब ने शैलेन्द्रों की समृद्धि का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि १४ वीं शताब्दी तक शैलेन्द्रों की सत्ता अक्षुण्ण रही। उनके प्रभाव में, उनकी समृद्धि में तथा विस्तार में परिवर्तन अवश्य आया परन्तु उनका अस्तित्व बना रहा। अन्तिम राजा, जिसने शैलेन्द्र साम्राज्य पर शासन किया 'चन्द्रबाहु' था। 'चय' में प्राप्त शिलालेख से ज्ञात होता है कि यह शैलेन्द्रवंशीय न होकर पद्मवंशीय था।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इसने शैलेन्द्र सिंहासन को बलपूर्वक हथिया लिया था। इसकी मृत्यु होते ही शैलेन्द्र साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। अब जावा का राजा 'कृतनगर' शैलेन्द्रों के अधिकृत प्रदेशों

१. देखिये, Suvarndvipa, Page 200.

पर अधिकार करने लगा। शीघ्र ही मलाया प्रायद्वीप, जम्बी तथा अन्य राज्यों पर, जिन पर पहले शैलेन्द्र पताका फहराती थी, अब जावा की वैजयन्ती लहराने लगी। जावा के प्रकट होते ही शैलेन्द्रों का नाम मिटने लगा। चीनी यात्री शैलेन्द्रों के विनाश का वर्णन करते हुए दुःख से लिखते हैं— "इसके पश्चात् शैलेन्द्र साम्राज्य बिल्कुल नष्ट हो गया और फिर उनके उपहार चीनी सम्राट् के यहां कभी नहीं आये।[1]" तदनन्तर २५ वर्ष में इसका पूर्णतया विध्वंस हो गया। १३६७ ई० के एक मिङ्कालीन विवरण में लिखा है— "इस समय उस सम्पूर्ण प्रदेश को, जो पहले शैलेन्द्रों के आधीन था, जावा ने जीत लिया है। यद्यपि जावा निवासियों ने इसे जीत लिया पर वे इसे स्थिर रूप से आधीन नहीं रख सके। परिणामतः कुछ चीनी सरदार कतिपय प्रदेशों के स्वयं शासक बन बैठे।"[2]

इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही शैलेन्द्र सम्राट् आंखों से ओझल होगये। जो एक दिन भयंकर तूफान की तरह सारे मलायेशिया में फैल गये थे, जिनके चरणों में आज बर्मा, कल मलाया, परसों सुमात्रा और फिर जावा के एक एक कर सुवर्ण द्वीप के सब राजाओं के मुकुट लोटने लगे थे, जिन्होंने अपने बाहु बल से सुवर्णद्वीप के दूर दूर तक फैले हुए टापुओं पर एक छत्र शासन किया था, और जिन्होंने बोरोबुदूर तथा कलस्सन के विश्वविख्यात मंदिरों को खड़ा किया था, सातसौ वर्ष पश्चात् मलायेशिया के छोटे से टुकड़े पर भी उनका राज्य नहीं रहा। चन्द्रबाहु के आंख मूंदते ही विशाल शैलेन्द्र साम्राज्य विलुप्त हो गया। उसके मृतदेह पर जावा तथा चीनरूपी गृध्र मंडराने लगे और उन्होंने इसे नोच नोच

१. देखिये, Suvarndvipa, Page 202

२. देखिये, Suvarndvipa, Page 202.

कर खा डाला। यदि शैलेन्द्र साम्राज्य की तुलना सिकन्दर और नैपोलियन के साम्राज्यों से की जाए तो उनकी तुलना में यह कहीं अधिक चिरस्थायी सिद्ध होगा। सिकन्दर का साम्राज्य उसके मरते ही तीन टुकड़ों में बंट गया और नैपोलियन का साम्राज्य उसके देखते देखते ही शत्रुओं ने छीन लिया। और तो और, मुगलों का साम्राज्य भी कठिनता से दो शताब्दी तक टिक सका। इस दृष्टि से शैलेन्द्र-साम्राज्य का महत्त्व कहीं अधिक है।

मलाया प्रायद्वीप के हिन्दू राज्यों की समाप्ति

शैलेन्द्रों के पश्चात्

तेरहवीं शताब्दी में शैलेन्द्रों का पतन प्रारम्भ होते ही जावा के राजा कृतनगर ने मलाया प्रायद्वीप को अपने मुख का ग्रास समझकर पहङ्ग (प्राचीन इन्द्रपुर) पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। कृतनगर की मृत्यु होने पर मलायु ने, मलायाप्रायद्वीप विविध राज्यों को जीतना आरम्भ किया। इसी समय स्याम के आक्रमण भी शुरू हुए और लिगर तक का प्रदेश स्याम ने अधिकृत कर लिया। पन्द्रहवीं शताब्दी में मलाया के राज्यों ने जावा और स्याम के चंगुल से निकलना चाहा। परन्तु पहङ्ग का शासक अपने को स्याम के प्रभाव से न छुड़ा सका। अन्ततः एक दिन आया, जब मलक्का के सुल्तान मुजफ्फरशाह ने पहङ्ग के शासक—महाराजदेवशूर को परास्त कर कैद कर लिया। इस घटना ने पहङ्ग में हिन्दूराज्य की समाप्ति कर दी।

मलक्का का उत्थान

शैलेन्द्रों के पश्चात् पन्द्रहवीं शताब्दी में मलाया में जो विविध राज्य प्रादुर्भूत हुए उनमें मलक्का सबसे मुख्य था। इसके उद्भव के विषय में अनेक दन्तकथायें प्रचलित हैं। इन कथानकों में वास्तविकता बहुत कुछ ओझल सी हो गई है। १४८६ ई० में अल्बूकर्क द्वारा लिखे गये वर्णन के अनुसार मलक्का का अभ्युत्थान इस प्रकार हुआ—"उस समय जावा में 'भट्टारक तुम्पेल' तथा पलेम्बङ्ग में

परमेश्वर नामक राजा राज्य करता था। इन दोनों में सदा लड़ाई रहती थी, इसलिये इन्होंने मिल कर एक समझौता किया। परमेश्वर ने जावा की राजकुमारी से–जिसका नाम परमेश्वरी था विवाह किया तथा उसे कर देना निश्चित किया। परन्तु शीघ्र ही परमेश्वर को अपने किये पर पश्चात्ताप हुआ और उसने कर देना अस्वीकार कर दिया। ऐसी दशा में जावा ने पलेम्बङ् पर आक्रमण किया। परमेश्वर मैदान छोड़कर भाग गया और सिंहपुर (सिंगापुर) में जाकर शरण ली। उसके पीछे ही पीछे तीन सहस्र पलेम्बङ् निवासी भी वहां पहुंच गये। वहां रहते हुए सिंहपुर के शासक के भाई ने परमेश्वर पर आक्रमण किया। वहां से भाग कर वह 'मुअर' नदी के किनारे बस गया। यहां उस समय कुछ मछुये रहते थे। परमेश्वर के आ बसने से शीघ्र ही यह स्थान आबाद हो गया। समुद्रीय डाकू लूटा हुआ सामान यहीं पर आकर बेचने लगे। सुमात्रा और बंगाल के व्यापारी व्यापार करने लगे। अब परमेश्वर ने इस स्थान का नाम 'मलक्का' रक्खा। नामकरण के सात वर्ष उपरान्त परमेश्वर की मृत्यु हो गई। इसका उत्तराधिकारी सिकन्दरशाह था। यह परमेश्वर का लड़का था। यद्यपि यह हिन्दू था पर इसने मुसलमान राजकुमारी से विवाह किया था। परिणामतः यह भी मुसलमान बन गया। सिकन्दरशाह के उपरान्त मुजफ्फरशाह सिंहासनारूढ़ हुआ। इसने सुमात्रा, पहङ्, इन्द्रगिरि आदि राज्यों को जीतकर वहां इस्लाम का प्रचार किया। मंसूरशाह और अलाउद्दीन के समय मलक्का बहुत समृद्ध और शक्तिशाली राज्य बन गया। अलाउद्दीन के पश्चात् सुल्तान मुहम्मद राजा हुआ। इसने स्याम को भी परास्त कर दिया।"[१]

१. देखिये, Suvarndvipa, Page 385-86.

अल्बूकर्क के विवरण के आधार पर मलक्का के राजाओं की सूची इस प्रकार तय्यार की जा सकती है:—

१४०३ ई० में मलक्का राज्य की स्थापना हुई। उसके राजा इस प्रकार सिंहासनारूढ़ हुए:—

(१) परमेश्वर
(२) सिकन्दरशाह
(३) मुजफ्फरशाह
(४) मंसूरशाह
(५) अलाउद्दीन
(६) सुल्तान मुहम्मद

१४८९ ई० में सुल्तान मुहम्मद शासन कर रहा था। इसी समय अल्बूकर्क ने अपना विवरण लिखा। सुल्तान मुहम्मद ने १५११ ई० तक राज्य किया।

जिस शीघ्रता से मलक्का उन्नति कर रहा था, उससे यह स्वाभाविक था कि जावा के साथ इसका संघर्ष हो। १५०६ ई० में सुल्तान मुहम्मद सोच रहा था कि शीघ्र ही जावा की ओर से उस पर आक्रमण होगा, परन्तु उसके आक्रमण से पूर्व ही मलक्का का कल्पनातीत पतन हो गया। पतन की ओर

१५०९ ई० में कुछ पोर्चुगीज जहाज मलक्का के तट पर रुके। पहिले दिन तो इनका स्वागत किया गया, परन्तु पीछे से इन्हें बंदी बना लिया गया। परिणाम यह हुआ कि १५११ ई० में प्रतिकार की भावना से अल्बूकर्क ने मलक्का पर धावा बोला। सुल्तान मुहम्मद हार कर भाग खड़ा हुआ। उसने एक दो बार इसे फिर से जीतने के लिये प्रयत्न भी किया परन्तु सफल न हो सका।

इस प्रकार सौ वर्ष के उज्ज्वल इतिहास के पश्चात् मलक्का के सुल्तानों का अन्त हो गया। अलाउद्दीन के समय का १४८६ ई० का एक लेख 'अङ्-नङ्' से प्राप्त हुआ है। इससे पता चलता है कि इस समय तक मलक्का में इस्लाम का पाया जम चुका था। गुजरात और ईरान के मुसलमान व्यापारी मलक्का में बसने लगे और सुल्तान की कृपा से ये इस्लाम के प्रचार में सबसे मुख्य साधन बने। व्यापारियों के अतिरिक्त व्यापार द्वारा आने वाली अतुल सम्पत्ति ने भी इस्लाम के प्रचार में हाथ बंटाया। किन्तु इससे हिन्दूसभ्यता का समूलोन्मूलन नहीं हुआ। १५३७ ई० तक भी मलक्का में भारतीय लिपि का प्रयोग होता रहा।[1] विल्किसन के लेखानुसार आज भी जब कोई यात्री मलक्का के तट पर उतरकर सरकारी भवन की ओर पग बढ़ाता है तो उसे पहाड़ी की ढाल पर बनी प्रतिमाएं दृष्टिगोचर होती हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि कभी यहां के शासक भी हिन्दू थे। इतना ही नहीं, मलाया प्रायद्वीप की रियासतों के सुल्तान आज भी 'परमेश्वर' को अपना वंशकर्त्ता मानते हैं।

सुमात्रा के हिन्दूराज्य का अन्त

मलायु का अभ्युदय

शैलेन्द्रसाम्राज्य के विच्छिन्न होते ही मलायेशिया का अन्त हो गया। सब राज्य पुनः अपनी अपनी सत्ता के लिये संघर्ष करने लगे। इसी बीच में सुमात्रा के पूर्वीय हिस्से में मलायु (वर्त्तमान जंबि) राज्य का उद्भव हुआ। तेरहवीं शताब्दी में जब शैलेन्द्र सम्राटों का पतन हो रहा था तब जावा के राजा कृतनगर ने जंबि को अपने आधीन कर लिया। परन्तु कृतनगर की मृत्यु होते ही

१. देखिये, Suvarndvipa, Page 400.

जंबि स्वतन्त्र हो गया। अब यह शीघ्र ही इतना शक्तिशाली बन गया कि स्याम और जबि में परस्पर अधिकारलिप्सा के लिए संघर्ष छिड़ गया। जंबि का प्रथम स्वतन्त्र राजा मौलीवर्मदेव था। इसी ने जावा की पराधीनता से अपने को मुक्त किया था। इसका उत्तराधिकारी मर्मदेव था। तत्पश्चात् आदित्यवर्मदेव राजा हुआ। इसका शासनकाल १३४७–७५ ई० तक है। इसने अनेक लेख उत्कीर्ण कराये थे। इन लेखों से ज्ञात होता है कि यह तांत्रिक बौद्ध धर्म को मानने वाला था। इसका राज्य सुमात्रा के मध्य पूर्व तथा पश्चिम में विस्तृत था।

शैलेन्द्रसाम्राज्य के विनाश का सबसे मुख्य परिणाम इस्लाम का आगमन था। शैलेन्द्रों के पश्चात् सुमात्रा अनेक छोटे छोटे राज्यों में बंट गया। ये राज्य अपनी रक्षा के लिये कभी जावा और कभी चीन की शरण लेते रहते थे। इस शिथिलता ने ही इस्लाम के लिये मार्ग तय्यार कर दिया। मारकोपोलो लिखता है— "सुमात्रा में आठ राज्य हैं। इनके अपने अपने राजा हैं। ये सब मंगोल सम्राट् कुबलेईखां को अपना नाम मात्र का प्रभु मानते हैं। 'फर्लेक' राज्य में अरब व्यापारी बहुत आते हैं। इन्होंने बहुत से नगर-निवासियों को मुसलमान बना लिया है। परन्तु पहाड़ी प्रदेशों में अभी तक इस्लाम नहीं घुसा है।"[१] इससे स्पष्ट है कि मारकोपोलो के समय सुमात्रा में धीरे धीरे इस्लाम का प्रवेश हो रहा था। १२९२ ई० तक (जब मारकोपोलो सुमात्रा गया) फर्लेक का राज्य इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुका था। इब्न-बतूता के विवरण से भी यह ज्ञात होता है कि १३४५ ई० में सुमात्रा में इस्लाम फैल रहा था। सुमात्रा के सुल्तानों की इमारतों के गुम्बजों को देखने से

इस्लाम का आगमन

१. देखिये, Suvarnadvipa, Page 373.

पता चलता है कि सुदूरपूर्व में इस्लाम का प्रचार करने वाले अरब लोग न होकर गुजरात के रहने वाले मुसलमान व्यापारी थे। १५वीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तरीय सुमात्रा के राज्य भी निरन्तर इस्लाम धर्म स्वीकार करते गये। १४१२ ई० में 'लम्ब्री' और १४१६ ई० में 'अर्के' के निवासी भी मुसलमान बन गये। १६वीं शताब्दी में अचीन् सुमात्रा में इस्लाम का प्रधान केन्द्र बन गया। 'उल्कन्' तथा 'मेनङ्कबु' में इस्लाम का प्रवेश इसी द्वारा हुआ। १७वीं शताब्दी में 'लम्पङ्' प्रदेशवासी भी मुहम्मद की शरण में चले गये। इस प्रकार समस्त सुमात्रा द्वीप इस्लामी रंग में रंग गया। १८वीं शताब्दी में सुमात्रा से प्रचारक लोग बोर्निओ, पैलो आदि स्थानों में इस्लाम का प्रचार करने के लिये जाने लगे। यह देखकर सचमुच आश्चर्य होता है कि ३०० वर्ष पूर्व जहां इस्लाम का चिह्न भी दिखाई न देता था, वही कुछ समय पश्चात् इस्लाम का गढ़ बन गया और अब वहां से प्रचारक लोग, बचे हुये प्रदेशों को भी अपने धर्म में दीक्षित करने के लिये, दूर दूर तक फैलने लगे।

जावा तथा बोर्नियो में हिन्दूराज्य का अन्त

१६वीं शताब्दी तक मलाया और सुमात्रा इस्लाम धर्म की दीक्षा ले चुके थे। इन्हें केन्द्र बना कर मुसलमान व्यापारी इस्लाम का प्रचार करने के लिये मलायेशिया के अन्य राज्यों में भी फैल गए। कुछ समय पश्चात् जावा भी इन व्यापारी प्रचारकों द्वारा मुहम्मद का अनुयायी बनाया गया। जावा में इस्लाम के आगमन की सूचना कुछ लेखों से भी मिलती है। १४१९ ई० के एक लेख से पता चलता है कि जावा में इस्लामधर्म का प्रचार करने वाला 'मलिक इब्राहीम' था। वहां की अनुश्रुतियां भी इस लेख की पुष्टि करती हैं।

इस्लाम का प्रवेश

पोर्चुगीज विवरणों से ज्ञात होता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के समाप्त होते होते जावा के कुछ बन्दरगाह, मुसलमानों ने अपने अधिकार में कर लिये थे। परन्तु जावा के आन्तरिक प्रदेशों में तब तक हिन्दुओं का ही शासन था। इन हिन्दू राजाओं की आधीनता मुसलमान स्वीकार करते थे। 'कस्तनहेदा' जावा का वर्णन करते हुए लिखता है—"यहां का राजा हिन्दू है। जावा के आन्तरिक प्रदेश में इसी का राज्य है, परन्तु समुद्रतट पर मुसलमान शासकों का अधिकार है। ये सब हिन्दू राजा की प्रभुता स्वीकार करते हैं। कभी कभी ये लोग राजा के विरुद्ध विद्रोह भी कर बैठते हैं, किन्तु वह शीघ्र ही इन्हें ठण्डा कर देता है।" इससे स्पष्ट है कि १५ वीं शताब्दी तक जावा में हिन्दू राज्य विद्यमान था। 'बरबस' नामक यात्री १५१८ ई० में अपना ग्रन्थ लिखते हुए जावा में हिन्दू राज्य का वर्णन करता है। 'क्रोम' के कथनानुसार १५२८ तक जावा में हिन्दू राज्य बना रहा। जावा में इस्लाम का प्रवेश सर्वप्रथम समुद्र तटवर्ती प्रदेशों से हुआ। धीरे धीरे, बढ़ते हुए १५२८ तक इन्होंने केन्द्रीय शासन पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार १५२८ में जावा में हिन्दू राज्य का अन्त हो गया। जावा में इस्लाम के प्रवेश के सम्बन्ध में अनेक कथानक प्रचलित हैं। परन्तु ये कथानक ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य प्रतीत नहीं होते। इनमें असम्भव तथा दैवीय बातें इतनी अधिक पाई जाती हैं कि उन पर विश्वास करना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है। जावा की केन्द्रीय सरकार पर इस्लाम का प्रभुत्व होते ही 'यजजरन' (जावा के पश्चिमीय हिस्से में एक राज्य था) पर भी मुसलमानों ने अपना अधिकार कर लिया। १५२२ में जब 'हैनरीक लेम' वहां गया तब तक वहां का शासक हिन्दू था, किन्तु १५२६ में जब वह वापिस लौटा तो उसने आश्चर्य से देखा कि एक मुसलमान

इस्लाम का प्रवेश

सुल्तान वहां शासन कर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसे १५२२ से १५२६ के बीच में ही मुसलमानों ने अपने आधीन कर लिया था।

दु:खद अन्त इन दोनों राज्यों के विधर्मियों के हाथ में जाते ही १५०० वर्ष से चली आरही हिन्दू संस्कृति को बड़ा भारी आघात पहुंचा। इतने पर भी जावा से हिन्दू शासन का बिल्कुल लोप नहीं हुआ। वे अपनी सत्ता के लिये निरन्तर संघर्ष करते रहे। ऐतिहासिक शोध से पता चला है कि इस्लाम का प्रवेश होने पर हिन्दू वलिस, लवु और मरबाबु आदि पहाड़ी प्रदेशों में चले गये। किन्तु कुछ समय पश्चात् बढ़ते हुए इस्लामी प्रभाव के कारण ये वहां से भी धकेल दिये गये। यहां से धकेले हुए हिन्दू लोग सुमेरुपर्वत पर जा टिके और १६०० ई० तक बलम्बङ् में हिन्दुओं का स्वतंत्र राज्य इसके अनन्तर भी दो सौ वर्ष तक चलता रहा। परन्तु १८०० ई० में इस्लाम यहां भी आ घुसा। परिणामतः हिन्दू राजवंश तथा कुलीन श्रेणी भाग कर जावा के पूर्व में बाली नामक द्वीप में चली गई। यहां आज भी हिन्दू सभ्यता विद्यमान है जब कि जावा में हिन्दू सभ्यता के गौरव का गीत केवल वहां के ध्वंसावशेषों में ही स्पंदित हैं। जावा के मुसलमान शासकों ने समीपस्थ 'मदुरा' द्वीप को भी जीत लिया। वहां के शासक ने प्रसन्नता पूर्वक इस्लाम स्वीकार कर लिया। मदुरा के अनन्तर वोर्नियो भी इस्लामी रंग में रंग गया। वह किस प्रकार इस्लाम की शरण में आया, इस विषय में विस्तार से कुछ भी ज्ञात नहीं होता। केवल इतना पता चलता है कि १६ वीं शताब्दी में वहां के निवासी भी मुसल्मान बन गये।

बाली में हिन्दुओं के स्वतन्त्र राजवंश का अन्त

जावा और बाली की प्राचीन भाषाओं में भिन्नता को देखते हुए पता चलता है कि बाली में हिन्दू सभ्यता सीधी भारत से ही गई थी। यही कारण है की ८ वीं से १० वीं शताब्दी तक की संस्कृति

पर जावा का कोई प्रभाव नहीं है। बाली में प्राप्त ६१५ ई० के लेख से ज्ञात होता है कि वहां का प्रथम ऐतिहासिक राजा 'उग्रसेन' था। १०२५ ई० के शिलालेख से प्रतीत होता है कि वहां का राजा जावा के राजा 'ऐरलङ्ग' का छोटा भाई था। इस समय बाली जावा के आधीन था। १११५ के लगभग बाली फिर से स्वतन्त्र हो गया। १२०४ में जावा के राजा ने बाली को फिर जीत लिया। 'चॉ-जु-कुआ' नामक लेखक जावा के आधीनस्थ १५ राज्यों में बाली की भी गिनती करता है। १३३७ तक बाली कभी जावा के आधीन और कभी स्वतंत्र होता रहा। तत्पश्चात् बाली की स्वतंत्र सत्ता नष्ट हो गई और यह जावा के राज्य का ही अंग बन गया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस्लाम का आक्रमण होने पर जब जावा का राजा उसका सामना न कर सका तो वह भाग कर बाली चला गया। तब से वहां यही लोग शासन करने लगे। १८ वीं शताब्दी में बाली भिन्न भिन्न नौ स्वतंत्र राज्यों में बंट गया। १८३६ में डच लोगों ने बाली पर अपना अधिकार कर लिया। बहुत समय तक वहां के राजा स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करते रहे। १६०८ में अन्तिम प्रयत्न किया गया। अन्ततः १६११ में यह डच साम्राज्य का अंग बन ही गया।

११ वीं शताब्दी से (जब से कि जावा और बाली का संघर्ष प्रारम्भ हुआ) बाली की संस्कृति पर जावा का प्रभाव पड़ने लगा। फिर जब जावा का ही राजवंश शासन करने लगा तो जावा का प्रभाव और भी बढ़ गया। किन्तु यह निश्चित है कि प्राचीन बाली की संस्कृति जावा से भिन्न थी।

तृतीय भाग

प्राग्बौद्धकालीन विस्तार

प्रारम्भिक निवेदन

भूमिका में निर्देश किया जा चुका है कि ऐतिहासिकों की धारणा के अनुसार बुद्ध से पूर्व भी भारत मध्यएशिया, अफ्रीका, योरुप तथा अमेरिका तक फैला हुआ था। उस समय भारतीय व्यापारी मलाबार तट से लेकर रक्तसागर, ईरान की खाड़ी, भूमध्य-सागर, अन्धमहासागर और दूर-उत्तरीय महासमुद्र तक व्यापार किया करते थे। भारतीय विचारकों के विचार पारस, एशिया माईनर मिश्र, आइसलैण्ड और मैक्सिको तक फैल चुके थे। उस समय नील नदी से लेकर गङ्गा के तट तक एक ही संस्कृत भाषा तथा आर्यजाति का अविच्छिन्न साम्राज्य था। मिश्र, पारस और मैक्सिको के देवता तथा रीतिरिवाज भारतीय ओढ़नी ओढ़े हुए थे। यद्यपि ये विचार कई ऐतिहासिकों को युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते, तथापि इतनी अधिक समता को देखते हुए, एक वार अन्तस्तल से यह ध्वनि हठात् ही उठने लगती है कि इन समानताओं की गहराई में अवश्य ही कुछ न कुछ तथ्य छिपा हुआ है। इसलिये उसे पाठकों के सम्मुख रखना उपयोगी समझ कर यहां दिया जा रहा है, ताकि विद्वान् लोग स्वयं ही युक्तायुक्त का निर्णय कर एक निश्चित परिणाम पर पहुंच सकें।

द्वादश-संक्रान्ति

भारत का

प्राग्बौद्धकालीन विस्तार

मिश्र और पाण्ड्य— मैक्सिको और भारत— फिनीशियन और पणि— सुमेर और सुवर्ण—मितनी और भारत— हित्ताईत और भारत— कसित और भारत— पारस और भारत।

मिश्र और पाण्ड्य

संसार की प्राचीन सभ्यताओं में मिश्र का स्थान बहुत ऊंचा है। इतिहास के विद्यार्थी पिरामिड और ममियों से अच्छी तरह परिचित हैं। 'प्रेतों की घाटी' के उस देश में किस प्रकार भारतीय धर्म, देवता तथा प्रथायें प्रचलित हुई? यह एक अत्यन्त मनोरञ्जक विषय है।

प्राचीन मिश्रनिवासियों में यह अनुश्रुति प्रचलित थी कि– 'हम पूर्व से–पुण्ट देश से यहां आकर बसे हैं।' कहना न होगा कि यह 'पुण्ट' दक्षिण भारत का प्राचीन पाण्ड्य देश ही था। यहीं के भारतीय प्रवासियों ने मिश्र में अपनी सभ्यता और साम्राज्य को विकसित किया था। प्राचीन मिश्री लोग 'पुण्ट देश' का वर्णन करते हुए कहते थे—"वह यहां से बहुत दूर है। एक सागर उसे अपनी लहरों से धोता है। उसमें बहुत सी घाटियां और पहाड़ियां

हैं। वहां आबनूस की लकड़ी बहुतायत से होती है। चीते, बघेरे लंगूर तथा बन्दर खूब होते हैं।[1]" यह वर्णन पाण्ड्य देश से बिल्कुल मिलता है। वह भी मिश्र से बहुत दूर है। पश्चिम समुद्र[2] अपने जल से उसका प्रक्षालन करता है। घाटियां और पहाड़ बहुत हैं। वे पशु और लकड़ियां भी वहां पाई जाती हैं जिनका ऊपर वर्णन किया गया है। वे यह भी कहते थे कि 'पुण्टदेश देवताओं का निवासगृह है। वहीं से आमन्, हुरस्, हेथर आदि देवता नील नदी पर निवासार्थ पधारे हैं।' इससे स्पष्ट है कि प्राचीन मिश्र निवासी पाण्ड्य देश से जाकर वहां बसे थे। वे अपने साथ हिन्दू देवताओं के विचार को भी ले गये थे जिसका उन्होंने वहां प्रचार किया और जिससे मिश्री लोग पाण्ड्य देश को 'देवभूमि' समझने लगे। नीचे कुछ मिश्री देवताओं के नाम दिये जाते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जायेगा कि वे भारतीय ही हैं:—

मिश्री देवता	हिन्दू देवता
नत	नक्त
हुरस्	
सेब	शिव
हर्	हर
मत	माता
आमन्	ओम्
बेस्	विष्णु
ईसिस्	ईश्

१. देखिये, Historians History of the world, Vol I, Page 108.

२. जिसे 'अरब सागर' कहा जाता है उसके स्थान पर 'पश्चिम समुद्र' का प्रयोग किया गया है। क्योंकि यही इसका प्राचीन नाम है। अरबसागर कुछ जंचता नहीं। इसे भारतसागर ही क्यों न कहा जाये ?

मिश्री देवता	हिन्दू देवता
कायनेशियस्	दिनेश
सखित	शक्ति

इसी प्रकार उनका 'रा' (Ra) हिन्दुओं का ब्रह्म है। मिश्री लोग कहते थे Ra. the one without a second। उपनिषदों में कहा है—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'। वे 'आमन् रा' भी कहते थे। जिस प्रकार हिन्दुओं में 'ओम् ब्रह्म' कहने की प्रथा है। देवगण के अतिरिक्त, मिश्री लोगों की अन्य अनेक बातें भी हिन्दुओं से मिलती थीं। उनमें से कुछ एक का परिगणन यहां किया जाता है:—

(क) मिश्र निवासी हिन्दुओं की ही तरह अनेक वर्णों में बंटे हुए थे।[1]

(ख) समाज में पुरोहितों और सैनिकों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। पुरोहितों से उतर कर सैनिकों का ही आदर था। भारत में भी यह दशा है। ब्राह्मण तथा क्षत्रियों को 'द्विज' कहा जाता है। इनका सम्मान भी दूसरे वर्णों से अधिक है। ब्राह्मण को वर्णों का प्रभु माना गया है। मानवधर्मशास्त्र में लिखा है:—

वैश्यात्तुप्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात्।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥

मनु० अ० १० श्लोक ३ ॥

यहां भी ब्राह्मण से अगला दर्जा क्षत्रिय का ही समझा जाता है। मनु महाराज कहते हैं:—

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ मनु.अ०१०श्लो. ८१॥

१. देखिये, Historians History of the world, Vol I, Page 200.

(ग) मिश्र का राजा जिसे 'फारो' कहा जाता था, ब्राह्मण और क्षत्रिय में से ही अपने मन्त्रियों का चुनाव करता था। ऋग्वेद में लिखा है कि राजा अपनी सहायता के लिये ऋत्विक् मंत्री और अमात्य इन तीन की सभाओं का निर्माण करे। इनके सदस्यों का चुनाव दोनों वर्णों में से होता था। रामायणकाल में वशिष्ठ और विश्वामित्र की तथा महाभारतकाल में द्रोण, कृप और अश्वत्थामा की बड़ी प्रतिष्ठा थी। समयानुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों का ही समाज में सम्मान होता रहा है।

(घ) मिश्री लोगों की युद्धविद्या आजकल की तरह बर्बरतापूर्ण न थी। उनके इतिहास में ऐसे बीसियों उदाहरण उपलब्ध होते हैं जब उन्होंने बंदियों को, दया की भिक्षा मांगने पर मुक्त कर दिया। जिन्होंने आश्रय मांगा उन्हें शरण दी; और जिन्होंने शस्त्र रख दिये, या युद्धक्षेत्र छोड़ दिया; उन पर वार तक नहीं किया। बिल्कुल ऐसी ही प्रथा भारत में भी प्रचलित थी। महाभारत का संग्राम छिड़ने से पूर्व कौरव और पाण्डवों ने मिल कर युद्ध के निम्न नियम बनाये थे:—

वाचा युद्धे प्रवृत्तानां वागेव प्रतियोधनम् ।
निष्क्रान्ताः पृतनामध्याञ्च हन्तव्याः कदाचन ॥

एकेन सह संयुक्तः प्रपन्नो विमुखस्तथा ।
क्षीणशस्त्रो विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचन ॥
भीष्म अ० १ श्लो० २८, ३१ ॥

... ...

मनु महाराज ने भी इस विषय में यह धर्म बताया है:—

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।

न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥

... ...

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्त्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सत्तां धर्ममनुस्मरन् ॥

मनु० अ० ७ श्लो० ९१-९३ ॥

(छ) हिरोडोटस लिखता है, "मिश्री लोग सभ्यता में ग्रीक लोगों से भी आगे बढ़े हुए हैं। इनमें यह प्रथा है कि जब कोई युवा मार्ग में किसी वृद्ध से मिलता है तो वह उसके लिये रास्ता छोड़ देता है। यदि बैठा हुआ हो तो वृद्ध के आने पर खड़ा हो जाता है। जब वे आपस में मिलते हैं तो परस्पर घुटने तक झुक कर प्रणाम करते हैं।"[1] यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यही प्रथा भारत में भी प्रचलित थी और आज भी है। मनुस्मृति में लिखा है:—

शय्यासनेऽध्याचारिते श्रेयसा न समाविशेत् ।
शय्यासनस्थश्चैवेनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥

मनु० अ० २ श्लो० ११९, १२१ ॥

(च) हिरोडोटस एक अन्य स्थान पर लिखता है,—"मिश्री लोगों ने विविध देवों की पूजा के लिये दिवस, मासादि निश्चित कर रक्खे हैं। वे ग्रहों और नक्षत्रों का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन तथा मरण से भी जोड़ते हैं। उनका विचार है कि विशेष नक्षत्र

१. देखिये, Historians History of the world, vol I, Page 213

में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति, विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होता है।"[1] हिन्दुओं में भी सब देवताओं की पूजा के दिन निश्चित हैं। इनके यहां तो मासों के नाम भी देवतापरक हैं। 'नक्षत्र मानवीय जीवन के पथप्रदर्शक हैं।' यह विचार आज तक भी हिन्दुओं में पाया जाता है। इसी को दृष्टि में रख कर भृगुसंहिता की रचना हुई है। इसी उद्देश्य से जन्मपत्रियों का विकास हुआ और इसी आधार पर हिन्दू ज्योतिषशास्त्र का विशाल भवन खड़ा हुआ है।

(छ) हिन्दुओं की भांति मिश्र निवासी भी 'आत्मा की अमरता' में विश्वास रखते थे। इसी दृष्टि से वे मृत व्यक्तियों के शरीर की सुरक्षा का प्रबन्ध करते थे। वे उसके साथ बहुत सी खाद्य सामग्री तथा पहनने का सामान भी धर देते थे। उनका विचार था कि मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है। प्राणी मर कर फिर पैदा होगा और तब उसे इन सब वस्तुओं की आवश्यकता होगी। इसी विचार से ममियां बनाई गई जो आज भी अपनी अमरता के सन्देश को संसार के कोने कोने में गुंजा रही हैं।

(ज) मिश्री लोगों में यह विचार भी विद्यमान था कि हमारा आदि राजा 'मेनस' या 'मनु' था। यह प्रथम राजा था जिसने ईसा से ४४० वर्ष पूर्व 'श्वेत' और 'लाल' वशों में सन्धि करवा के मिश्र के प्रथम राजवंश की स्थापना की थी। यह विचार भी हिन्दुओं का ही है। ये भी मानते हैं कि मनु से ही यह सम्पूर्ण सृष्टि हुई। रघुवंश में लिखा है—

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव॥ रघु० अ० १, श्लो० ११॥

'लाल' और 'श्वेत' से अभिप्राय सम्भवतः सूर्य और चन्द्रवंश

१. देखिये, Historians' History of the world, Vol. I. Page 213.

से है। ऐसा प्रतीत होता है कि वहां दोनों वंशों के लोग गये और दोनो में झगड़ा उत्पन्न हुआ। तब मनु ने दोनों को मिला कर एक कर दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि मिश्री सभ्यता का आधार हिन्दू सभ्यता है। वे स्वयं स्वीकार करते थे कि उनके पूर्वज देवों की निवासभूमि पुण्ट देश से वहां पहुंचे थे। वे यह भी मानते थे कि उनका प्रथम राजा 'मनु' था। यहीं से वहां का वास्तविक इतिहास प्रारम्भ होता है। इतना ही नहीं पुराणों में तो यहां तक आता है:—

सरस्वत्याज्ञया कण्वो मिश्रदेशमुपाययौ।
म्लेच्छान् संस्कृत्य चाभाष्य तदा दशसहस्रकान्॥

भविष्यपुराण, खण्ड ४, अ० २१, श्लो० १६॥

इससे तो यह भी पता चलता है कि भारतीय प्रचारक धर्म-प्रचार की दृष्टि से भी मिश्र पहुंचे थे और उन्होंने वहां जाकर सहस्रों विधर्मियों को अपने धर्म में दीक्षित किया था। ऐतिहासिक शोध से यह भी पता चलता है कि नील नदी का उद्गम स्थान एक झील है, यह बात संसार को पुराणों से ज्ञात हुई। ममियों पर लिपटा हुआ कपड़ा भारतीय है तथा आबनूस की लकड़ी भारत से मिश्र जाती रही है। ये बातें दोनों के पारस्परिक संबन्ध को और अधिक पुष्ट करती हैं। अब तो डा० प्राणनाथ यह भी सिद्ध कर रहे हैं कि नील नदी से लेकर गंगा की घाटी तक एक ही आर्य जाति शासन करती थी जिसकी भाषा संस्कृत थी। मिश्र, बैबिलोन, सीरिया और और मोहनजोदड़ो के लेख उसी एक भाषा में लिखे हुए हैं। डा० साहब ने इन लेखों को संस्कृत में पढ़ भी लिया है जिन्हें वे पाठकों के सम्मुख शीघ्र ही ग्रन्थ के रूप में लाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस स्थापना से बृहत्तर भारत का पक्ष और भी अधिक पुष्ट हो जाता है।

मैक्सिको और भारत

मैक्सिको के प्राचीन निवासियों में यह दन्तकथा प्रचलित थी कि हमारी सभ्यता का मूल किसी पश्चिमीय देश में है। यह पश्चिम देश निश्चय ही भारत है क्योंकि भारत मैक्सिको के पश्चिम में है। अमेरिकन अनुश्रुति के अनुसार—"केट्सालकटल" नामक एक व्यक्ति उनके देश में आया। इसकी दाढ़ी लम्बी, कद ऊंचा, बाल काले और रंग श्वेत था। इसने वहां के निवासियों को कृषि की शिक्षा दी, धातुओं का प्रयोग सिखाया और शासन प्रणाली का ज्ञान दिया। इन उपकारों के कारण अमेरिकन लोग उसे देवता की तरह पूजने लगे। केट्सालकटल के पहुंचने से वहां स्वर्णीय युग का आरम्भ हुवा। पृथिवी फलफूल से परिपूर्ण हो गई। अनाज बहुत होने लगा। भांति भांति के रंग की कपास उगने लगी। तात्पर्य यह कि उसके आगमन से अमेरिका में सुनहरा संसार बस गया। परन्तु यह दैवीय पुरुष देर तक वहां न रह सका, कुछ काल पश्चात् इसे वापिस लौटना पड़ा। जब वह मैक्सिको की खाड़ी के समीप पहुंचा तो उसके साथियों ने उससे विदा ली।"[1] यह केट्सालकटल भारत का सालकटंकट ही है। रामायण को पढ़ने से ज्ञात होता है कि साल-कटंकट वंश के राक्षस विष्णु से पराजित होकर पाताल देश में चले में चले गये थे। वे लोग लंका के रहने वाले थे। रामायण में यह भी लिखा है कि विष्णु के डर से भयभीत हुए सालकटंकट राक्षस बहुत देर तक पाताल देश में रहकर पुत्रों पौत्रों के साथ स्वदेश लौट आये। रामायण के उत्तरकाण्ड में यह कथा इस प्रकार है:—

एवं ते राक्षसा राम हरिणा कमलेक्षण।
बहुशः संयुगे भग्ना हतप्रवर नायकाः॥

---

१. देखिये, Conquest of Mexico by Prescott, Page 21

अशक्नुवन्तस्ते विष्णुं प्रतियोद्धुं बलार्दिताः ।
त्यक्त्वा लंकां गता वस्तुं पातालं सहपत्नयः ॥
सुमालिनं समासाद्य राक्षसं रघुसत्तम ।
स्थिताः प्रख्यातवीर्यास्ते वंशे सालकटंकटे ॥
सुमाली माल्यवान् माली ये च तेषां पुरःसराः ।
सर्व एते महाभागा रावणाद्बलवत्तराः ॥
रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ८, श्लो० २१-२३,३४ ॥

चिरात्सुमाली व्यचरद्रसातलं स राक्षसो विष्णुभयार्दितस्तदा ।
पुत्रैश्च पौत्रैश्च समन्वितो बली ततस्तु लंकामवसद्धनेश्वरः ॥
रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ८ श्लो० २६ ॥

यहां मैक्सिको के मय लोगों और भारतीयों में कुछ समानतायें प्रदर्शित की जाती हैं ।

(क) मय लोगों की सभ्यता का बहुत बड़ा भाग, विशेषतया मूर्त्तिनिर्माणकला, भारतीय आधार पर आश्रित थी । 'कोपन' के प्राचीन मंदिर की दीवार पर एक चित्र बना हुआ है, इसमें हाथियों पर महावत सवार हैं जिनके हाथ में अंकुश, कलाई में कङ्कण तथा सिर पर पगड़ियां बंधी हुई हैं ।[1] यह भाव बिल्कुल भारतीय जान पड़ता है । प्रतीत होता है कि यह किसी भारतीय के हाथ का ही परिणाम है । 'निकल' में एक वेदी है । इस पर बनी हुई सिर के सदृश आकर वाली प्रतिमायें, शिव की मुण्डमाला के लिये, दिये हुए सिरों का स्मरण करा रही हैं । मयकला के सर्पयुक्त स्तम्भ तथा मन्दिरों पर की हुई चित्रकारी स्पष्टतया सूचित कर रही है कि वह केवल मय लोगों के शिल्प का ही परिणाम नहीं प्रत्युत उसका प्रारम्भ भी भारत से हुआ है । हिन्दुओं

---

१. देखिये,Conquest of the Maya by J. Lelie Mitchell, Page 88.

की पौराणिक गाथाओं की वस्तुएं भी मन्दिरों की भित्तियों पर दृष्टिगोचर होती हैं। 'कीरिग्वा' में मिट्टी की बनी मकर की एक मूर्त्ति मिली है। इसी प्रकार कई स्थानों पर 'तक्षक' आदि के चित्र भी उपलब्ध होते हैं। मन्दिरों की दीवारों पर जो चित्र बने हुए हैं उन पर सोने का काम किया हुआ है। सोने का यह उपयोग उन्होंने भारत से ही सीखा था क्योंकि मैक्सिको में तो सोना होता न था और साथ ही उस समय सोने का प्रयोग केवल पवित्र और धार्मिक कार्यों में किया जाता था।

(ख) अनेक हिन्दू देवता भी मय लोगों के पूजापात्र थे। उनके देवों में हाथी की सूंड वाले देवता का स्थान बहुत ऊंचा था। यह हिन्दू देवता गणेश ही है।[१]

मय लोगों का एक देवता और था जिसे वे वर्षा और पृथिवी का अधिष्ठाता मानते थे। इसके हाथ में वज्र है। इसका नाम 'Chac' है। क्या यह भारत का शक्र अर्थात् इन्द्र ही तो नहीं ?[२]

इनके अतिरिक्त वानराकृति के एक पूंछवाले देवता को भी वे पूजते थे। यह हिन्दुओं का हनुमान है।[३]

(ग) आत्मा अमर है, वह बार बार जन्म ग्रहण करता है, मरने के कुछ दिन बाद तक आकाश में घूमता रहता है—यह विचार भी मय लोगों में विद्यमान था।[४]

(घ) मय लोग अपने मृत व्यक्तियों का दाह भी किया करते थे। उसकी राख को बर्तन में रख कर ऊपर से समाधि बनाते थे।

१. देखिये, Conquest of the Maya Page 113

२. देखिये, Conquest of the Maya Page 113

३. देखिये, Conquest of the Maya Page 114

४. देखिये, Conquest of the Maya Page 138

काली महोदय लिखते हैं, "ये सब बातें कि मय लोग मृत व्यक्ति को जलाते थे और उसकी राख इकट्ठी कर उस पर समाधि बनाते थे, हमें मिश्र और भारत का स्मरण करा देती हैं।"[1] मुर्दों को जलाना अपने में कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु ये सब बातें मिलकर ऐसे सादृश्य को उत्पन्न करती हैं जो इस सचाई को स्पष्टतया उद्घोषित करता है कि "मय साम्राज्य तथा मय सभ्यता का संस्थापन मय लोगों के आधुनिक पूर्वजों अर्थात् युकेटन अथवा प्राचीन त्रिभुजाकार क्षेत्र के निवासियों ने नहीं किया था, प्रत्युत वह तो उस सांस्कृतिक क्रियाशीलता का परिणाम थी, जिसने चम और ख्मेर लोगों के महलों और मन्दिरों में प्रवेश किया था, और जिसने ही जावा के विश्वविख्यात बोरोबुदूर मन्दिर को तथा कलसन देवालय को खड़ा किया था।"[2]

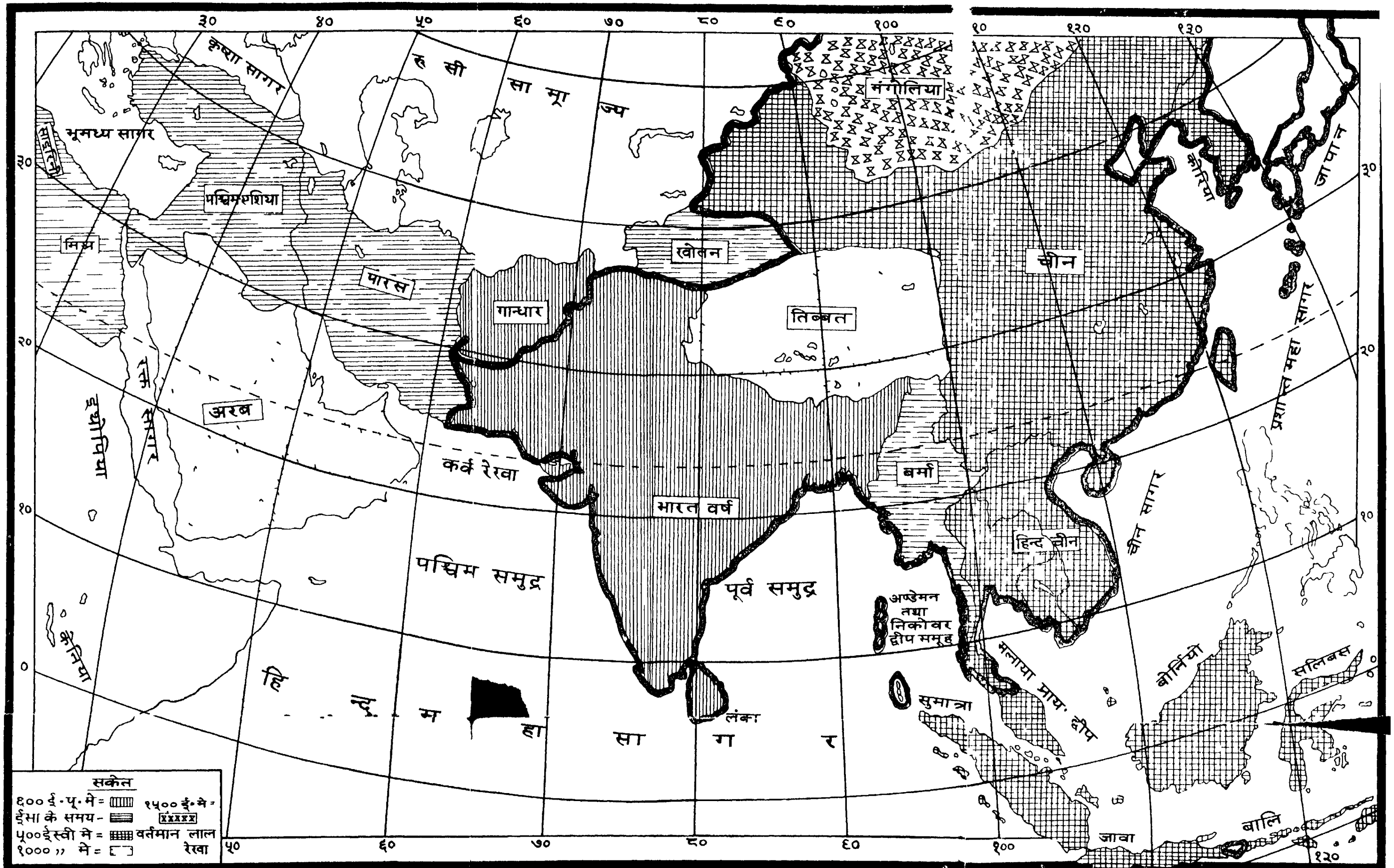
फिनीशियन और पणि

संसार के प्राचीन इतिहास के निर्माण में फिनीशियन लोगों ने बहुत बड़ा भाग लिया है। उस समय यह संसार की सब से समृद्ध और व्यापारी जाति समझी जाती थी। फिनीशियन द्वीपसमूह, सिडन और टायर, जिन्हें सिकन्दर ने मलियामेट किया, तथा कार्थेज—जिसे रोमन लोगों ने हल चला कर सम्पूर्णतया तहस नहस कर दिया— ये सब इन्हीं फिनीशियन लोगों की बस्तियां थीं। कार्थेज निवासी— जिन्हें रोमन इतिहास में 'प्यूनिक' नाम से स्मरण किया गया गया है— व्यापार द्वारा इतने समृद्ध बन गये थे कि बार बार नष्ट किये जाने पर भी उनके महल फिर से खड़े हो जाते थे। ऐतिहासिक शोध के द्वारा पता चला है कि ये फिनीशियन

१. देखिये, भारतवर्ष का इतिहास, प्रो० रामदेवकृत, पृ३ ३३८

२. देखिये, Conquest of the maya, Page 119

और प्यूनिक भारत के पणि लोग ही थे। निरुक्त में कहा है, पणिर्वणिग्भवति।' ये 'पणि लोग भी व्यापारी थे। इन्होंने व्यापार की इच्छा से भारत का पश्चिम घाट छोड़ कर ईरान की ओर प्रस्थान किया। वहां कुछ काल तक रहने के पश्चात् जब इन्होंने देखा कि पर्शियन आक्रमणों के कारण वह स्थान व्यापार के लिये सुरक्षित नहीं रहा, तो ये वहां से हट कर वर्त्तमान सीरिया के समुद्र तट पर बस गये, जिसका नाम उन्होंने अपने नाम के आधार पर फिनीशिया (पणि लोगों का देश) रक्खा। वहां रह कर इन्होंने ग्रीक द्वीपसमूह, दक्षिणीय योरुप तथा उत्तरीय अफ्रीका से व्यापार प्रारम्भ किया। इस व्यापार से इनकी शक्ति अपरिमेय हो गई। अब इन्होंने उत्तरीय अफ्रीका और भूमध्यसागर के द्वीप आवासित करने आरम्भ किये। कार्थेज इन्हीं का बसाया हुआ था। इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी भलीभांति जानता है कि कार्थेज का दक्षिण योरुप के इतिहास में कितना प्रमुख भाग है। अपनी समृद्धि के समय इसकी जनसंख्या छः लाख थी। पणि लोग यहीं नहीं रुके, वे और आगे बढ़े और ग्रेटब्रिटेन, गाल (वर्त्तमान फ्रांस) और स्कैन्डेनेविया तक व्यापार करने लगे। वहां के निवासियों ने इन्हीं से धातु का प्रयोग तथा कृषि करना सीखा। इस प्रकार पणि लोगों ने, न केवल सैमेटिक लोगों में ही, अपितु अरब, पश्चिम एशिया, उत्तरीय अफ्रीका, ग्रीस, गॉल, ब्रिटेन और नारवे तक, आर्य्यसभ्यता का प्रचार किया। बोस्टन-अद्भुतालय के अध्यक्ष श्री कुमारस्वामी ने हाल में ही एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है जिससे यह भी ज्ञात होता है कि आइसलैंड के प्राचीन निवासियों का धर्मग्रन्थ 'वलूस्पा' ऋग्वेद का अनुवाद है। सम्भव है कि यह भी पणि लोगों के साहस का ही परिणाम हो। इन्हीं पणि लोगों द्वारा प्रयुक्त की



कालक्रम मे भारत का विस्तार और ह्रास

किस समय कितना कम हुआ—

६ ई. स. पश्चिम एशिया + मिश्र + साइरिनी ।

१० ई. स. पारस + गान्धार + खोतन + अरब ।

१५ ई. स. सुमात्रा + जावा + बोर्नियो + सलिबस + मलाया ।

की जाती हुई वर्णमाला के आधार पर आगे चल कर ग्रीक लोगों ने अपनी वर्णमाला तय्यार की।[1]

पारस और भारत

मैक्समूलर ने लिखा है कि, "भौगोलिक आधार से यह सिद्ध हो चुका है कि पारसी लोग ईरान जाने से पूर्व भारत में रहते थे। वे लोग यहीं से जाकर वहां बसे थे। यह बात उतनी ही स्पष्ट है जितनी कि मैसीलिया के निवासियों का ग्रीस से आकर बसना। पारसी लोग उत्तरभारत से जाकर ही वहां बसे थे। वहां पहुंच कर इन्होंने अपने बसाये नगरों के नाम भारतीय ही रक्खे। उनका 'हरयू' भारत का 'सरयू' है।"[2] नमः जरदुश्त ग्रन्थ में लिखा है कि, "व्यास नामक एक महान् विद्वान्, जो पृथिवी में अद्वितीय है, भारत से आयेगा। वह जरदुश्त से बहुत से प्रश्न करेगा।"[3] पांचवे शासन में लिखा है कि व्यास वलख में गुस्तास्प से मिला। राजा ने सब विद्वानों को बुलाया, वहां जरदुश्त भी आया।" इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर लिखा है, "सिकन्दर की विजय के पश्चात् प्रथम सासन भारत गया। वहां जाकर उसने ध्यान, समाधि आदि किये। परमात्मा ने प्रसन्न होकर उसे पैग़म्बर बनाया। वहां रहते हुवे उसने दार्शनिक ग्रन्थ भी लिखे।"[4] 'होमयष्ट' में लिखा है, "जरदुश्त से पहले केवल चार व्यक्तियों ने सोम तय्यार किया था। (१) विवन्वत और उसका पुत्र यिम (२) अथव्य और उसका पुत्र थ्रेतान (३) थ्रित और (४) पौरुषास्प। इस पौरुषास्प का लड़का तू जरदुश्त है, जो कि आर्य्यानबीज में अतिप्रसिद्ध 'अहुर' में भक्ति

---

१. देखिये, Rigvedic India Page 204–205

२ देखिये, The Fountaina Head of Religions, Page 163.

३. देखिये, The Fountain Head of Religions. Page 166.

४. देखिये, The Fountain Head of Religions. Page 167.

रखता है।"[1] ये सब नाम वैदिक हैं। विवन्वत और यिम. वैवस्वत और यम; अथ्व्य और थ्रेतान, आप्त्य तथा त्रैतन; थ्रित, त्रित तथा पौरुषास्प पुरुषाश्व है। ये सब वैदिक साहित्य में बहुत प्रयुक्त होते हैं। ज़िन्दावस्था में अथर्ववेद का निर्देश भी पाया जाता है। हॉग साहब लिखते हैं कि, "होम केरिस्तानी ने राजा को गद्दी से उतार दिया, क्योंकि इस राजा ने यह आज्ञा निकाली थी कि कोई 'अथर्वा' 'अपां अविष्टय' मंत्र का उच्चारण न करे।"[2] यहां भी केरिस्तानी कृशानु और अपां अविष्टय 'अपां अभिष्टय' है। यही मन्त्र अथर्ववेद की कई प्रतियों में प्रथम मन्त्र है। इन समताओं के अतिरिक्त उनकी भाषा भी संस्कृत से बहुत मिलती है। यहां कुछ एक ऐसे नियम दिये जाते हैं जिनसे ज़न्द शब्द बड़ी सुगमता से संस्कृत बन जाते हैं:—

(१) संस्कृत 'स' ज़न्द में 'ह' हो जाता है।

संस्कृत	ज़न्द
सोम	होम
सेना	हेना
सप्त	हप्त
सन्ति	हन्ति
असुर	अहुर
अश्मि	अह्मि

(२) संस्कृत 'ह' ज़न्द में 'ज' हो जाता है।

हस्त	जस्त
वराह	वराज
होता	जोता

---

१. देखिये, The Fountain Head of Religions. Page 159.

२. देखिये, The Fountain Head of Religions, Page 161.

हिम	जिम

(३) संस्कृत 'श्व' ज़न्द में 'स्प' हो जाता है।

संस्कृत	ज़न्द
विश्व	विस्प
अश्व	अस्प

(४) संस्कृत 'त' ज़न्द में 'थ' हो जाता है।

संस्कृत	ज़न्द
मित्र	मिथ्र
त्रित	थ्रित
मंत्र	मंथ्र

कुछ संस्कृत शब्द ज़न्द में बिना किसी परिवर्त्तन के विद्यमान हैं। यथा—युष्माकम्, पशु, गो, उक्षन्, स्थूर, वात, अभ्र, यव, नमस्ते, इषु, रथ, रथेष्ठ, गन्धर्व, गाथा, इष्टि। इन नियमों के आधार पर ज़न्द के वाक्य के वाक्य संस्कृत बन जाते हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं जिनसे यह बात स्पष्ट हो जायेगी:—

ज़न्द	संस्कृत
यथा हिनोति एशं वाचम्	यथा शृणोति एतां वाचम्
विस्प दुरक्ष जगैति	विश्व दुरक्षो जिन्वति

भाषा के अतिरिक्त छन्दों की एकता भी पाई जाती है। गाथा 'स्पन्तामन्यु' और 'उष्टन्वैति' अनुष्टुप छन्द में, गाथा 'अहुन्वैति' गायत्री आसुरी में और गाथा 'वाहुक्षत्र' उष्णिक् आसुरी में है।

वैदिक चातुर्वर्ण्य भी पारसियों के यहां पाया जाता है। ज़िन्दावस्था में इनके नाम इस प्रकार हैं:—

(१) अथर्वन (पुरोहित) (२) रथेस्तर (सैनिक)
(३) वस्तियोफश्यस् (कृषक) (४) हुईतस् (सेवक)

ये क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं।

पुनर्जन्म का विचार भी पारसियों में विद्यमान है। होशङ्ग में लिखा है, "पुराना चोला उतार कर नया चोला पहनना अनिवार्य है।"[1] नभा मिहबद में लिखा है, "प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक में स्थान प्राप्त करता है। वह वहां सर्वदा नहीं रहता। यदि कोई संसार में लौटना चाहता है तो– यदि उसने अच्छे कर्म किये होते हैं—वह राजा, मंत्री या अमीर बनकर पैदा होता है। जैसा करता है वैसा ही भरता है। पैग़म्बर बशादाबाद ने कहा है कि राजाओं को जो दुःख होते हैं वे उनके पूर्वकर्मों के परिणामस्वरूप होते हैं।[2]

सोम की जो महिमा हिन्दूशास्त्रों में है वही पारसियों के यहां भी। गोमेध, दर्शपौर्णमासेष्टि, चातुर्मास्येष्टि, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ भी पारसियों में होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि पारसी भी अपनी संस्कृति के लिये भारत के ऋणी हैं।

सुमेर और सुवर्ण

प्राचीन समय में यूफ्रेटीज़ और टाईग्रिस नदियों की घाटियों में एक जाति राज्य करती थी जिसे 'सुमेर' कहा जाता है। सुमेर साहित्य में सर्वत्र पाया जाता है कि सुमेर लोग ईरान की खाड़ी में से होकर मैसोपोटामिया में पहुंचे और वहां 'इरीदु' नामक बन्दरगाह को सुमेरों के सर्वप्रथम राजा 'उक्कुसि' ने अपनी राजधानी बनाया। अब देखना यह है कि ये सुमेर लोग कौन थे ? यदि ये कहीं बाहर से आये तो कहां से और यह उक्कुसि कौन था ?

महाभारत को पढ़ने से ज्ञात होता है कि भारत में 'सुवर्ण' नाम की कोई जाति रहती थी, और उनसे आवासित प्रदेश का नाम

---

१. देखिये, The Fountain Head of Religions. Page 139.
२. देखिये, The Fountain Head of Religions. Page 140.

सुवर्णप्रदेश था। यह सुवर्ण जाति कौन थी? सुवर्ण का अर्थ है—सु=उत्तम, वर्ण=जाति अर्थात् उत्तम लोग। इन्हीं के नाम से भारत के एक प्रान्त का नाम प्राचीन समय में 'सुराष्ट्र' था। सुराष्ट्र का अर्थ भी—सु=उत्तम, राष्ट्र=प्रदेश अर्थात् उत्तम लोगों का देश था। जिस प्रकार, गुर्जरों के नाम से गुजरात, भोटों के नाम से भूटान, मंगोलों के नाम से मंगोलिया और तुर्कों के नाम से टर्की आदि देशों के नाम पड़े; ऐसे ही सुवर्ण लोगों के नाम से सुराष्ट्र नाम पड़ा था।[1] इस प्रकार सुवर्ण लोग सुराष्ट्र के निवासी थे और सुवर्ण-प्रदेश यही सुराष्ट्र था।

अब 'सुमेर' शब्द को देखिये। सुमेर का अर्थ है—सु=उत्तम, मेर=जाति। अर्थात् उत्तम लोग। अतः सुमेर और सुवर्ण एक हुए। सुमेर सभ्यता के संस्थापक ये सुवर्ण लोग ही थे जो सुराष्ट्र से जाकर मैसोपोटामिया, यूफ्रेटीज और टाईग्रिस नदियों की अर्धचन्द्राकार घाटी में बसे थे। यह बात दोनों की वंशावलियों से भी सिद्ध होती है। निप्पुर, इसिन और किश आदि नगरों से मिट्टी की बहुत सी ईंटें उपलब्ध हुई हैं। इनमें सुमेर राजाओं की वंशावलियां दी हुई हैं। इनमें से किश वंशावली सबसे प्राचीन है। इसमें प्रथम राजवंश से पांचवें राजवंश तक के सब नाम तथा उनका काल भी दिया हुआ है। इसके अनुसार इरीदु के प्रथम राजवंश का वर्णन इस प्रकार है:—

उकुसि ने ३० वर्ष राज्य किया।
उकुस ने ४२ वर्ष राज्य किया।
पुनपुन ने ६ वर्ष राज्य किया।
नक्सअनेनु ने ३७ वर्ष राज्य किया।

---

१. विस्तृत ज्ञान के लिये देखिये—'विशालभारत' नवम्बर १९३६ तथा जनवरी १९३७।

अब इनकी तुलना भारत के सूर्यवंशी राजाओं से कीजिए—

सुमेरिया की किशवंशावली	भारत की सूर्यवंशावली
१.·········	१. वैवस्वत मनु
२. उक्कुसि	२. इक्ष्वाकु
३. बक्कुस	३. विकुक्षि
४. पुनपुन	४. पुरञ्जय
५. (नक्ष) अनेनु	५. अनेना

इन दोनों वंशावलियों में केवल एक ही भेद है और वह यह कि सुमेरिया का प्रथम राजा इक्ष्वाकु था और भारत का वैवस्वत मनु। इस भेद से यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि सुमेर का प्रथम राजा इक्ष्वाकु भारतीय मनु का पुत्र था, वह भारत से ही मैसोपोटामिया गया और वहां का प्रथम राजा बना। यह इक्ष्वाकु ही था जो सुवर्ण लोगों को लेकर वहां गया, वहां सुमेर सभ्यता की स्थापना की और स्वयं वहां का प्रथम राजा हुआ।

जब सुवर्ण लोग 'इरीदु' बन्दरगाह को राजधानी बना कर शासन कर रहे थे, उस समय, एक ऐसी घटना घटित हुई, जिसने न केवल मैसोपोटामिया के इतिहास में ही, अपितु भारत के इतिहास में भी भयंकर परिवर्त्तन कर दिया। वह थी 'जलप्रलय' की। जिन नदियों की घाटियों में सुवर्ण लोग बसे हुए थे उनमें बहुधा बाढ़ें आया करती थीं। एक बार ऐसी भयंकर बाढ़ आई कि आर्यों (सुवर्णलोगों) की समस्त बस्तियां बह गईं। बहुत सा जन-धन का का ह्रास हुआ। इस प्रलय के चिह्न 'किश' और 'उर' की खुदाईयों में प्राप्त हो चुके हैं। यह जलप्रलय ही सुमेर और भारतीय साहित्य की एक महान् ऐतिहासिक घटना बन गई। इस जलप्रलय में आर्य्यों के नाश का प्रधान कारण यह था कि उन्हें नौका-निर्माण का अच्छा ज्ञान न था। परिणामतः आर्य्य लोग मैसोपोटामिया

छोड़ कर भारत चले आये। इस समय भारत में 'मनु' राज्य कर रहा था। 'शतपथ' ब्राह्मण भी इसी समय तय्यार हो रहा था। मनु के समय यह घटना होने से शतपथ के रचयिता ने इसे उसी में अंकित कर दिया। सुवर्ण लोगों को नौकानिर्माण का ज्ञान न था इस विषय का एक प्रमाण यह भी है कि शतपथ ब्राह्मण में एक मछली आकर मनु से नौका बनाने को कहती है। यह बात वहां बड़े आलंकारिक ढंग से कही गई है। साथ ही विविध प्रकार की नौकाएं बनाने की विधियां शतपथ ब्राह्मण में बताई गई हैं। इन सब का अभिप्राय यही है कि इस जलप्रलय के पश्चात् आर्य्यों ने नौकानयन में दक्षता प्राप्त की। सुराष्ट्र के किनारे एक बन्दरगाह भी इसी उद्देश्य से बनाया गया था जहां सुवर्ण लोग नौकानयन में निपुणता प्राप्त कर सकें। जब सुवर्ण लोगों ने इसमें पूर्ण चतुरता प्राप्त कर ली तो वे पुनः मैसोपोटामिया गये। परन्तु इस बार इक्ष्वाकु इरीदु में नहीं बसा। क्योंकि, उसने देखा कि तब भी नदियों में बाढ़ें आ रही थीं। अतः वह सीधा एशियामाईनर (मैसोपोटामिया के उत्तर में) गया और वहां 'तल-हलफ' के निकट अपनी नई राजधानी बनाई। इक्ष्वाकु (उक्कुसी) के पश्चात् विकुक्षि (बकुस) ने भी यहीं राज्य किया। परन्तु अपने राज्यकाल के १२वें वर्ष में वह युफ्रेटीज़ और टाईग्रिस नदियों की घाटियों में उतर गया। क्योंकि अब बाढ़ें आनी कम हो गई थीं। यहां (उत्तरी मैसोपोटामिया में) उसने 'किश' नामक नगर बसाया और इसी को अपनी राजधानी बनाया। यह किश नगर सुमेर जाति का प्राचीनतम नगर माना जाता है। जब बाढ़ें और कम हुई तो उन्होंने फरात नदी के किनारे मिट्टी का बांध बना कर स्थान को ऊंचा कर 'उर' नामक एक नये नगर की स्थापना की। इस प्रकार इक्ष्वाकु की अध्यक्षता में आये सुवर्ण लोग ही सुमेर थे जिन्होंने सुमेरियन सभ्यता को विकसित किया।

मैसोपोटामिया की नदियों में बाढ़ें आने के कारण प्रारम्भ में तो ये एशियामाईनर में बसे। इक्ष्वाकु ने अपना राज्यकाल वहीं समाप्त किया। किन्तु ज्यों ज्यों बाढ़ें कम होती गईं सुवर्ण लोग नीचे उतरते गये। पहले उन्होंने 'किश' को अपनी राजधानी बनाया और पीछे 'उर' को। इन सुवर्ण लोगों ने ही पहले पहल सुमेरिया और एशियामाईनर में सूर्यपूजा तथा कृषि को प्रचलित किया था। इसकी पुष्टि में एशियामाईनर से प्राप्त इक्ष्वाकु की वे मुद्राएं हैं जिन पर उसके एक हाथ में सूर्य्य और साथ में गरुड़ बना हुआ है। गरुड़ सूर्य्य का वाहन माना जाता था। मिश्र में गरुड़ को पृथ्वी पर सूर्य्य का प्रतिनिधि समझा जाता था। सूर्य्य आर्य्यों की पूजा का प्रधान पात्र था। इसलिये सुमेरिया में गये आर्य्य लोग भी इसके उपासक थे। 'निप्पुर' सुमेर लोगों की सूर्य्यपूजा का केन्द्र बना हुआ था। सूर्य्यपूजा के साथ साथ आर्य्य लोग कृषि के भी प्रचारक थे। 'बोगज़-कोई' नामक स्थान पर 'बकुस' (विकुक्षि) की एक विशाल मूर्त्ति चट्टान पर खुदी हुई है। इसके एक हाथ में गेहूं की बालें और दूसरे में 'हल' है। इससे स्पष्ट है कि आर्य्य लोग किस उद्देश्य को लेकर बाहर गये थे? उनके एक हाथ में कलम और दूसरे में तलवार न थी। आर्य्य जाति कृषि की प्रचारक थी। कृषि सभ्यता का आधार मानी जाती है। आर्य्य लोग इसके प्रचारक थे। दूसरे शब्दों में आर्य्य लोग सभ्यता के प्रचारक थे। जिस प्रकार, भारतीय आर्य्य लोग रथ का उपयोग करते थे। वैसे ही सुमेर लोग भी। 'उर' की खुदाई में अनेक रथ भी प्राप्त हुए हैं। जिस प्रकार आर्य्य लोग मृतकों का दाह संस्कार करते थे। वैसे ही सुमेर लोग भी। इस प्रकार स्पष्ट है कि सुमेर सभ्यता के संस्थापक वे लोग ही थे जो सुराष्ट्र से इक्ष्वाकु की अध्यक्षता में मैसेपोटामिया पहुंचे थे।

मितनी और भारत

१६०७ ई० में जब 'ह्यूगो-विकंलर' नामक एक जर्मन महानुभाव कपादोसिआ (संस्कृत कपादोष) स्थान पर खुदाई करवा रहे थे तो 'बोगज्र-कोई' स्थान पर मितनी भाषा में लिखा हुआ एक लेख प्राप्त हुआ। यह लेख ईसा से १३६० वर्ष पूर्व मिश्री लोगों के विरुद्ध हित्ताईत और मितनी लोगों में परस्पर संधि के रूप में लिखा गया था। इसमें मितनी राजा दुसरथ (Dusratha) अपने देवों की इस प्रकार शपथ खाता है:—

"इलानी मित्तर अस्सुइल इलानी उरूवना अस्सुइल इलु इनदार नस अतिया अन्ना।" [१]

अर्थात मित्तर (मित्र) उरूवना (वरुण) इनदार (इन्द्र) और नसअतिया (नासत्य) देवता साक्षी हैं। इस लेख ने आर्य्य जाति के प्राचीन इतिहास के विषय में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। अब तक यह माना जाता था कि प्राचीनकाल में पश्चिम एशिया में शासन करने वाली जातियां सैमेटिक ही थीं परन्तु इस संधिपत्र ने यह प्रमाणित कर दिया है कि आर्य लोग पश्चिम एशिया तक भी पहुंचे थे और वहां उन्होंने अपने राज्य भी स्थापित किये थे। यह सचमुच आश्चर्य का विषय है कि ईसा से १३६० वर्ष पूर्व, उत्तरीय मैसोपोटामिया में वैदिक देवता पूजे जाते थे। न केवल पूजे जाते थे परन्तु जहां संसार के अन्य देवता परस्पर लड़ाते हैं, एक दूसरे का रक्त पीने को उकसाते हैं, वहां भारत के देवता 'शान्ति के देवदूत' समझे जाते थे। बड़े बड़े सम्राट् उनकी शपथ ग्रहण करते थे। इतना ही नहीं, इस संधिपत्र में मितनी राजा दुसरथ (दशरथ) का नाम भी आर्य पाया जाता है। पुराणों में अनेक

---

१. देखिये, The Combridge History of India, Vol. I, Page 72.

दशरथों का वर्णन है। उनमें से यह कौन सा था, यह बता सकना तो अभी कठिन है। फिर भी इतना निश्चित है कि वह आर्य ही था।

इसी बोगज़-कोई स्थान से एक तख्ती और मिली है। इस पर सुतर्न (Sutarua), दुसरथ (Dusratha), अर्ततम (Artatama) आदि मितनी राजाओं के नाम अंकित हैं।[1] ये नाम आर्य नामों से बहुत मिलते हैं। यह भी ज्ञात हुआ है कि मितनी लोगों में एक वीर लड़ाका जाति थी जिसका नाम (Mariauana) था। यह संस्कृत 'मर्य' है। पुरातत्व विभाग द्वारा यह भी पता चला है कि तल्ल-अल-अर्मन (Tell-el-Amarna) तख्तियों में सीरिया और पैलस्टाईन के प्राचीन राजकुमारों के नाम विद्यमान हैं इनमें Biridaswa of Yenoam, Suwardata of Keilah, Yasdata of Taanach and Artamanya of Tir-Bashen बिरिदस्व, सुवरदत्त, यसदत्त, अर्त्तमन्य आदि नाम संस्कृत नामों के अपभ्रंश है।[2] ये राजा ईरानी नहीं हो सकते, क्योंकि यदि ये ईरानी होते तो 'अस्व' शब्द 'अस्प' हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं हुआ।

प्रश्न यह है कि ये मितनी लोग कौन थे? इस विषय पर ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। कुछ ऐतिहासिक इनके राजाओं के नाम देख कर इन्हें भारतीय आर्यों की उपशाखा मानते हैं। कुछ इनके देवताओं से इन्हें अविभक्त—भारतीय—ईरानी—देवतावादी (Undivided-Indo-Iranian-Pantheon) कहते हैं। श्रीयुत् 'हडन' के मत में ये वे आरमीनियन थे जिन्हें किसी भारतीय देवताओं को मानने वाली जाति ने बसाया था। 'वॉन लुशन'

१-२. देखिये, The Calcutta Review, Sept-and Oct. 1937.
Article of B. N. Date.

और 'चाइल्ड' की सम्मति में ये नारडिक नस्ल से मिले हुए (संकर) आर्य लोग थे। इनमें से अधिकांश कल्पनायें इस आधार पर आश्रित हैं कि आर्य लोग भारत आने से पूर्व नारडिक लोगों से मिल चुके थे। जब वे कॉकेशियस पर्वत पार कर भारत की ओर आ रहे थे तो मार्ग में उन्होंने मितनी राज्य की स्थापना की। परन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है क्योंकि अभी तो यह भी निश्चित नहीं हुआ कि भारत के आर्य लोग कॉकेशियस पर्वत के पार से आये थे। वस्तुस्थिति तो यह है कि मितनी लोग भारत से गये आर्य लोग थे। 'महेन्जोदारो' की खुदाई से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि 'सिन्धुतट की सभ्यता' मैसोपोटामिया की सभ्यता से मेल खाती है। यह भी देखा जा चुका है कि मितनी भाषा प्राकृत भाषा से समानता रखती है। उनके देवता और राजाओं के नाम भारतीय हैं। ये सब बातें, यह मानने को विवश करती हैं कि भारत से गये आर्यों ने ही मितनी राज्य की स्थापना की थी।

हित्ताईत और भारत

प्राचीन काल में, एशियामाईनर में जो जाति राज्य करती थी, उसे 'हित्ताईत' या 'खत्ती' कहा जाता है। खत्ती लोग अपने को 'खत्तिया' भी कहते थे। ये खत्तिया भारत के 'क्षत्रिय' ही थे। इनकी प्रारम्भिक राजधानी 'तलहलफ' के समीप थी, जिसका पता 'फ्रान-ओपनहेन' नामक एक जर्मन विद्वान् ने लगाया है। कालान्तर में इन्होंने अपनी राजधानी बोगज़-कोई के निकट बनाई, जिसके अवशेष वर्त्तमान समय में भी उपलब्ध होते हैं। इनके कई लेख भी मिले हैं, जिन पर आर्यभाषा का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। एक लेख में दौड़ने की खेल का वर्णन करते हुए एक-वार्तान्न (Aikavaartaanna), तीरवार्तान्न (Tieravaartaanna),

पांजवार्ताँन्न (Paanzavaartaanna), सात्तवार्ताँन्न (Saatta-vaartaanna), नावार्ताँन्न, (Naavaartaanna) ये शब्द लिखे हुए हैं।[1] ये क्रमशः संस्कृत के एक, त्रि, पञ्च, सप्त और नव वार्तन शब्द हैं। देखने में हिन्दी के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। इसी लेख में 'वसन्न' और 'अजमेव' ये दो शब्द और पाये जाते हैं। इनका ठीक ठीक अभिप्राय अभी तक ज्ञात नहीं हुआ। सम्भवतः ये क्रीड़ाक्षेत्र (वसन्न), और दौड़ने के लिये (अज्ञमेव, अज्ञुगतौ) प्रयुक्त किये गये हैं। यह खेल 'कबड्डी' का सा जान पड़ता है।

हित्ताईत लोगों की सभ्यता और देवता भी भारतीय थे। एक हित्ताईत लेख में मित्र, वरुण और अग्नि—इन देवताओं का वर्णन है।[2] सीरिया से एक हित्ताईत राजा का सिक्का प्राप्त हुआ है। इसके एक ओर सिंहारूढ़ देवी और दूसरी ओर वृषभारूढ़ देवता का चित्र है। इसमें किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता कि ये क्रमशः 'भवानी' और 'महादेव' हैं। बोग-कोई में हित्ताईत लोगों द्वारा पत्थरतराश कर बनाई हुई एक मूर्त्ति मिली है। इसम एक देवता है जिसके हाथ में त्रिशूल है। पास में एक देवी की मूर्त्ति है, जिसके सामने एक सिंह खड़ा है। देवी और देवता–दोनों के बीच में एक बच्चा बैठा हुआ है।[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह चित्र शिव, पार्वती और स्कन्द का है। हित्ताईत लोगों में वर्ण-व्यवस्था की सत्ता भी उपलब्ध होती है। 'इकोनिअम' में प्राप्त हुए लेख के विषय में 'रैम्सी' लिखता है—"यह लेख चार मालाओं क बीच में लिखा हुआ है। ये चार मालाएं चार जातियों की प्रतिनिधि

१–२ देखिये, The Calcutta Review, Sept. 1937. Article By B.N. Datta. A.M. (Brown) Dr. Phil (Hambarg)

३ देखिये, The Calcutta Review, Sept. 1937. Article By B,N, Datta.A.M. (Brown) Dr. Phil (Hambarg)

हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हित्ताईत लोगों में भारत की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था भी प्रचलित थी।[1] इसके अतिरिक्त हित्ताईत लोग जो जूते पहनते थे उनके अगले भाग पर ऊपर की ओर ऐसे उठे होते थे जैसे भारतीय जूतों के।[2] ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि हित्ताईत लोगों की सभ्यता तथा भाषा भारतीयों से मिलती थी। वे किस समय और भारत के किस भाग से वहां गये यह अभी तक खोज का विषय बना हुआ है।

कसित और भारत

एशियामाईनर में हित्ताईत लोगों के समीप ही एक जाति और रहती थी। इसका नाम 'कसित' था। कसित शब्द 'खश' का अपभ्रंश है। ये लोग मीडिया और बैबिलोन के बीच जगरस (Zagros) की पहाड़ियों में निवास करते थे। इन्होंने १७४६ ई० पू० से ११८० ई० पू० तक लगभग छः सौ वर्ष बैबिलोन में शासन किया। कसित लोग हित्ताईत लोगों की तरह ही भारत के रहने वाले थे जो अत्यन्त प्राचीन काल में ही उपनिवेश-स्थापन के लिये अपने देश से निकल पड़े थे।

अब तक कसित लोगों की भाषा के केवल ४० शब्द ढूंढे जा सके हैं। यह प्रमाणित हो चुका है कि इनमें से आधे वैदिक शब्दों से निकटता रखते हैं और आधे भारतीय-योरुपीय भाषा परिवार के हैं। असीरिया में प्राप्त हुए एक लेख में एक हित्ताईत राजा का नाम 'अंजु' दिया हुआ है। यह संस्कृत 'अंशु' है। इसी लेख में टाईग्रिस नदी के तट पर ११०० ई० पू० के एक नगर का नाम

---

१. देखिये, The Calcutta Review, Sept, 1937. Article By B.N. Datt. A.M. (Brown) Dr. Phil (Hambarg)

२. देखिये, Rigvedic India, Page 307.

'बगदादु' दिया हुआ है। यह संस्कृत 'भगधात' है। यही आगे जाकर बगदाद हो गया।

कासित लोगों के देवता भी भारतीय देवताओं से मेल खाते हैं। नीचे उनके कुछ देवताओं की तुलना भारतीय देवताओं से की गई है:—

कसित देवता	भारतीय देवता
सुरिअन्	सूर्यस्
मरुतस्	मरुतस्
बगस्	भगस्
शिमालय	हिमालय

(इसे वे हिमयुक्त पहाड़ों की रानी मानते थे)

ये कुछ बिखरी हुई बातें है जो कसित और भारत के बीच सम्बन्ध की कड़ी को प्रकट करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कसित लोगों की भाषा पर कुछ ईरानी प्रभाव अवश्य है। यथा हिमालय शिमालय हो गया है। इसी प्रकार अन्य भी उदाहरण दिखाये जा सकते हैं। यह प्रभाव किस प्रकार पड़ा इस विषय में अभी अधिक अन्वेषण की आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कसित लोग ईरान में से होकर गये थे।

१. देखिये, The Calcutta Review, Sept 1937.

२. देखिये, The Combridge History of India, Page 76.

भारत भ्रमण करने वाले

चार चीनी यात्रियों का परिचय

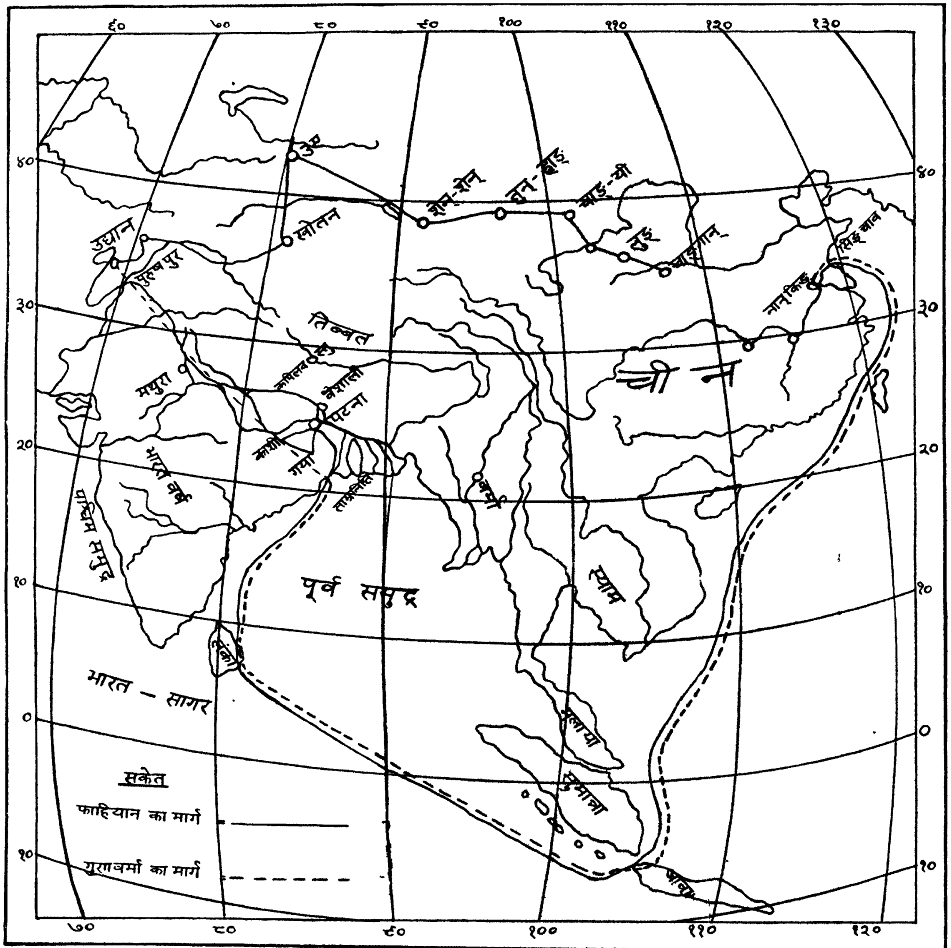
फ़ाहियान, सुङ्-युन्, ह्वेनत्साङ्, ईचिङ्

फ़ाहियान

चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश होने के अनन्तर, वहां के निवासियों में शाक्यमुनि के प्रति भक्ति का स्रोत उमड़ पड़ा। ज्यों ज्यों भारतीय पण्डित बौद्धग्रन्थ लेकर चीन पहुंचने लगे, त्यों त्यों चीनियों में बौद्धसाहित्य के अमूल्य ग्रन्थों को प्राप्त करने की अभिलाषा प्रबल होने लगी। अपनी इस इच्छा को पूर्ण करने के लिये अनेक चीनियों ने इस ओर कदम उठाया। इनमें बहुत से तो पंजाब से आगे ही नहीं बढ़े, और न उन्होंने अपना कोई यात्रावृत्तान्त ही लिखा जिससे उनके विषय में कुछ जाना जा सके। जिन्होंने भारत का भ्रमण कर अपना यात्राविवरण लिखा, उनमें फ़ाहियान सर्वप्रथम है।

यह 'उयङ्' का रहने वाला था। इसका पहला नाम 'कुङ्' था। दस वर्ष की अवस्था में इसके पिता की मृत्यु हो गई, तब चचा ने उसे अपने पास रहने को कहा। कुङ् ने साफ़ साफ़ कह दिया कि उसे तो भिक्षु बनना ही पसन्द है। वह गृहस्थों के संसर्ग से सर्वथा पृथक् रहना चाहता है। इसके कुछ समय उपरान्त उसकी माता की भी मृत्यु हो गई। श्रामणेर अवस्था को पहुंच कर 'कुङ्' ने

प्रव्रज्या ग्रहण की। उस समय इसका नाम 'फ़ाहियान' पड़ा। 'फ़' का अर्थ है 'धर्म', और 'हियान' का अर्थ 'आचार्य' है। इस प्रकार 'फाहियान' का अर्थ 'धर्मगुरु' हुआ। धार्मिक शिक्षा ग्रहण कर जब वह त्रिपिटक पढ़ने लगा तो उसे ज्ञात हुआ कि चीन का त्रिपिटक तो अधूरा और क्रमभ्रष्ट है। विशेषतया विनयपिटक तो सर्वथा क्रमहीन और अपूर्ण है। उसने निश्चय किया कि वह भारत से विनयपिटक की पूरी प्रति अवश्य लायेगा। इस समय फ़ाहियान चाङ्गान् विहार में रहता था। इसने अपने चार साथी और तय्यार किये। ४०० ई० में पांचों भिक्षुओं ने भारत की ओर प्रस्थान किया। ये लोग चाङ्गान् से लुङ् होकर 'कीन्-कीई' आये। यहां वर्षावास कर 'चाङ्-पी' पहुंचे। यहीं पर इन्हें पांच यात्री और मिले। ये भी भारत की तीर्थयात्रा को आ रहे थे। चाङ्-पी में उन दिनों अशान्ति फैली हुई थी अतः एक वर्ष तक सबको रुकना पड़ा। एक वर्ष उपरान्त ये 'तुनह्वाङ्' पहुंचे। यहीं पर नये पांच साथियों को छोड़कर ये गोबी के मरुस्थल को पार कर शेन् शेन् पहुंचे। यहां एक मास रहकर, 'उए' आये। उए के बाद इन्हें अपनी यात्रा में अनेक कष्ट झेलने पड़े। फाहियान ने लिखा है कि ऐसे कष्ट किसी ने कभी न झेले होंगे। पांच मास तक इन विपत्तियों को झेलकर ये खोतन पहुंचे। खोतन में तीन मास रहकर कबन्ध, योहो, ईखा, पोसी आदि प्रदेशों में से होता हुआ यह दल उद्यान पहुंचा। फिर 'शिवि' देश में से होकर गान्धार आया। गान्धार से तक्षशिला और वहां से पुरुषपुर (वर्त्तमान पेशावर) गया। पेशावर पहुंचने पर फ़ाहियान के साथ केवल 'तावचाङ्' ही रह गया। उसके शेष साथी स्वदेश लौट गये। पेशावर के बाद मथुरा, कन्नौज, श्रावस्ती, रामग्राम, कुशीनगर, वैशाली, पाटलिपुत्र, नालन्दा, राजगृह, काशी, सारनाथ, चम्पा आदि नगरों को देखते हुए दोनों यात्री ताम्रलिप्ति



यात्रियों का मार्ग-प्रदर्शन.

(वर्त्तमान तामुल्क) पहुंचे ।[1] ताम्रलिप्ति में दो वर्ष रह कर फाहियान एक व्यापारिक जहाज पर चढ़कर दक्षिण पश्चिम की ओर गया। चौदह दिन पश्चात वह सिंहलद्वीप पहुंचा। वहां से ९० दिन में जावा पहुंचा। वहां पांच मास रह कर फिर एक जहाज द्वारा 'सिङ्चाव' की ओर चल पड़ा। तीन मास तक तूफान के कारण भटकते रहने के पश्चात् इसका जहाज 'चाङ्काङ्' के किनारे लगा। वहां के शासक ने फाहियान का बहुत स्वागत किया और वह इसे अपने साथ सिङ्चाव ले गया। वहां से यह 'नानकिङ्' पहुंचा। स्वदेश पहुंचकर फाहियान ने सम्पूर्ण यात्रा अपने एक मित्र को सुनाई। उसने इसे लिखित रूप दे दिया। उन दिनों नानकिङ् में बुद्धभद्र नामक एक भारतीय पण्डित रहता था। उसके साथ मिलकर इसने उन ग्रन्थों का अनुवाद किया जिन्हें यह अपने साथ भारत से लाया था। फाहियान अपनी यात्रा के प्रारम्भिक स्थान पर लौटकर फिर नहीं पहुंच सका। वह नानकिङ् में बौद्धग्रन्थों का अनुवाद ही करता रहा। ८८ वर्ष की अवस्था में, जब यह किङ्चाव गया हुआ था, इसकी मृत्यु हो गई।

सुङ्-युन्

फ़ाहियान के पश्चात् सुङ्-युन् भारत आया। यह तुन्ह्वाङ् का रहने वाला था। तुन्ह्वाङ् छोटे तिब्बत का एक विशेष नगर है। ५१८ ई० में इसे उत्तरीय 'वी' वंश की महारानी ने पुस्तकें खोज लाने के लिये पश्चिम के देशों में भेजा था। सुङ्युन्, तान्ह्वाङ् से खोतन पहुंचा और वहां से यह उसी मार्ग द्वारा भारत आया जिससे फ़ाहियान आया था। भारत में यह गान्धार, तक्षशिला, पुरुषपुर और नगरवाह में रह कर ५२१ ई० में वापिस लौट गया। लौटते

१. इस समय मगध का राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था।

हुए यह अपने साथ १७५ ग्रन्थ तथा महायान धर्म की कुछ पुस्तकें चीन ले गया। अपने देश में जाकर सुङ्युन् ने एक यात्रा वृत्तान्त लिखा जो अब तक उपलब्ध होता है। सुङ्युन् के साथ लोयङ्ग से एक और भिक्षु भी आया था इसका नाम 'हुईसाङ्' था।

ह्वेन्त्साङ्

बहुत समय पश्चात्, जब चीन में थॉङ्वंश शासन कर रहा था, ह्वेन्त्साङ भारत आया। उस समय भारत में हर्षवर्धन राज्य कर रहा था। ह्वेन्त्साङ् का जन्म 'होनान्-फू' के समीप एक नगर में, ६०५ ई० में हुआ था। यह वह समय था, जब चीन में बौद्धधर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था, और हजारों भारतीय पण्डित बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में उलथा करने में व्यापृत थे। इसके बड़े भाई ने बचपन में ही भिक्षुव्रत धारण किया था। अपने भाई की देखादेखी यह भी शीघ्र ही भिक्षु बन गया। भिक्षु बन कर ह्वेन्-त्साङ् कुछ समय तक शिक्षा और अध्ययन के लिये चीन के विविध स्थानों में घूमता रहा। अन्ततोगत्वा 'चङ् गन्' (वर्त्तमान सि-नान्-फू) में रहने लगा। यहां रहते हुए इसके हृदय में भारत-यात्रा की, तथा भारत से उन बौद्धग्रन्थों को खोज लाने की, प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई, जिनका तब तक चीन में प्रचार न था। उस समय 'क्यू सूआ' चीन का सम्राट् था। ह्वेन्-त्साङ् तथा उसके अन्य कई साथियों ने उसके दरबार में उपस्थित होकर भारत की यात्रा करने के लिये आज्ञा और सहायता मांगी, परन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। कारण यह था कि इससे पहले सम्राट् को कई लड़ाईयां लड़नी पड़ी थीं, जिससे देश की आन्तरिक अवस्था बहुत शोचनीय हो गई थी। ह्वेन्-त्साङ के अन्य साथी तो राजाज्ञा न मिलने से हताश होकर बैठ गये, परन्तु उसने अपना विचार नहीं

बदला। उस समय वह २४ वर्ष का था। उसने राजाज्ञा की परवाह न करके ६२९ ई० के एक दिन भारत के लिये प्रस्थान कर दिया। उसके साथ दो साथी और थे। ये लोग 'लाङ्गजू' की ओर चले। वहां उन दिनों तिब्बत तथा दूसरे सुदूरवर्ती देशों के व्यापारी एकत्र होते थे। व्यापारियों ने ह्वेन्-त्साङ्ग का साहस देखकर तथा यात्रा का उद्देश्य सुनकर, बड़ी श्रद्धा प्रकट की और अपने पास से धन खर्च करके उसके लिये यात्रा का सामान एकत्र कर दिया। परन्तु बाधाओं ने इतने पर भी पिण्ड न छोड़ा। इस प्रदेश का शासक बहुत कठोर था। देश की राजनीतिक स्थिति के कारण उसने घोषणा कर रक्खी थी कि कोई भी मनुष्य प्रान्त से बाहर न जाए। ह्वेन्त्साङ्ग ने अपनी यात्रा का उद्देश्य उसे बताया और प्रार्थना की कि मुझे जाने दिया जाये, परन्तु उसने एक न सुनी। अन्ततः वह अपने साथियों के साथ रात को चोरी से निकल भागा। वह रात को चलता और दिन में किसी निर्जन स्थान में जा छिपता। इस प्रकार सौ मील चल चुकने पर, उसका घोड़ा मर गया। अब उसके सामने एक नई समस्या उपस्थित हो गई। सामने एक तीव्रवाहिनी नदी थी जिसके वेग में कोई नाव भी नहीं चल सकती थी। उस पार लान्सू प्रान्त का विशाल दुर्ग सिर उठाये खड़ा था। इस स्थान से कुछ आगे विशाल मरुस्थल था, जहां हरियाली का नाम भी नहीं था। उससे आगे का देश तुर्कों के आधीन था, जो पश्चिमीय देशों की कहानियों में 'औगर' के नाम से विख्यात थे, उन दिनों ये भयंकर उत्पात मचाते थे।

मार्ग के कष्टों का ध्यान करके ह्वेन्-त्साङ्ग कुछ हताश हो गया। वह कई मास तक वहीं पड़ा रहा। इतने में एक दिन प्रान्ताधीश का आज्ञापत्र भी उसे मिला जिसमें उसे शीघ्र ही राजदरबार में उपस्थित होने की आज्ञा थी, और लिखा था कि बिना हमारी आज्ञा के एक

पग भी आगे न बढ़ो। प्रान्ताधीश की आज्ञा ने उसे उत्तेजित कर दिया। अधिकारी से मिलकर उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि वह अपनी यात्रा कदापि स्थगित नहीं कर सकता। प्रान्ताधीश उसका तेज देखकर दङ्ग रह गया। परन्तु राजाज्ञा का पालन उसके लिये अनिवार्य था। अतः उसने संकेत से ह्वेन्-त्साङ्ग को कह दिया कि यदि जाना ही है तो शीघ्र चल दो। उसने तुरन्त ही दूसरा घोड़ा खरीदा और यात्रा प्रारम्भ कर दी। यहीं पर ह्वेन्-त्साङ्ग ने अपने दोनों साथियों को छोड़ दिया क्योंकि एक तो रुग्ण होगया था और दूसरा शक्तिहीन था। अब वह अकेला ही आगे बढ़ने लगा। आगे चल कर एक जंगली मनुष्य से भेंट हुई। बातचीत से पता चला कि वह उस प्रान्त के मार्गों से परिचित है। ह्वेन्-त्साङ्ग ने उसे अपने साथ ले लिया। उस जंगली मनुष्य ने उसे एक ऐसे व्यापारी से मिला दिया जो तुर्कों के देश में कई वार जा चुका था। वह व्यापारी एक बूढ़ा मनुष्य था। उसने रास्ते की कठिनाइयों का वर्णन करके ह्वेन्-त्साङ्ग को घर लौट जाने को कहा। परन्तु उसने वृद्ध को उत्तर दिया कि मैं जिस महान् उद्देश्य को लेकर घर से निकला हूं उसके सम्मुख जीवन तुच्छ है। या तो मैं अपनी यात्रा सफल कर के लौटूंगा या मर मिटूंगा। वृद्ध उसकी दृढ़ता देखकर प्रसन्न हुवा। उसने ह्वेन्-त्साङ्ग के घोड़े से अपना घोड़ा बदल लिया क्योंकि उसका घोड़ा उस मार्ग से कई वार जा चुका था। थोड़ी देर चलने के उपरान्त उसी तीव्रवाहिनी नदी के किनारे जा पहुंचे। इसे लांघना बड़ा कठिन कार्य था। वृद्ध ने एक तरीका सोचा। वह जंगल से वृक्षों की बड़ी बड़ी शाखायें तोड़ लाया और उन द्वारा, जहां का पाट थोड़ा था, वहां पुल बनाया। उसी पर छलांग मार कर दोनों अपने घोड़ों सहित पार हो गये, नदी पार कर दोनों आगे बढ़े। सूर्य्य अस्त होने पर उन्होंने एक साफ सुथरे स्थान पर डेरा डाला।

खा पीकर दोनों लेट गये। ह्वेन्-त्साङ् को अपने साथी पर विश्वास कुछ कम था। इस लिये वह उससे कुछ दूरी पर सतर्क होकर लेट रहा। कुछ रात बीतने पर उसे किसी के पांव की आहट सुनाई पड़ी। वह अभी जाग ही रहा था। तुरन्त उठ बैठा। उसने देखा— कि वही जंगली मनुष्य हाथ में नंगी तलवार लिये उस की ओर आरहा है। उसे देख ह्वेन्-त्साङ् ऊंचे स्वर से ईश्वर की प्रार्थना करने लगा। यह देख वह जंगली लौट गया। सम्भवतः वह ह्वेन्-त्साङ् को भयभीत करके लौटाना चाहता था।

दूसरे दिन प्रातः काल ही यात्रा प्रारम्भ हुई। आगे एक भयानक जंगल था। जंगली मनुष्य ने ह्वेन्-त्साङ् को फिर लौट जाने को कहा। परन्तु वह किसी तरह भी न माना। दोनों आगे बढ़े। रास्ता अत्यन्त दुर्गम था। हिंस्र पशुओं का भय था। जंगली मनुष्य ने अपना धनुष तान लिया। इसके बाद उसने ह्वेन्-त्साङ् को आगे बढ़ने को कहा। परन्तु रात वाली घटना के कारण वह ऐसा करने को उद्यत न हुआ। अन्त में उसके साथी ने भी जवाब दे दिया कि वह और आगे जाना नहीं चाहता। ह्वेन्-त्साङ् ने उसे प्रचुर धन्यवाद तथा घोड़ा देकर विदा किया।

अब उसने अकेले ही 'गोबी' की मरुभूमि में पग बढ़ाया। यह मरुस्थल संसार के बड़े मरुस्थलों में से है। मीलों घास या पौधे का नाम तक नहीं। इस पर वह रास्ता भी नहीं जानता था। कुछ दूर चलने पर वही विशाल दुर्ग आया। इसके समीप ही एक रेतीले टीले के पीछे उसने पड़ाव डाला और चमड़े की थैली लेकर पानी ढूंढने निकला। दुर्ग के पास पानी की एक झील थी। बड़ी सतर्कता से वह पानी भरने लगा। इतने में एक तीर सनसनाता हुआ उसके पास से निकल गया। वह थैली भर कर झील से बाहर होना ही चाहता था कि दूसरा तीर उसे छू कर निकल गया। उसने थैली

पृथ्वी पर रख कर चिल्लाना आरम्भ किया— "भाई मैं यात्री हूं। सम्राट् की आज्ञा लेकर आया हूं। मुझे मत मारो।" यह सुन कर सन्तरी उसे पकड़ कर अधिकारी के पास ले गये। उसने ह्वेन्-त्साङ्ग की यात्रा का उद्देश्य सुन कर उसकी बड़ी सेवा की। इसने भी उसे लौट जाने को कहा, परन्तु वह किसी तरह भी न माना। दूसरे दिन वह दूसरे दुर्ग के पास पहुंचा। यहां भी पानी का प्रश्न था। जलाशय ठीक दुर्ग के नीचे था। वह छिपता हुआ जलाशय के निकट पहुंचा। परन्तु दुर्ग रक्षकों की दृष्टि से अपने को किसी प्रकार भी न बचा सका। ज्योंही वह नीचे उतरा त्यों ही तीरों की वर्षा प्रारम्भ हुई। वह चिल्लाता हुआ बाहर निकला सैनिक लोग उसे पकड़ कर अध्यक्ष के पास ले गये। उसने ह्वेन्-त्साङ्ग का वृत्तान्त सुनकर उसके साहस की बड़ी प्रशंसा की और ठहरने आदि का प्रबन्ध कर दिया।

अगले दिन, पौ फटने से पूर्व ही उसने अपनी यात्रा फिर प्रारम्भ की आगे एक सूखे मैदान के अतिरिक्त कुछ दिखाई न देता था। घास का एक तिनका भी दृष्टिगोचर न होता था। इसी बीच उसकी पानी की थैली गिर गई और पानी बह गया। साथ ही वह मार्ग भी भूल गया। थक कर प्यासा ही वह एक स्थान पर लेट गया रात की ठण्डी हवा से कुछ थकावट दूर हुई। घोड़ा भी, जो प्यास के कारण मरा जा रहा था, हिनहिना कर उठ खड़ा हुवा। यह देख वह कुछ रात रहते ही चल पड़ा और प्रात: काल होने तक जलाशय पर पहुंच गया। वहां उसने दिन भर विश्राम किया। वहां से वह 'हामी' नगर गया। वहां एक मठ था। मठ में उसे बहुत आराम मिला। इस नगर के शासक ने जब उसके आगमन का समाचार सुना तो बड़े आदर से उसे बुला भेजा और राजप्रासाद के समीप ही ठहरने का प्रबन्ध कर दिया। यह शासक बहुत दिनों से एक ऐसे

विद्वान् धर्मोपदेशक की खोज में था जो उसकी प्रजा में धर्म का प्रचार करे। उसने धन आदि का प्रलोभन देकर ह्वेन्-त्साङ को रोकना चाहा। परन्तु वह न माना। तब उसने उसे कैद करने की धमकी दी। पर ह्वेन्-त्साङ ने भूख हड़ताल कर दी और चार दिन तक अन्न जल कुछ भी ग्रहण न किया। अन्त में राजमाता ने बीच में पड़ कर यह निर्णय किया कि ह्वेन्-त्साङ् १ मास तक वहां धर्म प्रचार करे और तदनन्तर वह जहां चाहे, चला जाए। उपायान्तर न देख कर उसने यह बात मान ली। मास की समाप्ति पर राजा ने बहुत से उपहार देकर उसे विदा किया। अगले राजाओं के नाम पत्र भी लिख दिये। कई मील तक रानी के साथ वह वह स्वयं उसे पहुंचाने गया। सेना की एक टुकड़ी भी राजा ने उसके साथ करदी। आगे वह एक दुर्गम पहाड़ी मार्ग से चला। रास्ते में डाकू मिले जिन्हें कुछ देकर उसने अपना पिंड छुड़ाया। फिर वह 'काशार' नाम राज्य में पहुंचा। यहां के राजा को उसके आने की सूचना पहले ही मिल चुकी थी। उसने बड़ी धूमधाम से उसका स्वागत किया और दो मास तक अपने पास रक्खा। क्योंकि उन दिनों भीषण हिमपात हो रहा था। ऋतु अनुकूल होने पर उसने बड़े समारोह से उसे बिदा किया। आगे का मार्ग बड़ा भीषण था। तुर्की डाकू दिन दहाड़े लूट लिया करते थे। परन्तु अब उसे डाकुओं का डर न था क्योंकि उसके पास पर्याप्त रक्षक थे। इस प्रकार घने वनों, ऊंचे पर्वतों और बर्फ के टीलों को पार करते हुए उसने कई सौ मील का मार्ग तय किया। मार्ग में कई भीषण तूफानों का सामना करना पड़ा। कई दिन तक कोई सूखी जगह न मिली जहां ठहर कर आराम करने या खाने पीने का प्रबन्ध कर सकते। मार्ग के इन कष्टों के कारण कई साथी रोगी हो गये और कई मर गये। यही दशा घोड़ों की थी।

कई सप्ताह पश्चात् ह्वेन-त्साङ् का दल पठानों के राज्य में पहुंचा। पठानों के सरदार ने उसका बड़ा आदर किया और ठहरने आदि का प्रबन्ध कर दिया। सायंकाल अतिथिसत्कार किया गया। ह्वेन-त्साङ् के लिए सरदार के आसन के समीप ही एक लोहे की चौकी रक्खी गई। शराब के प्याले पर प्याले उड़ने लगे। इसके पश्चात् नृत्य गीत प्रारम्भ हुआ। खाने के लिए उबले हुए मांस के टुकड़े लाये गये। परन्तु ह्वेन-त्साङ बौद्ध था, अतः उसके लिये निरामिष भोजन का प्रबन्ध किया गया। उसे रोटी, चावल, मलाई, दूध, खांड, अंगूर आदि वस्तुएं दी गईं। भोजन के उपरान्त सरदार ने भारत की निन्दा करते हुये उससे कहा कि वह वहां न जाये। परन्तु ह्वेनत्साङ्ग ने कहा कि वह तो बुद्ध की प्रेरणा से जा रहा है। उसका उद्देश्य पवित्र है, इसलिए उसे कोई कष्ट न होगा। कुछ दिन विश्राम करके उसने सरदार से विदा ली। सरदार कुछ दूर तक पहुंचाने के लिये स्वयं गया। कई दिन की यात्रा के पश्चात् वह 'समरकन्द' पहुंचा। वहां बौद्धधर्म विलुप्त हो चुका था। मन्दिर खाली पड़े हुए थे। उसने एक मन्दिर में डेरा किया। परन्तु वहां के निवासियों ने गरम लोहे फेंक कर उसे भगा दिया। जब राजा को पता चला उसने अपराधियों को कठोर दण्ड दिया। परन्तु ह्वेनत्साङ्ग के कहने पर राजा ने अपराधियों को छोड़ दिया। कुछ दिन वहां व्यतीत कर वह एक तङ्ग तथा अन्धकारपूर्ण घाटी में से होता हुआ ऑक्सस नदी के तट पर पहुंचा। वहां से जब वह आगे चलने लगा तो संयोगवश एक व्यक्ति उसे मिला जो बहुत दिनों तक भारत में रह चुका था। वह बौद्धधर्मावलम्बी था। अब ये दोनों एक साथ भारत की ओर चले। कुछ दिन पश्चात् 'बलख़' पहुंचे। यहां बौद्धधर्म का प्रचार बहुत था। अनेक मठ और स्तूप खड़े थे। यहां का शासक ह्वेन-त्साङ्ग के

आगमन की प्रतीक्षा पहले से कर रहा था। परन्तु शीघ्र ही भारत जाने की इच्छा से उसने राजा का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया। वह भयानक जंगलों और निर्जन घाटियों को पार करता हुआ आगे बढ़ने लगा। मार्ग में कई बार भीषण जन्तुओं का सामना करना पड़ा। नाना प्रकार की विपत्तियों को झेलता हुआ वह हिन्दुकुश पर्वत के समीप 'बामियान' नगर में पहुंचा। यह नगर उन दिनों बौद्धधर्म का केन्द्रस्थल समझा जाता था। यहां कई दिन ठहर कर हिन्दूकुश पर्वत को पार कर, काबुल नदी के किनारे किनारे चलता हुआ यह 'नगरहार' आया। यह आज भी 'नगर' नाम से विख्यात है। यह स्थान वर्त्तमान जलालाबाद के समीप स्थित है। यहां से पेशावर और पेशावर से चलकर सिन्ध नदी को पार कर तक्षशिला पहुंचा। तक्षशिला से काश्मीर गया। यहां ६३१-६३३ तक दो वर्ष एक विहार में अध्ययन में बिताये। काश्मीर के पश्चात् मथुरा और थानेश्वर होता हुआ भारत की राजधानी कन्नौज पहुंचा। यहां उस समय हर्षवर्धन राज्य करता था। भारतीय राजा ने चीनी यात्री का बहुत शानदार स्वागत किया। इसके स्वागत के लिये मण्डप और विहार बनवाये गये। हजारों भिक्षु, जैन और ब्राह्मण इस समारोह में एकत्र हुए। स्वागत के अतिरिक्त हर्ष ने द्रव्यादि से भी ह्वेन्-त्साङ् की बहुत सहायता की। इसके बाद अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, पाटलिपुत्र, गया, और राजगृह देखता हुआ नालन्दा पहुंचा। नालन्दा में इसने दो वर्ष तक संस्कृत और बौद्धसाहित्य का अध्ययन किया। तदनन्तर आसाम होते हुए यह ताम्रलिप्ति गया। यहां से चलकर यह उड़ीसा में से निकलता हुआ ६४० ई० में कांचीपुर (वर्त्तमान काञ्जीवरम्) आया। यहां से महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, सिन्ध, मुलतान और गजनी होता हुआ अपने पुराने रास्ते काबुल नदी के किनारे जा पहुंचा। यहां से पामीर की

पर्वतमाला को पार कर, काश्घर, खोतन होते हुए ह्वेन्-त्साङ् स्वदेश पहुंच गया। चीन पहुंचने पर राजा ने इसका राजकीय स्वागत किया। इसने अपने जीवन का शेषभाग भारत से लाये हुए ग्रन्थों का अनुवाद करने में व्यतीत किया। स्वदेश लौटने पर इसने अपना यात्रावृत्तान्त भी लिखा जो, 'पश्चिमीय देशों का इतिहास' नाम से प्रसिद्ध है। ६६४ ई० में ह्वेन्-त्साङ् परलोकगामी हुआ।

ईच्-चिङ्

ह्वेन्-त्साङ् की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही ईच-चिङ् नामका एक अन्य भिक्षु ६७१ ई० में भारत की ओर चला और ६७३ ई० में बंगाल के ताम्रलिप्ति बन्दरगाह पर उतरा, भारत आकर इसने नालन्दा विश्वविद्यालय में बहुत काल तक अध्ययन किया। यहां रहते हुए ईच-चिङ् ने चार सौ संस्कृत ग्रन्थों का ग्रह किया। जिनके श्लोकों का जोड़ पांच लाख था। तदनन्तर यह चीन लौट गया। लौटते हुए रास्ते में सुमात्रा में पेलम्बङ् में रहते हुए ईच-चिङ् ने एक ग्रन्थ लिखा जिसका नाम "नन्-है-ची-कुएइ-नै-फा चुअन" है। इसका अभिप्राय है—"दक्षिण सागर से स्वदेश भेजा हुआ बौद्ध अनुष्ठानों का इतिहास"। यह ग्रन्थ ईच-चिङ् ने तासिन् नामक एक चीनी भिक्षु के हाथ, जो उस समय चीन जा रहा था। ६९५ ई० में ईच-चिङ् स्वयं चीन लौटा। स्वदेश लौटने पर इसका बहुत स्वागत हुआ। वहां जाकर यह शिक्षानन्द, ईश्वर आदि नौ भारतीय पण्डितों के साथ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने लगा। इस काल में इसने ५६ ग्रन्थों का अनुवाद किया तथा पांच स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे जिनमें से एक इसका अपना यात्रा विवरण भी है। अपने वृत्तान्त में ईच-चिङ् भारत भ्रमण का प्रयोजन वर्णन करते हुए लिखता है—"६७० ई० में चीन की पश्चिमीय राजधानी 'चन्-अन्' में जब म व्याख्यान सुन रहा था, उस समय मेरे साथ दो तीन

भिक्षु बैठे थे। हम सबने गृध्रकूट जाने का निश्चय किया और बोधिद्रुम को देखने की इच्छा प्रकट की। परन्तु वे सब तो अपने निजू कारणों से मेरा साथ न दे सके और अपने अपने रास्ते चले गये। केवल 'शान्-हिङ्' ने ही इस यात्रा में मेरा साथ दिया। प्रणाम करने से पहले मैंने अपने गुरु 'हुई-ह्-सी' से इस प्रकार परामर्श मांगा—"हे पूज्य देव, मेरा सङ्कल्प लम्बी यात्रा करने का है। क्योंकि यदि मैं उसे देखूंगा जिसके दर्शन से मैं अभी तक वंचित हूं तो निश्चय ही मुझे लाभ होगा। किन्तु आप वयोवृद्ध हैं। इसलिये आपसे परामर्श लिये बिना मैं अपने संकल्प को पूरा नहीं कर सकता हूं मेरे गुरु ने मुझे इस प्रकार उत्तर दिया कि तुम्हारे लिये यह उत्तम अवसर है। यह दुबारा नहीं मिलेगा। मुझे ऐसे संकल्प को सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई है। तुम्हारे लौटने तक यदि मैं जीवित रहा तो तुम्हें प्रकाश फैलाते देख कर मुझे बहुत प्रसन्नता होगी। निःसंकोच जाओ। पीछे छोड़ी वस्तुओं की ओर मुंह तक न मोड़ो। संशय को बिल्कुल दूर कर दो। स्मरण रक्खो कि धर्म की समृद्धि के लिये प्रयत्न करना सचमुच बड़ा उद्योग है। प्रयाण से पूर्व मैं अपने मृतगुरु की समाधि पर पूजा करने के लिये गया। मैंने उसका सम्मान ऐसे किया मानो वह अब भी वहां उपस्थित हो। अपनी यात्रा का संकल्प सुना कर मैंने उससे आध्यात्मिक सहायता मांगी और मुझ पर किये उपकारों का ऋण चुकाने की इच्छा प्रकट की। ६७१ ई० के ग्यारहवें मास में एक ईरानी जहाज से मैंने पुण्यभूमि की यात्रा के लिये प्रस्थान किया। छः मास पश्चात् जहाज सुमात्रा पहुंचा। यहां कुछ दिन ठहर कर स्याम तथा बर्मा होते हुए मैं ६७३ ई० में ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह पर पहुंचा।"[1] लगभग पच्चीस वर्ष भारत में रहने के बाद ईच-चिङ् स्वदेश लौट गया। वहां जाकर इसने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

१. देखिये, त से फ तक 'ईत्सिङ् की भारत यात्रा' लेखक सन्तराम बी.ए.

भारतीय प्रचारकों की समयानुसार तालिका

काल	सीलोन	खोतन	चीन
ईसवी सन् से पूर्व	महेन्द्र, इत्तिय, उत्तिय, सम्बल, बद्दसाल और सङ्घमित्रा	अर्हतवैरोचन	कश्यपमातङ्ग और धर्मरक्ष
प्रथम शताब्दी में	×	×	आर्यकाल, श्रमण-सुविनय आदि
द्वितीय शताब्दी में	×	×	महाबल
तृतीय शताब्दी में	×	मन्त्रसिद्धि	धर्मपाल, धर्मकाल, कल्याणरत्न, कल्याण
चतुर्थ शताब्दी में	बुद्धघोष	×	×
पाँचवीं शताब्दी में	×	×	कुमारजीव, विमलाक्ष, धर्मप्रिय, बुद्धभद्र, गुणवर्मन, गुणभद्र धर्मजालयशस् आदि
छठी शताब्दी में	×	×	बोधिरुचि, बोधिधर्म, परमार्थ, धर्मरुचि गौतमप्रज्ञारुचि आदि
सातवीं शताब्दी में	×	×	जिनगुप्त और इसके साथी अतिगुप्त, नदि आदि
आठवीं शताब्दी में	×	बुद्धसेन	गौतमसिद्ध, गौदमार अमोघवज्र
नवमीं शताब्दी में	×	×	×
दसवीं शताब्दी में	×	×	सामन्त, मञ्जुश्री धर्मदेव
ग्यारहवीं शताब्दीमें	×	×	धर्मरक्ष, ज्ञानश्री

भारतीय प्रचारकों की समयानुसार तालिका

काल	जापान	तिब्बत	अरब
ईसवी सन् से पूर्व	×	×	×
प्रथम शताब्दी में	×	×	×
द्वितीय शताब्दी में	×	×	×
तृतीय शताब्दी में	×	×	×
चतुर्थ शताब्दी में	×	×	×
पञ्चम शताब्दी में	×	×	×
छठी शताब्दी में	होदो[1]	×	×
सातवीं शताब्दी में	×	×	×
आठवीं शताब्दी में	बुद्धसेन	शान्तरक्षित पद्मसम्भव कमलशील	माणिक्य और बहला
नौवीं शताब्दी में	×	जिनमित्र, शीलेन्द्रबोधि दानशील आदि	×
दसवीं शताब्दी में	×	×	×
ग्यारहवीं शताब्दी में	×	अतिशा, भूमिगर्भ, भूमिसंघ आदि	×

१. यह भारतीय पण्डित का जापानी नाम है।

समसामयिक ऐतिहासिक व्यक्तियों की सारिणी

काल	भारत	सीलोन	खोतन	चीन	कोरिया	जापान	तिब्बत	अरब
५६७ ई०पू०	बुद्ध		×	कनफ्यूशस				सरगन
२७२ ई०पू०	अशोक	देवानाम्प्रियतिष्य	वीरान पड़ा था ।	शीह्वाङ् ती				सिकन्दर के साम्राज्य का अङ्ग
३३० ई०	समुद्रगुप्त	महासेन						
६०६ ई०	हर्ष			थाईसुङ्			स्रोङ-चन्-गम-पो	मुहम्मद

स्मरणीय-तिथियां

घटना	तिथि
भारत	
भगवान् बुद्ध का जन्म	५६७ ई० पूर्व
भगवान् बुद्ध का निर्वाण	४८७ ई० पूर्व
प्रथम बौद्धसभा	४८७ ई० पूर्व
द्वितीय बौद्धसभा	३७८ ई० पूर्व
तृतीय बौद्धसभा	२४३ ई० पूर्व
अशोक का राज्यारोहण	२७२ ई० पूर्व
विविध देशों में प्रचार का उपक्रम	२४३ ई० पूर्व
सिंहलद्वीप	
देवानाम्प्रियतिष्य का राज्यारोहण	२४५ ई० पूर्व
महेन्द्र का लंका-प्रयाण	२४३ ई० पूर्व
संघमित्रा का लंका-प्रयाण	२४१ ई० पूर्व
महेन्द्र की मृत्यु	१९९ ई० पूर्व
संघमित्रा की मृत्यु	१९८ ई० पू०
लंका में पोर्चुगीज़ों का आगमन	१५०५ ई०
लंका में डच लोगों का आगमन	१६०२ ई०
लंका पर अंग्रेजों का आक्रमण	१७९५ ई०
खोतन	
खोतनराज्य की स्थापना	२१० ई० पूर्व
खोतन के प्रथम राजा विजयसम्भव का राज्यारोहण	५८ ई० पूर्व
खोतन में बौद्धधर्म का प्रवेश	५३ ई० पूर्व
खोतन में अर्हत वैरोचन	५३ ई० पूर्व
खोतन में फाहियान	४०० ई०
खोतन में सुङ्-युन्	५१९ ई०

स्मरणीय-तिथियां

घटना	तिथि
खोतन में हुवेन-त्साङ्	६४४ ई०
खोतन से भिक्षुओं की हिज़रत	१००० ई०
खोतन पर यूसुफकादरखां का आक्रमण	१००० ई०
चीन	
चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश	६५ ई० पू०
चीन में कश्यपमातङ्ग और धर्मरत्न	६५ ई० पू०
चीन में गुणवर्मन्	४३१ ई०
चीन में गुणभद्र	४३५ ई०
चीन में बोधिरुचि	५२० ई०
चीन में परमार्थ	५२६ ई०
चीन में हिन्दु तिथिक्रम	७१४ ई०
चीन में धर्मदेव	६७३ ई०
चीन में अन्तिम भारतीय पण्डित—ज्ञान श्री	१०५३ ई०
चीन पर मङ्गोलों का प्रभुत्व	१२८०से१३६८ई०तक
चीन में मिङ् वंश का शासन	१३६८से१६४४ई०तक
चीन में मंचू लोग	१६४४से१९१२ई०तक
चीन में प्रजातन्त्र की स्थापना	१९१२ ई०
कोरिया	
कोरिया में बौद्धधर्म का प्रवेश	३६६ ई०
कोरिया पर जापानी प्रभुत्व	१९१० ई०
जापान	
जापान में बौद्धधर्मप्रवेश का प्रथम प्रयास	५२२ ई०
जापान में बौद्धधर्मप्रवेश का द्वितीय प्रयास	५५२ ई०
जापान में कुदारा के राज्य का दूतमण्डल	५५२ ई०
जापान के अशोक-शो-तो-कु-ताईशी का का उपराज बनना	५९३ ई०
शो-तो-कु-ताईशी की मृत्यु	६२१ ई०
जापान की सर्वप्रथम स्थायी राजधानी-नारा-की स्थापना	७१० ई०
जापान में बुद्धसेन	७३६ ई०

स्मरणीय–तिथियां

घटना	तिथि
मियेको की स्थापना	७६४ ई०
घन-ग्यो-ताईशी या साईचो-का जन्म	७६७ ई०
घन-ग्यो-ताईशी की मृत्यु	८२२ ई०
कोबो-ताईशी या कोकई का जन्म	७४४ ई०
कोबो ताईशी की मृत्यु	८३५ ई०
कामाकुरा की स्थापना	११८६ ई०
होनेन् का जन्म	११३३ ई०
होनेन् की मृत्यु	१२१२ ई०
निचिरेन् का जन्म	१२२२ ई०
निचिरेन् की मृत्यु	१२८२ ई०
जापान पर कुबलेईखां का आक्रमण	१२८१ ई०
तोकुगावा वंश का अभ्युदय	१६०० ई०
तोकुगावा वंश का पतन	१८६८ ई०
मेईजी युग का प्रारम्भ	१८६८ ई०

तिब्बत

तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रवेश	६४१ ई०
भारत में थोनमी-सम्भोट	६३२ ई०
तिब्बत में शान्तरक्षित	७४७ ई०
तिब्बत में पद्मसंभव	७४७ ई०
तिब्बत में दीपङ्करश्रीज्ञान अतिशा	१०३८ ई०
तिब्बत पर मंगोल आधिपत्य	१२०६ ई०
तिब्बत का प्रथम पोप	१२७० ई०
प्रथम दाले-लामा	१६४० ई०

अरब

हज़रत मुहम्मद का जन्म	५७० ई०
हज़रत मुहम्मद की मृत्यु	६३२ ई०
ख़लीफा हारूं रशीद का राज्यारोहण	७८६ ई०
ख़लीफा हारूं रशीद की मृत्यु	८०६ ई०

सहायक ग्रन्थों की सूची

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम
Ancient Khotan I and II Part	Stein
अरब और भारत के संबन्ध	बाबू रामचन्द्र वर्मा
Budhist Records of the Western World	Beal
बौद्धकालीन भारत	जनार्दन झा
Budhist Monuments in China	Daijo Tokiwa
भारतीय इतिहास की रूपरेखा	प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार
Chinese Budhism	Edkins
Collection of Antiquities From Central Asia.	A. F. Rudoll Hoernle
Early History of India	V. A. Smith
फाहियान	जगमोहन वर्मा
Hinduism and Budhism Part III	Eliot
History of Japanese Budhism	Masaharu Anesaki
History of India	Eliot
India and China	Prabodh Chandra Bagchi
Innermost Asia I, II, III and IV Vols.	Stein
Indian Teachers of China	Phanindra Nath Bose
Japan from the Old to the New	Robert Grant Webster
जापान	राहुल सांकृत्यायन
Lamaism	Waddell
Life of the Budha	Rockhill
Mahavansa	Tornour
Manual of Indian Budhism	H. Kern
Medieval Researches from Eastern-Asiatic Resources	

सहायक ग्रन्थों की सूची

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम
मौर्य साम्राज्य का इतिहास	प्रो० सत्यकेतु विद्यालंकार
Ruins of Desert of Cathay I and II	Stein
Ser India I, II, III and IV vols	Stein
The Pilgrimage of Budhism and a Budhist pilgrimage	James, Bissett Pratt.
The Creed of Holy Japan	Arthur Lloyd
तिब्बत में बौद्धधर्म	राहुल सांकृत्यायन

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका